SADACHAR-DARPAN

A Text-Book of Moral Instruction

BY

Rai Sahib Pt. R. P. DWIVEDI,

B. A., Sahitya-ratna,

PRINCIPAL,

K. Hitkarini High School

JUBBULPORE.

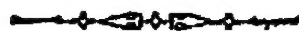
—:o:—

Approved for use in schools
the Education Department
of Central Provinces,
United Provinces,
and the Punjab.

चौथा संस्करण,

१००० प्रतियाँ,

जुलाई, १९२५.



प्रकाशक ने बाबू बालगोविन्द गुप्त के प्रबन्ध से शुभचिन्तक प्रेस में मुद्रित कराके प्रकाशित किया।

मूल्य पक्की जिल्द का २)



पुस्तक मिलने का पता—

मिश्र-बन्धु-कार्यालय,
जबलपुर।

समर्पण ।

बेटी तारा !

तुम इस पुस्तक-रूपिणी अपनी भगिनी के जन्म-काल की प्रतीक्षा करते २ ही इस असार संसार को त्याग, गत अनन्त चतुर्दशी के दिन, अनन्त भगवान् की सुखद गोद में विश्राम करने को प्रस्थान कर गईं। जब तुम्हारी बूढ़ी बुवा या मैं इस पुस्तक में लिखी हुईं पौराणिक कथाओं को तुम्हें सुनाया करता था तो तुम कहा करती थीं "कि काकाजी ! इन्हें पुस्तक-रूप में छपवा डालो।" हाय ! पुस्तक तो छप चुकी; पर मैं इसे तुम्हारे सुकोमल हाथों में न रख सका; अतएव तुम्हारी पवित्र आत्मा को समर्पण कर अपना सन्तोष किये लेता हूँ।

कार्तिक शुक्ल ५ मी,	तुम्हारा दग्ध-हृदय पिता,
सम्वत् १९७३.	ग्रन्थकार ।

विषयानुक्रमणिका ।





आत्म-गत कर्त्तव्य ।

अपने से श्रेष्ठों के प्रति कर्त्तव्य।

बराबरी-वालों के प्रति कर्त्तव्य ।

पाठ	विषय		पृष्ठ-संख्या

अपने से छोटों के प्रति कर्त्तव्य।

पाठ | विषय | पृष्ठ-संख्या

विविध विषय।

प्रथम संस्करण की भूमिका।

मेरा यह अटल सिद्धान्त है कि जब तक पाठशालाओं में आचार-नीति-शिक्षा न दी जाने लगेगी जब तक हमारे प्यारे बालकों का चरित्र-सङ्गठन पूर्ण रीति से न हो सकेगा और इसके न होते हमारी पाठशालाओं की शिक्षा अधूरी ही रहेगी। यह मैं मानता हूँ कि नैतिक सिद्धान्तों के ज्ञानमात्र से चरित्र-सङ्गठन नहीं हो जाता, इसके लिये अभ्यास की बहुत बड़ी आवश्यकता है; पर यदि हमारे बालकों को कर्त्तव्याकर्त्तव्य का ज्ञान ही न होने पावे तो फिर अभ्यास की आशा ही क्या हो सक्ती है। मेरा दृढ़ विश्वास है, और यह अनुभव सिद्ध भी है, कि बालकों तथा नवयुवक विद्यार्थियों के सन्मुख कथा-कहानियों वा जीवन-चरित्रों के रूप में अनेक नैतिक गुणों का बार २ लाना अत्यन्त लाभकारी होता है। ऐसा करने से और नहीं तो बालकों के सन्मुख सदाचार के उच्चादर्श तो आते हैं और जब उनसे कोई अपराध हो जाता है तो शिक्षक उन्हें किसी महापुरुष के जीवन की घटना विशेष का स्मरण दिलाकर भविष्यत् में उस अपराध से बचने का उपदेश तो कर सक्ता है।

कविवर लाँग फैलो बहुत ठीक कहते हैं:—

"भद्रजनों के उत्तम जीवन, उच्च स्वर से कहैं पुकार।
तुम भी अपना जीवन जग में कर सक्ते हो उसी प्रकार॥
जग में काल मरुस्थल-सम है, जिसपर उनके पैर-निशान।
उनपर डग रखते जो जाओ, पाओगे तुम यश औ मान॥"

यह मैं मानता हूँ कि चरित्र-सङ्गठन का सारा भार शिक्षक ही पर कदापि नहीं रक्खा जा सक्ता, इसमें कुटुम्ब और समाज के कर्त्तव्य का भाग शिक्षक के भाग से कहीं अधिक है; क्योंकि बालकों का अधिकांश

समय इनके बीच में रहकर व्यतीत होता है। चरित्र-सङ्गठन के महत्व-पूर्ण कार्य्य में शिक्षक की अपेक्षा इन सबका उत्तर-दायित्व अवश्य ही अधिक है। सच कहा है:—

"मातृमान् पितृमान् आचार्य्यमान् पुरुषो भवेत्"।

इससे सिद्ध होता है कि माता, पिता और आचार्य्य ये ही तीन पुरुष को बनाते अर्थात् उसके चरित्रों का सङ्गठन करते हैं। इनमें से एक भी अपना कर्त्तव्य न करे तो चरित्र-सङ्गठन का कार्य्य अधूरा रह जाता है। फिर भी देखिये, इन तीनों के नामोल्लेख का क्रम भी किस प्रकार रक्खा है। माता का उत्तर-दायित्व सबसे अधिक होने के कारण उसका नाम सर्व्व-प्रथम रक्खा है और फिर पिता के नाम के पश्चात् शिक्षक का नाम है। तिसपर यदि माता-पिता अज्ञानता-वश अपने कर्त्तव्य से विमुख हो जायँ तो बालकों के चरित्र-सङ्गठन का सारा उत्तर-दायित्व शिक्षक के ऊपर ही पड़ता है। खेद की बात है कि हमारे देश की वर्त-मान स्थिति ऐसी ही हो रही है कि यदि शिक्षक भी अपने कर्त्तव्य की अवहेलना कर बैठें तो बालकों के चरित्र-सङ्गठन की ओर ध्यान देने वाला कोई न रह जाय। और, हो भी तो ऐसा ही रहा है।

इस ग्रन्थ के लिखने से हमारा प्रयोजन केवल इतना ही है कि शिक्षकों को आचार-नीति-शिक्षा का दिग्दर्शन करा दें और इस प्रकार की मौखिक शिक्षा की कुछ थोड़ीसी सामग्री एकत्रित कर दें। ग्रन्थ के बहुत बढ़ जाने के भय से हमने दृष्टान्तों की संख्या अधिक नहीं रक्खी। अब यदि शिक्षक-गण मन में रक्खें तो रामायण, महाभारत, बैबिल, कुरान, बौद्धसाहित्य, ज़ंदावस्ता, जैनसाहित्य आदि धर्म्म-ग्रन्थों से प्रचुर सामग्री एकत्र कर सक्ते हैं। वैसे तो इतना ही भाग यदि उत्तम रीति से पढ़ा दिया जाय, तो बहुत है।

आचार-नीति-शिक्षा देने की उत्तम पद्धति यह है कि पाठक किसी विशेष नैतिक गुण को लेकर उसकी दृष्टान्त-रूपिणी कोई कथा या

आख्यान मनोहर भाषा में कहे और विद्यार्थियों को सुनावे। सुनाने का ढंग जितना मनोरञ्जक होगा उतना ही अच्छा प्रभाव श्रोताओं के हृदयों पर पड़ेगा। कथा कहती बार विद्यार्थियों को यह न प्रकट न होने पावे कि उपदेश देने के लिये ही शिक्षक ने यह कहानी कही है, बल्कि कहानी इस रीति से कही जाय कि उसके प्रधान नायक तथा अन्य पात्रों के कार्य्यों तथा विचारों द्वारा उस गुण की उपयोगिता श्रोताओं के हृदय-पटल पर अङ्कित हो जाय।

उत्तम रीति से कथा कहने के पश्चात् शिक्षक उस विषय पर विद्यार्थियों से बातचीत करे और उसमें कई ऐसे प्रसंग लावे जिनसे विद्यार्थियों को बोध हो जाय कि ऐसे प्रसंग आने पर उन्हें किस प्रकार का आचरण करना चाहिये। इसी वार्तालाप द्वारा तद्विषयक नैतिक सिद्धान्तों का स्पष्टी-करण भी कर दिया जाय जो इस पुस्तक में पाठ के आरम्भ में ही स्थान २ पर दिया गया है। विद्यार्थी चाहे पीछे से पुस्तक पढ़ें; पर कक्षा में पढ़ाकर विषय समझाना इतना लाभकारी नहीं है। शिक्षक के मुख से सुनकर उपदेश ग्रहण करने से अधिक लाभ होता है।

स्मरण रहे कि बालकों की अवस्था का विचार रखकर किसी विषय का उपदेश करना उचित है। १० वा १२ वर्ष के विद्यार्थियों को ब्रह्मचर्य्य का उपदेश न करना ही अच्छा होगा और उनके सन्मुख देश वा राज-भक्ति के जटिल प्रश्न उठाने से लाभ नहीं हो सक्ता; क्योंकि वे ऐसे विषयों को समझ नहीं सक्ते। हाँ, साधारण राज-भक्ति एवं देश-भक्ति के प्रति उनका प्रेम उत्पन्न करना शिक्षक का कर्त्तव्य है। कर्त्तव्याकर्त्तव्य, पुण्य-पाप आदि कठिन एवं दुर्बोध प्रश्नों की मीमांसा जिन प्रारम्भिक पाठों में की गई है उन्हें नीचे की कक्षाओं में पढ़ाने से कोई लाभ नहीं हो सक्ता; क्योंकि कच्ची बुद्धि के बालक उन्हें हृदयङ्गम नहीं कर सक्ते। इस प्रकार दाम्पत्य-सम्बन्धी सद्गुणों का विस्तृत उपदेश भी समयानुकूल न होने से व्यर्थ जायगा। योग्य अनुभव-शील शिक्षक भिन्न २ कक्षाओं के

लिये भिन्न २ शिक्षण-क्रम (सिलेबस) बनाकर आचार-नीति-शिक्षा का आयोजन अपनी समग्र पाठशाला में कर सक्ते हैं जिसके लिये "सदाचार-दर्पण" में प्रचुर सामग्री रख दी गई है।

यह पुस्तक मैंने विशेष कर हिन्दू बालकों के लिये लिखी है और इसीसे दृष्टान्तादि हिन्दू-धर्म-ग्रन्थों से ही अधिक लिये हैं। मेरी ऐसी धारणा है कि बालकों के परम्परा-गत धार्मिक सिद्धान्तों की नींव पर आचार-नीति का भवन उठाने से वह अधिक पक्का होता है। हिन्दू बालकों के चित्त पर रामायण, महाभारतादि धर्म्म-ग्रन्थों से लेकर जो दृष्टान्त दिये जाते हैं उनका जितना विलक्षण प्रभाव उनके हृदयों पर पड़ता है उतना अन्य धर्म्मों से लिये गये दृष्टांतों का नहीं पड़ता। हाँ, पहिले अपने धर्म्म-ग्रंथों के दृष्टांत देकर फिर अन्य-धर्म्म-ग्रंथों के दिये जाँय तो कोई हानि नहीं, वरन ऐसा करने से मूल सिद्धांत की पुष्टि ही होती है। साथ ही, यह भी सिद्ध हो जाता है कि भिन्न २ मत-मतांतरों में चाहे बाह्य विभिन्नता कितनी ही क्यों न दीख पड़े; पर वास्तव में सब धर्म्मों एवं मतमतांतरों के मूल नैतिक सिद्धांतों में समानता है; अतएव इतर धर्म्मावलम्बियों के मत का आदर उतना ही करना चाहिये जितना मनुष्य अपने मत का आदर करता है। इस प्रकार अपने माता-पिता के मत के अनुसार आचार-नीति का उपदेश अधिक प्रभावशाली होता है। और, यह स्वाभाविक भी है; क्योंकि हिंदू बालकों के हृदय में श्रीराम, कृष्ण, अर्जुनादि अवतारों एवं महापुरुषों के प्रति जो श्रद्धा-भक्ति होती है वह प्रभु यीशु, हज़रत मूसा आदि के प्रति छोटी अवस्था में नहीं हो सक्ती, चाहे आगे कभी ज्ञान एवं बुद्धि के परिपक्व होने पर अधिक उदार भाव आ जाने से हो जाय। यह औदार्य भी मानसिक शक्तियों के पूर्णतः विकसित एवं परिष्कृत होने का परिणाम है जिससे वह औदार्य्य बालक तो बालक, नवयुवकों में भी नहीं रहता। इसी प्रकार ईसाई, मुसलमान, यहूदी, प्रभृति मतावलम्बियों के बालकों के लिये आचार-नीति के दृष्टांत बैबिल, कुरान, तौरेत, ज़बूर प्रभृति धर्म्म-ग्रंथों से लेना उचित है।

नैतिक सिद्धांतों एवं सद्गुणों का मौखिक उपदेश एवं तद्विषयक ग्रंथों का पठन-पाठन आचार-नीति-शिक्षा का एक प्रधान अंग तो अवश्य है, पर इतना ही करके बैठ रहना भी उचित नहीं है। नैतिक आदर्शों एवं सिद्धांतों को भलीभाँति हृदयङ्गम कराकर उनका अभ्यास भी कराते रहना उचित है। सत्य-भाषण, कर्त्तव्य-पालन, स्वार्थ-त्याग, परोपकार, भूत-दया, उदारता आदि विषयों का शाब्दिक ज्ञान-मात्र हो जाने से नहीं, वरन इन सद्गुणों के अनुसार कार्य्य करने से मनुष्य सदाचारी बनता है; अतएव पाठकों को चाहिये कि अपने विद्यार्थियों को इन सद्गुणों का अभ्यास कराते जाँय। कक्षा में तथा खेल के मैदान में अभ्यास के लिये, प्रति दिन क्या प्रति क्षण, अनेक प्रसंग आ जाते हैं जिनका ध्यान रखने से शिक्षक-गण नैतिक गुणों का बहुत कुछ अभ्यास करा सक्ते हैं। साथ ही, सदाचारी बनाने में सबसे बढ़कर साधन तो शिक्षक का आचरण है जिसके शुद्ध न होने से उसका सारा उपदेश व्यर्थ जाता है; और यदि वह शुद्ध हुआ तो बिना उपदेश के भी उसका थोड़ा बहुत प्रभाव पड़ता ही है।

आज दिन हमारे देश में गम्भीर परिवर्तन हो रहा है। जन-समाज-रूपी समुद्र में बड़ा क्षोभ दिखाई दे रहा है। पाश्चात्य सभ्यता के आधार पर एक नवीन प्रकार की सभ्यता का उदय हो रहा है। जिस प्रकार कौमार से पार हो तरुणावस्था में पग रखती बार प्रत्येक नवयुवक के जीवन का मार्ग अत्यंत कंटकाकीर्ण होता है और सत् वा असत् जिस मार्ग को वह ग्रहण कर लेता उसी पर जन्म भर चलता है उसी प्रकार साम्प्रत हमारे भारतीय समाज की भी स्थिति है। अब हम प्राचीन सभ्यता की अनेक बातें छोड़ नयी पाश्चात्य सभ्यता के अंगों को अपना रहे हैं जिसका परिणाम हम भारतीयों के लिये सुखद भी हो सक्ता है और दुःखद भी। ऐसे महत्त्व-पूर्ण अवसर पर बालकों के अभिभावकों तथा शिक्षकों का परम कर्त्तव्य है कि वे उन्हें सन्मार्ग से विचलित होने से बचावें, और उनके सदाचरण का ध्यान सदैव रक्खें। ऐसे परिवर्तनशील समय में

आचार-नीति-शिक्षा तथा उनके चरित्रों का सम्यक् सङ्गठन ही उन्हें सन्मार्ग में अटल रख सकता है।

हर्ष की बात है कि अब आचार-नीति-शिक्षा का महत्व प्रायः सभी गण्यमान्य सत्पुरुष एवं उच्च कर्म्मचारी स्वीकार करने लगे हैं और यदि मत-भेद है तो धर्म्म-शिक्षा के विषय में है, न कि नीति-शिक्षा के। श्रीमान् लॉर्ड मिन्टो, लार्ड हार्डिङ्ग प्रभृति शासकों ने भी मुक्त कण्ठसे इसकी आवश्यकता स्वीकार की है और सरकार ने इस विषय पर सर्व्व-साधारण की सम्मति अवगत करने के लिये प्रयत्न किया है। विलायत में आचार-नीति-शिक्षा-समिति (Moral Instruction League) ने सभ्य जगत् के अनेक प्रभाव-शाली नेताओं की सम्मतियाँ एकत्र करके अपना एक वृहत् कार्य्य-विवरण प्रकाशित किया है। इसी समिति के मंत्री मिस्टर गोल्ड को बम्बई प्रांत की सरकार ने आमंत्रित करके उस प्रांत में शिक्षकों के सन्मुख आचार-नीति-शिक्षा के विषयों में आदर्श पाठ दिलवाये थे। इन सब घटनाओं से आचार-नीति-शिक्षा के सम्बन्ध में विद्वानों तथा शिक्षा-शास्त्र-विशारदों के मत का पता लगता है।

इस पुस्तक के लिखने में मुझे सेन्ट्रल हिन्दू कालेज, बनारस, की सनातन-धर्म-पुस्तक-माला तथा पं० द्वारकाप्रसाद चतुर्वेदी लिखित ग्रंथों से बहुत कुछ सहायता मिली है जिसके लिये मैं उन लेखकों का आभारी हूँ। मि० गोल्ड-रचित " Youths' Noble Path" से भी मुझे कुछ सामग्री प्राप्त हुई है। मैं स्थानीय हितकारिणी सभा के सुयोग्य सभापति महोदय दीवान बहादुर बिहारीलाल ख़ज़ानची का तथा आजन्म शिक्षा-प्रचार-प्रेमी मंत्री बाबू अम्बिकाचरण बनर्जी का भी परम कृतज्ञ हूँ। आपने मेरे प्रस्ताव को हितकारिणी सभा से स्वीकार कराके हि० स० हाई स्कूल में आचार-नीति-शिक्षा का प्रचार किया है।

यह पहिला ही अवसर है जब मैं ग्रंथ-कर्ता के रूप में सर्व-साधारण के सन्मुख उपस्थित होता हूँ, सो यदि मेरी सेवा स्वीकृत हुई तो मैं उससे विमुख न होऊँगा।

रघुवरप्रसाद द्विवेदी।

चतुर्थ संस्करण की भूमिका।

यह देख मुझे विशेष हर्ष है कि इस पुस्तक "सदाचार-दर्पण" के चतुर्थ संस्करण का भी समय आ गया जिससे स्पष्ट है कि पुस्तक की उपयोगिता स्वीकृत की गई है। गत वर्ष "सदाचार-दर्पण" मध्यप्रदेश की हाई स्कूल सार्टीफिकेट परीक्षा के लिये पाठ्य ग्रन्थ भी चुना गया है, जिसके लिये मैं बोर्ड का आभारी हूँ।

इस बार मैंने ग्रंथ की भाषा में इधर-उधर कई संशोधन करके कुछ अंश जोड़ा और कुछ घटाया भी है और ग्रंथ को अधिक उपयोगी बनाने का प्रयत्न किया है।

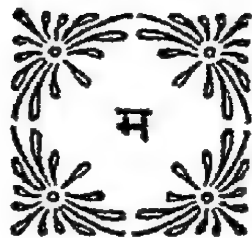
मैं मिश्र-बन्धु-कार्य्यालय, दीक्षितपुरा, जबलपुर, के साहित्य-शास्त्री पं० नर्म्मदाप्रसाद मिश्र, बी० ए०, विशारद का विशेष आभारी हूँ। आपने ही तृतीय एवं चतुर्थ संस्करण प्रकाशित करके मेरी बहुत कुछ सहायता की है।

रघुवरप्रसाद द्विवेदी।

सदाचार-दर्पण।

पाठ १.

कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य की परीक्षा।



मनुष्य का क्या कर्त्तव्य है अर्थात् किन २ कार्य्यों को करना और किन २ कार्य्यों को न करना उसका धर्म्म है—इस विषय का विवेचन जिस शास्त्र में किया जाता है उसे आचार-नीति-शास्त्र कहते हैं। आचार-नीति का सम्बन्ध मनुष्य की चाल-चलन से है। जिस प्रकार के आचार से मनुष्य का अपना तथा अपने से सम्बन्ध रखनेवाले और और लोगों का यथार्थ लाभ होता है वह अच्छा आचार कहलाता है। "आचारः प्रथमो धर्म्मः" अर्थात् आचार ही हमारा सर्व्व-प्रथम अथवा सर्व्व-श्रेष्ठ कर्त्तव्य है। जिस कार्य्य के करने से दूसरों को हानि पहुँचना सम्भव है उसे करनेवाले को यथार्थ लाभ हो ही नहीं सक्ता। यदि कोई चाहे कि दूसरों को हानि पहुँचाकर मैं अपना लाभ कर लूँ तो यह निरी मूर्खता है। जिस कार्य्य से किसी दूसरे निरपराध मनुष्य को तनिक भी हानि पहुँचती हो उसके करनेवाले को अन्त में हानि ही उठानी पड़ती है। चाहे उसे कुछ समय के लिये रुपये-पैसे आदि का लाभ भले ही हो जाय; पर ऐसा करके उसके चरित्र-भ्रष्ट हो जाने से अन्त में हानि ही होती है। जो मनुष्य इस सिद्धान्त के अनुसार कि सबके लाभ में हमारा लाभ और एक-दो की हानि में भी हमारी

हानि है अपने सब कार्य्य करता है वही सच्चा नीतिज्ञ और सदाचारी बन सक्ता है। जिस कार्य्य में तनिक भी स्वार्थ की गन्ध है वह कार्य्य उत्तम नहीं हो सक्ता।

इसका कारण? सबके हित में हमारा हित क्यों है? उत्तर यह है कि परमेश्वर ने यह संसार किसी विशेष उद्देश्य से रचा है। उसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये उसने अनेक नियम बनाये हैं; और उसकी यही इच्छा है कि उन नियमों के अनुकूल ही मेरी सृष्टि का सारा कार्य्य चले। बस जिन कार्य्यों को करने से ईश्वर के बनाये हुए नियमों का पालन हो और संसार के ठीक रीति से चलने में बाधा न पड़े वे ही कार्य्य अच्छे कहलाते हैं। उन कार्य्यों को करना मनुष्य का कर्त्तव्य अथवा धर्म्म है और उनको न करना अथवा उनके विरुद्ध कुछ करना अधर्म्म या पाप कहलाता है। और भी, जिन कार्य्यों के करने से दूसरों के साथ प्रेम, मैत्री, वा मेल उत्पन्न हो वे अच्छे, और जिनसे वैर, विरोध वा फूट पैदा हो वे बुरे हैं। जिन कार्य्यों के करने से दूसरों को व्यर्थ दुःख हो वे कदापि अच्छे नहीं हो सक्ते; पर दूसरों को सुख देने वाले कार्य्य भी सब अंशों में अच्छे नहीं होते। इस सिद्धान्त का भेद आगे पढ़ने से खुलेगा। परमात्मा की इच्छा यही दीखती है कि अन्त में सब प्राणी सुखी हों। प्रत्येक मत (मज़हब) के माननेवाले इस अन्तिम सुख को मुक्ति, मोक्ष, निर्वाण, नजात, सेलवेशन (Salvation) आदि नामों से पुकारते हैं। सारांश यह कि जिन कार्य्यों के करने से मनुष्य इस अन्तिम सुख को पा सक्ता है और जिनसे ईश्वरेच्छा पूरी होती है वे ही मनुष्य के "कर्त्तव्य" हैं और "पुण्य-कार्य्य" कहलाते हैं और उनके विरुद्ध कर्म "अकर्त्तव्य" अथवा "पाप" हैं।

इस प्रकार अच्छे कार्यों का नाम सदाचार और उनसे विरुद्ध बुरे कर्मों का नाम दुराचार है। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि अन्त में सदाचार से सुख और दुराचार से दुःख होता है। पर, इस संसार में यह भी देखने में आता है कि कई मनुष्यों की दशा इसके विपरीत होती है, अर्थात् कई सदाचारी सज्जनों का जीवन दुःखमय और दुराचारियों का सुखमय देखने में आता है। पर स्मरण रहे कि किसी न किसी दिन इसी जन्म में दुराचारी घोर विपत्ति में पड़ ही जाता है। इसके सिवाय, वह चाहे ऊपर से कितना ही सुखी क्यों न दीखता हो; पर उसके मन पर चिन्ता, ईर्ष्या, वैर-भाव आदि रहने के कारण जो बीतती है सो वही जानता है, दूसरा नहीं। सदाचारी मनुष्य नाना भाँति के क्लेशों में पड़ा हुआ भी ईश्वर में विश्वास और हृदय में शान्ति और सन्तोष रहने के कारण थोड़ा-बहुत सुखी रहता ही है। पर दुष्ट जन चाहे कैसे ही धनवान्, रूपवान्, कुलवान् और बलवान् क्यों न हों, अपने दुराचार के कारण एक न एक दिन किसी आपत्ति में पड़े बिना नहीं रहते, और ऐसा समय आने के पहले भी और चित्त के शांति-रूपी सुख से तो वे सदा वंचित रहते ही हैं। उनके दुराचारों के फल-रूप भय, चिन्ता, ईर्ष्या आदि मनोविकार उन्हें एक पल के लिये भी सुखी नहीं रहने देते। लम्पटता के वश में रहने और प्रकृति के नियमों का उल्लंघन करने से उनका शरीर अनेक भयङ्कर रोगों का क्रीड़ा-स्थल बन जाता है, जिससे वे तरुणावस्था में ही रूप, यौवन, तेज, बल और स्वास्थ्य खो बैठते और अकाल-मृत्यु के गाल में समा जाते हैं। उनमें विषय-सुख-वासना अधिक प्रबल होती है; अतएव जब वे यौवन-काल में ही अपनी इन्द्रियों

की शिथिलता का अनुभव करने लगते हैं तो उनके हृदय की दशा बहुत ही शोचनीय हो जाती है। और यदि वे मृत्यु से बचे भी, तो अन्धे वा पागल हो जाते, उनकी नाक बैठ जाती, तालू फूट जाता, कहाँ तक कहें, उनकी दशा बड़ी भयङ्कर हो जाती है। जिस विषय-सुख को वे जन्म लेने का एकमात्र उद्देश्य समझते हैं—मनुष्य-देह धारण करने का परम पुरुषार्थ मानते हैं—उसीके भोग में अपने को असमर्थ देख वे जीवन को निरा भार समझने लगते हैं।

दुराचारियों या दुर्जनों के आचरण में अन्याय और अत्याचार की मात्रा अधिक रहती है, जिससे उन्हें सदा इसी बात का डर बना रहता है कि कहीं कोई हमसे बदला लेने के प्रयत्न में तो न हो और हमें किसी आपत्ति में तो न डाल दे। यदि उन्होंने कोई काम छल वा कपट से किया है—और, किया ही करते हैं—तो वे इसी डर में पड़े रहते हैं कि कहीं हमारा भेद न खुल जाय। ऐसे लोग कितने ही धनवान् क्यों न हों; पर शिष्ट-समाज में उनका आदर नहीं होता, जिससे भी वे बड़े दुखी रहते हैं। सारांश यह कि दुराचारी मनुष्य सुखी नहीं रह सकता, और सदाचारी चाहे कैसा ही दीन वा दरिद्र क्यों न हो और कितने भी क्लेशकारी कष्ट के साथ अपना जीवन-निर्वाह क्यों न करता हो; पर भय, चिन्ता, लज्जा आदि मनोविकार उसके चित्त को क्षुब्ध नहीं करते, बरन अपने धैर्य और सन्तोष के कारण वह दुष्टों की अपेक्षा सुखी ही रहता है।

पाठ २

धर्म्म और अधर्म्म का निर्णय (१)

हम ऊपर लिख चुके हैं कि ईश्वर की इच्छा के अनुकूल अपने सब कार्य करना और किसी भी प्राणी को व्यर्थ कष्ट न पहुँचाना हमारा कर्त्तव्य है। इसी कर्त्तव्य-पालन का नाम धर्म्म है, जिसका अर्थ धारण करना है, अर्थात् जो कुछ धारण करने-योग्य है वही धर्म्म कहलाता है। कहा है:—

"अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्॥"

व्यास देव ने विरच अठारह विशद पुराना।
पुण्य मूल उपकार पाप अपकार बखाना॥

अर्थात् १८ पुराणों का सारभूत भाग श्रीव्यास-नारायण के इन दो वचनों में है, अर्थात् (१) परोपकार पुण्य, और (२) पर-पीड़न पाप कहलाता है।

अब इन प्रश्नों पर विचार करना है कि ईश्वरीय इच्छा क्या है और संसार में कौन २ से कार्य्य पुण्य और कौन २ से पाप हैं। धर्म्म का स्वरूप जाना कैसे जाय? यदि किसी मनुष्य को जानने की इच्छा है तो उसके लिये इस विषय के ज्ञान का प्राप्त कर सकना असम्भव नहीं है। प्रथम तो सृष्टि-क्रम के नियमों का प्रतिपादन करनेवाले विज्ञान-शास्त्र से हमें ईश्वर की इच्छा का पता लगता है। प्रकृति-रूपी ग्रन्थ का अध्ययन करके हम ईश्वरेच्छा का ज्ञान प्राप्त कर सके हैं। दूसरे, प्रत्येक देश वा जाति में ऐसे ग्रंथ हैं जो मानव-धर्म्म का प्रतिपादन करते और ईश्वर-वाक्य

माने जाते हैं। उनके पठन-पाठन से भी मनुष्य अपना धर्म्म अथवा कर्त्तव्य निश्चित कर सक्ता है। तीसरे, ईश्वर ने प्रत्येक मनुष्य को एक ऐसी उत्तम मानसिक शक्ति प्रदान की है जिसके द्वारा वह भले और बुरे—कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य—का विवेचन करने में समर्थ होता है। इस मानसिक शक्ति का नाम सदसद्विवेक या विवेक-बुद्धि है। इस विवेक-बुद्धि के द्वारा मनुष्य अच्छे वा बुरे कार्य का भेद जान सक्ता है। इसके सिवा अमुक कार्य्य अच्छा है अथवा बुरा इस बात की जाँच के लिये स्मरण रखना चाहिए कि अच्छे कार्य्य से हर्ष और सन्तोष, और बुरे से भय, शोक, लज्जा, सन्ताप, पश्चात्ताप आदि हुआ करते हैं। यहाँ तक कि सदाचारी मनुष्य कितनी ही भारी आपत्ति में क्यों न पड़ जाय और संसार में उसकी कितनी ही निन्दा क्यों न हो, वह कभी विचलित नहीं होता और अपना सारा क्लेश धीरज के साथ सहता हुआ न्याय-पथ को नहीं छोड़ता।

सारांश यह कि सभ्य-समाज में सदसत् या भले-बुरे का ज्ञान प्राप्त करना कठिन नहीं है। कहा है:—"महाजनो येन गतः स पन्थाः", अर्थात् महापुरुष जिस मार्ग से चलते हैं वही साधारण लोगों के लिये अच्छा मार्ग है। महापुरुषों के जीवन-चरित्र हम लोगों को ठीक मार्ग के बतलाने में सहायक होते हैं; यथा,

भद्र जनों के उत्तम जीवन उच्च स्वर से कहें पुकार—
"तुम भी अपना जीवन जग में कर सक्ते हो इसी प्रकार।"
जग में काल मरुस्थल-सम है, जिसपर उनके पैर-निशान।
डग पर डग रखते जो जाओ, पाओगे तुम यश औ मान।
देख तुम्हारे चिह्न पदों के, जन अन्यान्य लगेंगे पार।

नर पर इनके दर्शन पाकर साहस होगा इन्हें अपार ॥
(जीवनोद्देश्य—लाँगफ़ैलो)

पाठ ३.

धर्म्म और अधर्म्म का निर्णय (२)

(१) यदन्यैर्विहितं नेच्छेदात्मनः कर्म पूरुषः।
न तत्परेषु कुर्वीत जानन्नप्रियमात्मनः।

(२) यद्यदात्मनि चेच्छेत तत्परस्यापि चिन्तयेत्।

(३) यदन्येषां हितं न स्यादात्मनः कर्म्म पौरुषं।
अपत्रपेत वा येन न तत्कुर्य्यात्कथंचन॥ (म. भा., शा. पा.)

(४) अतो यदात्मनोऽपथ्यं परेषां न तदाचरेत्
(याज्ञवल्क्य-स्मृति)

(५) परहित-सरिस धर्म नहिं भाई।
परपीड़ा-सम नहिं अधमाई
(रामायण)

कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य, धर्म्म और अधर्म्म, पुण्य और पाप—इनका कुछ स्वरूप हम पिछले पाठमें दिखला चुके हैं। हमने यह भी दिखलाया है कि सभ्य-समाज में कर्त्तव्या-कर्त्तव्य का ज्ञान प्राप्त करना असम्भव नहीं है; पर इससे यह न समझ लेना चाहिये कि धर्म्म को पूर्ण रीति से पहिचान लेना हँसी-खेल है। श्रीभीष्मपितामह युधिष्ठिर से कहते हैं:—

"महानयं धर्म्मपथः बहुशाखश्च भारत।"

अर्थात् "हे भारत, यह धर्म्मरूपी मार्ग बहुत लम्बा है और इसकी अनेक शाखाएँ-प्रतिशाखाएँ हैं।" इसका

भावार्थ यह है कि जिस प्रकार कोई यात्री किसी दूर स्थान तक पहुँचने के लिये अनेक कष्ट उठाता और बीच २ में कई मार्ग मिलने से भ्रम में पड़ बहुधा भटक जाता है, उसी प्रकार धर्म्म और अधर्म्म का विवेचन करने तथा अपना निज धर्म्म निश्चित करने की इच्छा रखनेवाले मनुष्य की भी दशा होती है। कभी २ प्रतिदिन की साधारण चर्य्या में भी ऐसे प्रसंग आ जाते हैं कि अच्छे २ विद्वान् भी किं-कर्त्तव्य-विमूढ़ हो जाते हैं, अर्थात् उन्हें यह नहीं सूझता कि क्या करें और क्या न करें।

वास्तव में धर्म्म का विषय बहुत सूक्ष्म है। देश-कालानुसार भिन्न २ मनुष्यों के भिन्न २ धर्म्म वा कर्त्तव्य होते हैं। एक मनुष्य के लिये जो धर्म्म है वही दूसरे के लिये अधर्म्म बन जाता है। वैसे तो "परोपकारः पुण्याय पापाय परपीड़नम्", अर्थात् परोपकार पुण्य अथवा धर्म्म और पर-पीड़न अधर्म अथवा पाप कहलाता है; पर परोपकार और पर-पीड़न भी बहुत सूक्ष्म विषय हैं, जिनका निश्चय करना बहुधा सहज नहीं होता। हम अपना अभिप्राय निम्न-लिखित दृष्टान्तों द्वारा प्रकट करते हैं:—

(१) मान लो कि एक शराबी आज शराब न मिलने से बड़े कष्ट में है। उसका सारा शरीर शिथिल पड़ गया है और उसके अङ्ग२ में पीड़ा है। बहुत काल तक बीमार रहने से मनुष्य की जो दशा होती है वही आज उस शराबी की भी है। उसका यह कष्ट देख दया आ जाती और इच्छा होती है कि इसका यह कष्ट दूर कर दिया जाय। मान लो कि उससे पूछने से विदित होता है कि शराब पीने की टेंव पड़ जाने और शराब न मिलने से ही उसकी यह दुर्दशा हुई है और रुपया आठ आना देने से ही उसका सारा क्लेश

क्षण भर में दूर हो सक्ता है। अब क्या जान-बूझकर भी कि वह इस दुर्व्यसन के कारण यह सब कष्ट भोग रहा है उसे सहायता देनी चाहिये ? आश्चर्य्य नहीं कि कुछ दिन और शराब न मिलने से उसकी यह बुरी टेव छूट जाय। पर, इस समय सहायता मिल जाने से कदाचित् वह जन्म भर इसी दुर्व्यसन में पड़ा रहे और ऐसे दासत्व में पड़े रहने से चोरी तो चोरी, हत्या भी कर डाले। ऐसी अवस्था में उसे द्रव्य देना जिससे उसका कष्ट तो दूर हो, पर वह सारे जन्म शराब का गुलाम बना रहकर बड़े २ पाप करे उसका उपकार नहीं, अपकार करना है। ऐसी दशा में उसकी सहायता करना उस का उपकार नहीं कहा जा सक्ता, उलटा पाप है।

(२) दूसरा दृष्टान्त लीजिये। एक मनुष्य हृष्ट-पुष्ट तो खूब है; पर है आलसी। परिश्रम करके कमाई करना और उससे अपना तथा अपने आश्रित जनों का पालन करना उसे अच्छा नहीं लगता। मान लो कि वह ब्राह्मण है और इसलिये समझता है कि मज़दूरी करना तो मेरे लिये नीच कर्म्म है;अतएव मैं भिक्षा-वृत्ति द्वारा अपना निर्व्वाह करूँगा। मान लो कि वह एक विचित्र वेश बनाकर प्रतिदिन भीख माँगा करता है। उसकी बातचीत से प्रकट होता है कि वह बड़ा दरिद्र है और सदा अन्न-कष्ट से पीड़ित रहता है। वह काम तो कर सक्ता है; पर आलस्य अथवा मूर्खता-वश कुछ नहीं करता। तो क्या उसे भिक्षा देना उचित होगा ?

(३) एक तीसरे मनुष्य का दृष्टान्त लीजिये जो अपने को साधु कहता है। जटा, लँगोटा, भस्म, चिमटा, गाँजे की दम—बस, इन्हीं बाह्य बातों में उसकी सारी साधुता की इतिश्री है। ऐसे आलसी मनुष्य की सहायता करना क्या पुण्य-कार्य्य कहला सक्ता है ? ऐसा साधु-वेश-धारी मनुष्य

साधु नहीं, निरा-पाखण्डी धूर्त है। कौन जाने वह दिन को साधु बन भगवान् को भोग लगाता हो और रात्रि को सेंध लगाकर चोरी करता हो। क्या ऐसे निरे वेश-धारी बक-वृत्ति साधु को दान देना पुण्य है ?

हम जानते हैं कि इस देश में ऐसे लाखों भिखमंगे हैं जिनसे जन-समाज को लाभ के बदले हानि है। यदि ये सब शारीरिक परिश्रम करके अपना भरण-पोषण करते तो देश को अपरिमित लाभ होता। परिश्रम न सही, यदि ये धर्म्मोपदेश ही करते तो जन-समाज का बहुत कल्याण होता। पर, बात तो यह है कि ये लोग प्रति वर्ष लाखों रुपये खा डालते हैं और उनके बदले जन-समाज की किसी प्रकार की सेवा नहीं करते। वह द्रव्य जो इन आलसी और निकम्मे मनुष्यों के उदर में जाता है यदि किसी सच्चे परोपकार के कार्य्य में लगाया जाता या उससे सच्चे धर्म्मोपदेशक नियत किये जाते तो देश को कितना बड़ा लाभ होता ? अब जो लोग इन मुसतंडे भिखारियों तथा पापाचारियों को द्रव्य देकर इस प्रकार के धूर्तों को उत्साह देते और उनकी संख्या बढ़ाते हैं वे क्या सच्चे परोपकारी समझे जा सकते हैं ? सच्चे साधु महात्मा जगत् का बड़ा उपकार करते हैं। उनके चरित्र जन-समुदाय के लिये आदर्श होते हैं। उनके सत्सङ्ग वा उपदेश से गृहस्थों को धर्म्म का ज्ञान होता है। ऐसे साधुओं को सहायता देना वास्तव में उनका ही नहीं, समस्त जगत् का उपकार करना है; परन्तु निरे वेश-धारी धूर्तों को दान देने से किसीका उपकार तो नहीं, अपकार अवश्य होता है। इसीसे कहा गया है कि बहुत जाँचकर सुपात्रों को दान देना चाहिये।

न वार्य्यपि प्रयच्छेत्तु वैडालव्रतिके द्विजे ।
न वकव्रतिके विप्रे नावेदविदि धर्म्मवित् ॥
त्रिष्वप्येतेषु दत्तं हिं विधिनाप्यर्जितं धनम् ।
दातुर्भवत्यनर्थाय परत्रादातुरेव च ॥

[मनु, अ० ४, श्लो० १९२, १९३]

जिन ब्राह्मणों के आचरण बिड़ाल और बक के समान हैं, अर्थात् जो ब्राह्मण स्वार्थी और पाखण्डी हैं तथा वेद नहीं जानते इन तीन प्रकार के ब्राह्मणों को दान देने से देने और लेने वाले दोनों का अनर्थ होता है।

स्मरण रहे कि सुपात्र, साधु और परोपकारी विद्वान् इस जगत् में विरले ही होते हैं। हमारे हिन्दू-धर्म्म में स्पष्ट आज्ञा है कि संन्यासियों को द्रव्य देना महा-पाप है। तौ भी बहुत से संन्यासी रुपया लेते और हिन्दू गृहस्थ उन्हें देते हैं। यह शास्त्र के विरुद्ध कार्य्य है। सारांश यह कि दूसरों की सहायता करना, दरिद्रों को अन्नादि कष्टों से बचाना यद्यपि प्रत्येक मनुष्य का धर्म्म है, तथापि उसके पालन में बहुत सोच-विचार की आवश्यकता है। एक दृष्टान्त लीजिये:—

किसी मनुष्य ने कोई ऐसा दुष्कर्म किया है कि न्यायाधीश उसके लिये कठिन कारावास ही उपयुक्त दण्ड समझता है। यदि उसे यह दण्ड दिया जाय तो पीड़ा तो अवश्य होगी; उसके निरपराध आश्रित जनों को भी बड़ा कष्ट उठाना पड़ेगा। इसमें सन्देह नहीं कि न्यायाधीश ऐसा करने से पाप-भागी समझा जा सक्ता है। सभी कहेंगे कि परपीड़न से पुण्य नहीं होता। हाँ, इसके बदले यदि वह न्यायाधीश ऐसी अवस्था में भी परपीड़न को पाप समझकर

उस अपराधी को छोड़ दे, तो अपने कर्त्तव्य से विमुख होने का पाप-भागी अवश्य ठहरेगा।

इन दृष्टान्तों को पढ़ने से स्पष्ट है कि सब दशाओं में परोपकार अच्छा और पर-पीड़न बुरा नहीं होता। फिर यह निर्णय किस प्रकार किया जाय कि परोपकार और परपीड़न से कब धर्म्म और कब अधर्म्म होता है?

यह प्रश्न इस तरह हल हो सक्ता है:— जब भली भाँति जाँच कर लेने पर हम निश्चय-पूर्वक कह सकें कि अमुक व्यक्ति का उपकार करने से उसकी तथा और किसी की व्यर्थ हानि नहीं है तो उसका उपकार करना हमारा धर्म है और योग्य होकर भी यदि हम उसे न करें तो हम अपने कर्त्तव्य से विमुख होते हैं। निरे वेश-धारी पाखण्डी साधुओं का उपकार भी हमें करना चाहिये; पर यह द्रव्य से नहीं, उपदेश से होना सम्भव है। जहाँ तक हो सके, हम उनका उपकार इसी प्रकार करने का प्रयत्न करें।

अब रहा पर-पीड़न, सो यदि हम अपने स्वार्थ के लिये किसीको कष्ट पहुँचावें, तो अवश्य ही हमारा यह कार्य्य बुरा होगा; पर यदि दूसरे को कष्ट देने से अपना कोई स्वार्थ सिद्ध न होता हो वरन कर्त्तव्य-वश हमें ऐसा करना पड़े और जिस व्यक्ति को पीड़ा पहुँचाई गई हो उसका उससे लाभ होना सम्भव हो तो ऐसे पर-पीड़न से पाप नहीं होता है, वरन ऐसा पर-पीड़न हमारा धर्म्म है। जब माता-पिता वा गुरु अपने पुत्र वा शिष्य का ताड़न करते हैं तो उसका हित सोचकर ही करते हैं। ऐसा करने से उन्हें स्वयं कष्ट होता है और उसमें स्वार्थ की गन्ध भी नहीं रहती। जब डाक्टर किसी मनुष्य के शरीर में चीर-फाड़

करता है तो उसी के हित के लिये करता है, न कि अपने विशेष लाभ के लिये। न्यायाधीश भी किसीको बेंतों से पिटवाता, किसीको अर्थ-दण्ड देता, किसीको जेल में डाल कर घोर कष्ट दिलाता और किसीको सूली पर भी चढ़वा देता है; पर इसमें उसका स्वार्थ कुछ नहीं रहता, वरन वह ये सब कार्य्य अपना कर्तव्य समझकर करता है। ऐसे पर-पीड़न से पाप नहीं होता, बल्कि ऐसा न करने से वह कर्तव्य-विमुख होने का दोषी अवश्य ठहरता है।

क्षमा-शीलता भी मनुष्य का एक उत्तम गुण है; पर कई अंशों में वही एक बड़ा दुर्गुण बन जाता है। मान लो कि एक पाठक का हृदय इतना कोमल है कि वह अपने विद्यार्थियों का शासन नहीं कर सकता और उनके अपराधों को क्षमा कर देता है। ऐसी दशा में क्या वे सच्चरित्र हो सकते हैं? ऐसे माता-पिता और पाठक बालकों के मित्र नहीं, शत्रु हैं। नीति-शास्त्र में स्पष्ट लिखा है:—

"माता शत्रुः पिता वैरी येन बालो न पाठितः"।
(मात-पिता वैरी भये जे न पढ़ाये बाल)
"लालने बहवो दोषाः ताड़ने बहवो गुणाः"।
(लालन में बहु दोष हैं ताड़न गुनन अनन्त)

इसी प्रकार राजा तथा अधिकारियों के अधिक क्षमा-शील होने से भी जन-समाज बड़ी आपत्ति में पड़ जाता है। शासन-कार्य्य में राजा को दयावान् और साथ ही उग्र शासक होना चाहिये, नहीं तो राष्ट्र का सारा प्रबन्ध शिथिल होकर अराजकता फैल जाती है। यदि कोई मेरा व्यक्तिगत अपराध करे और ऐसा करने में केवल मेरी ही हानि हो, किसी दूसरे की नहीं, तो अपराधी के सच्चे पश्चाताप करने पर मैं उसे क्षमा कर सकता हूँ; पर यदि इस

क्षमा से दूसरों को हानि होती हो तो फिर ऐसा करना अपने हृदय की दुर्बलता-मात्र दिखाना है।

महाराज युधिष्ठिर बड़े क्षमा-शील थे। कई बार अपने शत्रु, अत्याचारी कौरवों के बड़े अपराधों को उन्होंने क्षमा कर दिया। पर यदि वे अन्त तक ऐसा करते तो अपना ही नहीं, अपने भाइयों का भी अहित कर बैठते। पाण्डवों का स्वत्व छीननेवाले दुर्योधनादि कौरव राज्य का उपभोग करते और पाण्डव-भ्राता कुटुम्ब-सहित भाँति २ के क्लेश सहते फिरते। साथ ही, भारत की दीन प्रजा इन पापियों के अत्याचारों से पीड़ित हो घोर-क्लेश में पड़ जाती। महाराज युधिष्ठिर की क्षमा-शीलता से इतना बड़ा अनर्थ होता। इसीसे श्रीकृष्ण युधिष्ठिर तथा अर्जुन को युद्ध करके इन दुष्टों का संहार करने की सम्मति देते रहे। पहले तो आपने स्वयं जाकर कौरवों को बहुत कुछ समझाया और इस प्रकार उनपर दया की; जब वे नहीं माने तो विवश हो पाण्डवों को युद्ध करने की आज्ञा दी, क्षमा करने की नहीं।

पाठ ४.

धर्म्म और अधर्म्म के निर्णय में कठिनाई।

इससे स्पष्ट है कि धर्म्माधर्म्म-विवेचन बहुत ही कठिन विषय है। वही एक कार्य्य जो किसी अधिकारी पुरुष के लिए धर्म्म कहलाता है, दूसरे अनधिकारी पुरुष के लिए अधर्म्म बन जाता है। भिन्न २ वर्ग के मनुष्यों के भिन्न २ धर्म्म होते हैं; अतएव जो मनुष्य अपना

धर्म्म त्याग दूसरों का ग्रहण करता है वह आपत्ति में पड़े बिना रहता। किसी अपराधी को दण्ड देना केवल उसी मनुष्य का कर्त्तव्य है जो इसका अधिकारी है। मान लो कि किसी मनुष्य ने हत्या की है जिससे उसे मृत्यु-दण्ड मिलना चाहिये। यदि कोई कहे कि इस हत्यारे को दण्ड तो मिलना ही है, अतएव हम ही उसे फाँसी पर क्यों न लटका दें तो क्या उसका यह कार्य्य उचित होगा? मान लो कि उस मूर्ख ने ऐसा कर ही डाला। तब इसका परिणाम क्या होगा? यही न कि यह भी हत्यारा समझा जावेगा और इसको भी फाँसी लगेगी? उस पहले हत्यारे को यदि न्यायाधीश फाँसी दिलाता, और जल्लाद उसे फाँसी पर लटका देता, तो इन दोनों को कोई दोषी न ठहराता। फिर उस मनुष्य ने ही कौनसी बात अधिक की कि उसी हत्यारे का वध करने से उसे फाँसी लगाई गई? न्यायाधीश और जल्लाद इसलिये दण्डनीय नहीं हैं कि क़ानून के अनुसार हत्यारों को फाँसी देना उनका निर्दिष्ट कर्त्तव्य है। वे इस कार्य्य के अधिकारी हैं; पर और लोग न तो अधिकारी ही हैं और न उनका यह कर्त्तव्य ही है कि प्रत्येक हत्यारे को वे स्वयं फाँसी दें। उनका कर्त्तव्य इतना ही है कि यदि उन्होंने वह अपराध होते देखा है तो न्यायालय में साक्षी बनकर वे अपराधी को उचित दण्ड दिलावें। यदि प्रत्येक मनुष्य अधिकारी न होने पर भी अपराधियों को दण्ड देने लगे तो जन-समुदाय में बड़ा अन्धेर उठ बैठे और देश का सुशासन असम्भव हो जाय। न्यायाधीश का जो धर्म्म है वह दूसरों का नहीं है। सारांश यह कि सबको अपना २ धर्म्म पालना और दूसरों का त्यागना चाहिये, नहीं तो समाज का चलना कठिन हो जायगा। इसीसे कहा है:—

"स्वधर्म्मो निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः"।

(गीता)

अर्थात्, अपने धर्म्म के पालन में तो प्राणोत्सर्ग तक उचित है, पर दूसरे के धर्म्म का ग्रहण करना अति भयावह (भयङ्कर) होता है।

इस तरह परोपकार और पर-पीड़न का सूक्ष्मार्थ समझकर कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्णय करना चाहिये। इस निर्णय के करने का एक और साधन है। जिन कार्यों के करने से जन-समाज में मेल, मैत्री और सात्विक स्नेह उत्पन्न हों वे हमारे लिये कर्त्तव्य और जिन कार्यों से इनका नाश वा ह्रास हो वे अकर्त्तव्य हैं।

स्मरण रहे कि किसी एक कर्त्तव्य के पालन में ऐसा न हो कि दूसरे कर्त्तव्य वा कर्त्तव्यों का उल्लंघन हो जाय; जैसे, अपने मित्र वा आत्मीय जनों की सहायता करना हमारा कर्त्तव्य तो अवश्य है, पर सत्य-भाषण भी इससे कम कर्त्तव्य नहीं है। मैत्री वा सम्बन्ध निबाहने के लिये, अपने मित्र वा आत्मीय जनों की रक्षा के लिये, न्यायालय में झूठी गवाही देना सर्वथा अनुचित है। इसी तरह अपने अपराधी मित्र वा नातेदार को जेल से बचाने के अभिप्राय से सर्कारी क़ानून का उल्लंघन करना अथवा पुलिस वा मजिस्ट्रेट को अपराधी का पता लगाने तथा न्याय करने में सहायता न देना मानो एक अपराधी के हित के लिये सारे जन-समुदाय का अपकार करना है। जिस प्रकार अपने मित्र को सहायता देना उसी प्रकार जन-समुदाय का कल्याण करना हमारा कर्त्तव्य है; पर अपराधी मित्र की रक्षा के उद्देश्य से झूठी गवाही देना अपने दूसरे

कर्त्तव्य अर्थात् सत्य-भाषण से विमुख होना है।

स्मरण रहे कि सरकार या पुलिस को अपराधी का पता लगाने में यथाशक्ति सहायता देना प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है। ऐसे अवसर पर अपराधी चाहे अपना कैसा ही आत्मीय क्यों न हो, उसे अन्याय-पूर्वक बचाने की चेष्टा कदापि न करनी चाहिये। चाणक्य अपने नीति-शास्त्र में कहते हैं:—

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे सकलं त्यजेत्॥

अर्थात् "जहाँ सारे कुल की हानि होती दिखे वहाँ उसकी रक्षा के लिये किसी एक व्यक्ति की हानि होने देना चाहिये। इसी प्रकार पूरे ग्राम के कल्याणार्थ एक कुल की तथा जन-पद या देश की भलाई के लिये ग्राम की हानि होती हो तो होने देना चाहिये।"

नीति-शास्त्र की यह व्यवस्था बहुत ठीक है। किसी विशेष व्यक्ति के हित के लिये जन-समाज का अहित न होना चाहिये। स्मरण रहे कि यदि क़ानून के विरुद्ध कार्य्य करनेवाले अपराधी बचा लिये जायँ तो फिर क़ानून ही किस काम का? सारा क़ानून तो जन-समुदाय की रक्षा के लिये बनाया गया है; अतएव अपने किसी समीपी मित्र या सम्बन्धी के अपराध करने पर क़ानून की उपेक्षा करके उसे दण्ड से बचा लेना जन-समुदाय का गला घोंटने के बराबर है। ऐसा होने से श्रीमानों के सम्बन्धि-गण यह सोचकर कि हमें क़ानून में कौन फँसा सकता है मनमाने अपराध करने लगेंगे और उन दुष्टों की रक्षा करने वाले अवश्य ही कर्त्तव्य-विमुख होंगे। शास्त्र का वचन है:—

"वध्यन्ते आततायिनः"

अर्थात् "आततायी जीव वध करने योग्य हैं।" चोर, डाकू, व्यभिचारी आदि बड़े २ अपराध करनेवाले मनुष्य, आततायी कहलाते हैं। इनपर दया करना जन-समाज को आपत्ति में फँसाना है।

बहुतेरे लोग निरी कायरता वा भीरुता के कारण "अमुक मनुष्य ने अपराध किया है"— ऐसा जानकर भी पुलिस की सहायता करने अर्थात् न्यायालय में सत्य २ कह आने से डरते हैं। यह उनकी भारी भूल है। ऐसा करने में कुछ कष्ट भी सहना पड़े तो उसे सहने के लिये साहस करना चाहिये; पर अपने कर्त्तव्य से कदापि विचलित न होना चाहिये। अपराधी को दण्ड दिलाना और निरपराध की रक्षा करना प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है।

ऐसे अवसरों पर मनुष्य किं-कर्त्तव्य-विमूढ़ सा हो जाता है, अर्थात् उसे यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि दो परस्पर-विरुद्ध कर्त्तव्यों में से कौनसा करना और कौन-सा छोड़ना उचित है। स्मरण रहे कि ऐसी दशा में कर्त्तव्य दो नहीं, एक ही होता है। अपराधी को दण्ड दिलाना प्रत्येक का कर्त्तव्य है, चाहे वह अपना पुत्र, भाई, नातेदार, पुरा-पड़ोसी वा मित्र हो और चाहे कोई अज्ञात मनुष्य हो, अपराधी अपराधी है। जो लोग ऐसे जीवों पर झूठी दया करते हैं वे सच्चे दयालु पुरुष नहीं हैं; क्योंकि उनकी इस झूठी दया से समग्र समाज का अहित होता है।

प्राचीन काल के रोमन लोग बड़े कर्त्तव्य-निष्ठ होते थे। एक रोमन न्यायाधीश ने अपने इकलौते पुत्र को

अपने ही न्यायालय में अपराध प्रमाणित होने पर तुरन्त फाँसी की आज्ञा दे दी और ऐसे भयङ्कर प्रसङ्ग पर भी उसने अपने कर्त्तव्य का पालन किया। यही कारण है कि एक समय रोमन जाति उस समय के सारे ज्ञात जगत् की सम्राज्ञी बन बैठी थी। उन्हीं लोगों ने पीछे से जब अपने एक प्रतिष्ठित पुरुष के पुत्र का पक्ष लेकर गाल जाति के साथ अन्याय किया तो घोर आपत्ति का सामना करना पड़ा। धीरे २ जब वे अपनी अलौकिक कर्त्तव्य-निष्ठा भूल गये तो निरी बर्बर जातियों से पराजित होकर अपना सारा वैभव एवं साम्राज्य खो बैठे। सारांश यह कि स्व-कर्त्तव्य-पालन के समय मनुष्य को अपने-पराये का विचार तनिक भी न रखना चाहिये। जब तक यह सिद्ध नहीं हुआ कि अपना मित्र अपराधी है, तब तक तो उसे निरपराध प्रमाणित करने के लिये पूर्ण चेष्टा करनी चाहिये। मित्र ही क्या, प्रत्येक मनुष्य जिसे हम निरपराध समझते हैं धर्म्म वा न्याय-पूर्वक उसकी सहायता करना हमारा कर्त्तव्य है; पर यदि उसके अपराधी होने का पूरा २ प्रमाण हमारे पास हो तो फिर उसकी रक्षा करना हमारा धर्म्म नहीं हो सक्ता; वरन उसे दण्ड दिलाना ही हमारा कर्त्तव्य होगा। कहा है:—

निन्दन्तु नीति-निपुणा यदि वा स्तुवन्तु।
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा।
न्यायात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः॥

नीति-निपुण नर धीर वीर कछु सुयश करहु किन।
अथवा निन्दा करहु कहहु दुर्वचन छिनहिं छिन॥

संपति हू चलि जाहु रहहु अथवा अगनित धन ।
अबहिं मृतक किन होहु होहु अथवा निश्चल तन ॥
पर न्यायपंथ को तजत नहिं बुधि-विवेक-गुण-ज्ञान-निधि ।
यह संग सहायक रहत नित देत लोक परलोक सिधि ॥

पाठ ५.

हमारे कर्त्तव्य ।

इस पाठ में हम यह दिखलाते हैं कि किन २ कार्य्यों के करने और किन २ के त्यागने से बालक-गण अभ्यास द्वारा अपने चरित्र का उत्तम सङ्गठन कर सदाचारी बन सक्ते हैं।

मनुष्य अकेला नहीं, कुटुम्ब तथा समाज में रहता है। दूसरों की सहायता के बिना एक क्षण भी उसका निर्व्वाह नहीं हो सक्ता। घर में माता-पिता, बहिन-भाई आदि कुटुम्बियों तथा अन्य आत्मीय जनों से उनका घना सम्बन्ध रहता है। बड़े होने पर अपनी स्त्री तथा उसके आत्मीय जनों से उसका नाता जुड़ जाता है। फिर उसके पुरा-पड़ोसी, मित्र, पाठक, सहपाठी आदि होते हैं। नौकरी तथा व्यापार करने पर उसे अपने स्वामी, सह-कर्म्मचारी, इतर व्यापारी आदि के साथ व्यवहार रखना पड़ता है। उसके देश के राजा तथा राज-कर्म्म-चारियों के उत्तम शासन से ही उसका जीवन-निर्व्वाह सम्भव होता है, नहीं तो न तो वह शिक्षा ही पा सक्ता और न अपना व्यवसाय करके द्रव्योपार्जन ही कर सक्ता और न उपार्जित धन की रक्षा ही कर सक्ता है। कहा है:—

"अराजके जनपदे दोषा जायन्ते बहवः सदा।"

(वाल्मीकीय रामायण)

अर्थात्, राजा के न होने से देश में बहुत दोष उत्पन्न होते हैं; अतएव मनुष्य पर राजा का उपकार अगाध है। इसके सिवा घर में नौकर आदि से और बाहर सरकारी व्यवसायियों से उसका सम्बन्ध रहता है। इन सब के सिवा और इन सबसे अधिक उसका सम्बन्ध ईश्वर से है जिसकी कृपा न होने से वह जन्म ही नहीं ले सकता और न जन्म लेने पर एक क्षण भी सकुशल रह सकता है। इससे स्पष्ट है कि मनुष्य का सम्बन्ध ईश्वर, राजा, माता, पिता, गुरु, भाई, बहिन, मित्र, पुरा-पड़ोसी आदि से रहता है; अतएव उनके साथ उसका व्यवहार कैसा होना चाहिये और कैसा नहीं, इसी बात के निरूपण में सारा आचार-नीति-शास्त्र आ जाता है। "अहिंसा परमो धर्म:" और "परोपकारः पुण्याय, पापाय परपीड़नम्"—इन दो वाक्यों को समझकर कार्य करनेवाला बहुतेरे पापों तथा अधर्मों से बच सकता है। प्रभु यीशु मसीह ने सारा आचार-नीति-शास्त्र दो वाक्यों में ही शेष कर दिया है, अर्थात् (१) परमेश्वर के साथ सच्चे अन्तःकरण से पूर्ण प्रेम रक्खो, और (२) अपने पड़ोसी के साथ वैसा ही भाव रक्खो जैसा अपने साथ रखते हो।

यहाँ पड़ोसी से उन प्राणियों का अर्थ है जिनके बीच मनुष्य को रहना पड़ता है। ईश्वर तथा मनुष्य आदि प्राणियों के प्रति हमारे जो २ कर्तव्य हैं उन सबका समावेश उपर्युक्त दो वाक्यों में हो जाता है। हिन्दू शास्त्र में भी कहा है कि "आत्मवत् सर्व-भूतेषु यः पश्यति स

पण्डितः" अर्थात् पण्डित वा बुद्धिमान् वही है जो प्राणि-मात्र को अपने समान समझता है।

अब हम मनुष्य के कर्त्तव्यों की वर्गणी नीचे देते हैं:—

(१) मनुष्य के आत्म-गत कर्त्तव्यः—

(क) आत्म-संयमन, (ख) आत्मावलम्बन, (ग) कार्य्य-प्रियता वा कर्म्मण्यता, (घ) ब्रह्मचर्य्य-पालन, (च) व्यायाम, (छ) स्वच्छता, (ज) निरभिमानता, अक्रोध आदि।

(२) अपने से श्रेष्ठों के प्रति कर्त्तव्यः—

(क) ईश्वर के प्रति कर्त्तव्य; जैसे, भक्ति, पूजन, आदर आदि।

(ख) राजा तथा राजकर्म्मचारियों के प्रति कर्त्तव्य; जैसे, राजभक्ति, विद्रोह-दमन, क़ानून का अविरोध, विद्रोह-दमन में सरकार की सहायता, कर-दान, इत्यादि।

(ग) स्वदेश के प्रति कर्त्तव्य; जैसे, स्वदेश-भक्ति, देशोन्नति स्वदेशाभिमान आदि।

(घ) माता-पिता, आचार्य्य, वयोवृद्ध गुरुजनों के प्रति कर्त्तव्य; जैसे, स्नेह, आज्ञा-पालन, श्रद्धा, सत्कारादि।

(३) बराबरी-वालों के प्रति कर्त्तव्यः—

(क) दाम्पत्य के कर्त्तव्य।

(ख) भ्रातृ-भगिनी के कर्त्तव्य।

(ग) मित्र वा परिचित जनों के कर्त्तव्य; जैसे, मैत्री,

क्षमाशीलता, आतिथ्य, सहन-शीलता, शिष्टाचार आदि।

(४) अपने से छोटों के प्रति कर्त्तव्य।

(क) सन्तान के प्रति कर्त्तव्य; जैसे, प्रेम, सहानुभूति, दया, हित-चिन्तन आदि।

(ख) निर्बलों के प्रति कर्त्तव्य; जैसे, रक्षा, निरभिमानता आदि।

(ग) सेवकों के प्रति कर्त्तव्य; जैसे, दया, अनुकम्पा, सहानुभूति, न्यायशीलता आदि।

(५) जन-समाज के प्रति कर्त्तव्य; जैसे, समाज-सेवा।

(६) फुटकर कर्त्तव्य वा सद्गुण।

आत्म-गत-कर्त्तव्य।

पाठ ६.

शरीर-रक्षा।

मनुष्य आजीवन अपनी उन्नति करता जा सक्ता है। ईश्वर की इच्छा से ही वह जन्म लेता और ईश्वर की इच्छा से ही उसकी मृत्यु होती है। ईश्वर ने हमें यह शरीर इसीलिये दिया है कि हम उसके द्वारा आत्मोन्नति कर सकें। वह मानो ईश्वरीय धरोहर है। जिस प्रकार धरोहर की पूरी २ रक्षा करना प्रत्येक महाजन का धर्म है उसी प्रकार इस शरीररूपी धरोहर की रक्षा करना मनुष्य का कर्तव्य है। इसी शरीर के स्वस्थ दशा में रहते मनुष्य अपने सारे कर्त्तव्य कर सक्ता है। मानसिक तथा आध्यात्मिक उन्नति भी

शरीर के स्वस्थ रहने पर निर्भर है। वास्तव में शरीर ही इस लोक तथा परलोक-सम्बन्धिनी उन्नति का साधन है। जब प्रत्येक मानवी शक्ति की पूर्ण उन्नति करना मनुष्य का कर्त्तव्य है और यह उन्नति शरीर की रक्षा करने से ही सम्भव है, तो फिर शरीर-रक्षा ही हमारा सर्व-प्रथम कर्त्तव्य ठहरता है।

जो लोग प्रकृति के नियमों का उल्लंघन कर अपने शरीर को बिगाड़ते तथा व्यायाम के द्वारा उसे पुष्ट और नीरोग रखने का प्रयत्न नहीं करते वे अपने एक प्रधान कर्त्तव्य से विमुख होते हैं। शरीर की रक्षा न करना और विलासिता में पड़कर उसे नष्ट होने देना आत्मघात करने के तुल्य है, जिससे बढ़कर पाप दूसरा नहीं है। सब धर्मों में आत्मघात महापाप माना गया है। फाँसी लगाकर, विष खाकर, अथवा गोली मारकर प्राण दे देना जिस प्रकार आत्मघात है, उसी प्रकार जान-बूझकर प्रकृति के नियमों का उल्लंघन करते हुए विलासिता में पड़ना भी है। फाँसी आदि लगाकर आत्मघात करने से मृत्यु तुरन्त होती है और प्राकृतिक नियमों का उल्लंघन करने से धीरे २ समयान्तर में; पर दोनों का परिणाम एक ही होता है।

जो लोग किसी बड़े दुःख में पड़ने से धीरज छोड़ आत्म-घात कर बैठते हैं वे ईश्वरेच्छा के विपरीत काम करते हैं। जो स्त्री-पुरुष शारीरिक वा मानसिक कष्ट से इतने डरते हैं वे वीर नहीं, निरे कापुरुष हैं। ईश्वर ने जितने वर्ष जीव का इस शरीर में रहना उचित समझा है उतने वर्ष उसे रहकर नियमित सुख-दुःख भोगना ही चाहिये। दुःख से बचने के उपाय तो अवश्य करने चाहिये; पर यह नहीं कि आत्मघात करके वह दुःख से बचने की चेष्टा करे। ऐसा होना

असम्भव है। ईश्वरीय नियमों का उल्लंघन कोई नहीं कर सक्ता।

पाठ ७.

व्यायाम।

बालक ज्यों ही चलने-फिरने के योग्य हो जाय त्यों ही उसे अपने अवस्थानुकूल व्यायामादि करने लगना चाहिये। वह बेचारा इस बात को नहीं समझ सक्ता; अतएव उसके मातापिता तथा गुरुजनों को अपना कर्त्तव्य समझ उसे व्यायाम का अभ्यास कराना चाहिये। हमारे देश में दिनों-दिन युवा पुरुषों का शरीर निर्बल होता जाता है। एक तो बाल-विवाह की प्राणघातक कुरीति, दूसरे लुटपन से ही कठिन मानसिक परिश्रम! यदि ऐसी दशा में खाने को पुष्टकारी भोजन न मिले और न व्यायाम ही किया जाय तो शरीर कदापि उन्नति नहीं कर सक्ता। प्राचीन काल में एक तो पढ़ने-लिखने की इतनी झंझट न थी, दूसरे व्यायाम की अच्छी चाल थी, जिससे इस देश के लोग शरीर से अच्छे हृष्ट-पुष्ट होते थे। इसके सिवा, उन दिनों में आजकल के समान बड़े २ नगरों की गन्दी हवा में विद्यालय नहीं होते थे। बालक ऋषियों के पास जाकर तपोवनों में विद्याभ्यास करते थे। चरक, शुश्रुतादि वैद्यक ग्रन्थों के पढ़ने से स्पष्ट मालूम होता है कि बाल-विवाह की खोटी रीति उन दिनों में न थी। ब्रह्मचर्य्य-पूर्वक पूर्ण विद्याभ्यास कर लेने पर युवा पुरुष गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते थे। इसका फल यह होता था कि भीष्म, द्रोण, कर्ण, अर्जुन, बलराम, रावण, कुम्भकर्ण, बालि, अङ्गद, हनुमान, प्रताप, हमीर, राणा साँगा, दुर्गादास

आदि आदर्श योद्धाओं के समान वीरवर इस भारत-भूमि में जन्म लेते थे।

स्मरण रहे कि शरीर से पुष्ट और नीरोग हुए विना मनुष्य का जीवन निरा बोझ हो जाता है। निर्व्बल मनुष्य विद्याभ्यास भी ठीक ठीक नहीं कर सक्ता। शरीर का असर मन पर अवश्य पड़ता है। शरीर निर्व्बल हुआ तो मस्तिष्क भी निर्व्बल होता है, जिससे बुद्धि आदि मानसिक शक्तियाँ भी मन्द रहती हैं। इसी सिद्धान्त के अनुसार एक यूनानी विद्वान् ने *नीरोग शरीर में प्रौढ़ मानसिक शक्तियों का विकास ही शिक्षा का उद्देश्य बतलाया है।

कहा है—"शरीर परमात्मा का मन्दिर है;" अतएव उसे शक्ति भर शुद्ध एवं पवित्र रखकर दर्शनीय बनाना ईश्वर की सेवा करने के बराबर है। हिन्दू शास्त्रों में मनुष्य-तन की महिमा बार बार गाई गई है। ऋषियों ने कहा है कि मोक्ष की प्राप्ति के लिये शरीर की परमावश्यकता है:—

"धर्मार्थकाममोक्षाणां शरीरं साधनं परम्।"

अर्थात् शरीर धर्म्म, अर्थ, काम और मोक्ष का परम साधन है, फिर इसकी रक्षा न करना और असावधानी में पड़कर इसे धीरे धीरे नष्ट होने देना पाप नहीं तो क्या है?

इस शरीर को पुष्टता की पराकाष्ठा तक पहुँचा देना, अर्थात् वह जितना पुष्ट और तथा नीरोग बन सके उतना व्यायाम आदि द्वारा उसे बनाना हमारा कर्त्तव्य है।

इसीसे स्कूलों तथा कालेजों में व्यायाम और ड्रिल

---

* "A sound mind in a sound body."

का तथा ह्राकी, क्रिकेट, फुटवाल आदि खेलों का प्रबन्ध है। हमारे कई देशवासी इन बातों को उपयोगी नहीं समझते और कहा करते हैं कि इस तरह लड़कों का समय नष्ट करना उचित नहीं है। यह उनकी भूल है। यदि थोड़े समय के लिये यह कार्य्य नियमपूर्वक किया जाय, तो बहुत लाभकारी हो सक्ता है। इससे शरीर तो पुष्ट वा नीरोग होता ही है, साथ ही विद्यार्थियों के चरित्र का संगठन भी उत्तम होता है। क्रिकेट आदि खेल खेलनेवाले स्वार्थ-त्याग की शिक्षा ग्रहण करते हैं। वे अपने स्कूल तथा पक्ष की प्रशंसा के लिये कार्य्य करना सीखते, सहकारिता की आवश्यकता तथा उसका उत्तम फल देखते और इस तरह निःस्वार्थ भाव से राष्ट्र-सेवा करने का पाठ पढ़ते हैं, जो जीवन-काल में सदा काम आता है। ड्यूक ऑव् वेलिंगटन कहा करते थे कि * "वाटरलू की भयङ्कर लड़ाई ईटन-कालेज के खेल के मैदान में जीती गई"। उनके इस कथन का तात्पर्य्य यह है कि विद्यार्थि-दशा में क्रिकेट आदि खेल खेलते समय सैनिक अफ़सरों का उत्तम चरित्र-संगठन हो जाने से वह युद्ध के समय काम आया। आपका यह कथन बहुत ठीक था। व्यायाम और खेलों से खेलनेवालों को कई सद्गुणों का अभ्यास होता है। अपने नाम के लिये नहीं, वरन अपने पक्ष (टीम) वा स्कूल के लाभार्थ, इन खेलों में तन-मन से परिश्रम कर विजय प्राप्त करने की पूर्ण चेष्टा करने से उनकी स्वार्थ-बुद्धि कम होकर पर-हित के लिये कार्य्य करने की टेंव पड़ती है। बड़े होने पर ये ही लोग देश वा जाति की सेवा करने में स्वार्थ-त्याग के अच्छे आदर्श बनते हैं। इसके सिवा जीत न होने

---

* "The battle of Waterloo was won on the playing fields of Eton".

पर अपने चित्त को वश में रखने तथा जीतने-वाले पक्ष के साथ मित्र के समान बर्ताव करने की आदत पड़ जाना कोई छोटी-मोटी बात नहीं है। ठीक रीति से संगठित खेल आचार-नीति-शिक्षा की मानों पाठशाला है।

यह न समझना चाहिये कि हमारे पूर्व्वज खेल की महिमा नहीं जानते थे। अन्य प्रकार के व्यायाम के सिवा वे मृगया (शिकार), घोड़े की सवारी, अस्त्र-शस्त्र-प्रयोग आदि कलाओं को जिनमें व्यायाम के साथ २ मनोरंजन भी होता है, उपयोगी समझते थे। शकुन्तला नाटक में मृगया के गुण इस प्रकार दर्शाये हैं; यथाः—

सवैया।

कछु मेद कटै अरु तुन्दि घटै कटि के जन धावन-जोग बने।
चितवृत्ति पशून की जानि परे भय-क्रोध में लेत लपेट घने।
अति कीरति है धनुधारिन की चलतो यदि बानतें बेधो हने।
मृगयातें भलो न विनोद कोऊ तेहि दोषनमाहि वृथाही गने।

हमारे पूर्व्वजों ने व्यायाम को इतना उपयोगी समझा था कि उसके अभ्यास को विहित धर्म्म-कार्य्य का रूप दे दिया था। देव-दर्शन के लिये मन्दिरों अथवा तीर्थस्थानों को प्रति दिन पैदल जाना, सूर्य्यदेव से कई बार साष्टांग प्रणाम करना, प्राणायाम आदि धर्म्म-कार्य्यों में व्यायाम का समावेश है। सनातन धर्म्म में यही तो बड़ा रहस्य है कि शास्त्रों में व्यायाम, स्वच्छता आदि शरीर से सम्बन्ध रखनेवाली बातों को भी धर्म्म का रूप दे दिया गया है। और, यह ठीक भी है। धर्म्म निरा आध्यात्मिक विषय नहीं है। उसका सम्बन्ध, केवल आत्मा से नहीं, वरन आत्मा, शरीर और अन्तःकरण तीनों से है,

---

धर्म्म का अर्थ मत वा मज़हब भर नहीं, वरन मनुष्य का पूर्ण कर्त्तव्य है; अतएव व्यायाम, स्वच्छता आदि को भी धर्म्म की संज्ञा देना अनुचित नहीं कहा जा सक्ता। वास्तव में ये मनुष्य के शारीरिक धर्म्म हैं।

पाठ ८.

मानसिक शक्तियों का विकाश।

जिस प्रकार व्यायामादि द्वारा शरीर को बल की उच्चतम श्रेणी तक पहुँचाना हमारा धर्म्म है, उसी प्रकार स्मरण, तर्क, कल्पना आदि मन की सारी शक्तियों को विद्याभ्यास द्वारा प्रौढ़ करना भी है। सारांश यह कि मनुष्य को शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक जितनी शक्तियाँ मिली हैं उन सबका पूर्ण विकाश करना उसका कर्त्तव्य है। जो लोग अपने पुत्रों और पुत्रियों को शिक्षा नहीं दिलाते और इस प्रकार उन्हें अपनी शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक शक्तियों का पूर्ण विकाश करने से वञ्चित रखते हैं वे ईश्वरीय इच्छा के विरुद्ध कार्य्य करने और अपने कर्त्तव्य से विमुख होने का पाप अपने ऊपर लादते हैं। ईसाइयों की धर्म्म-पुस्तक में नीचे-लिखा एक रूपक है:—

एक महाजन ने विदेश-यात्रा करने के पहले अपने नौकरों को अपने पास बुलाकर कहा कि "मैं तुम्हारे भरोसे पर अपना धन छोड़े जाता हूँ। आशा है कि तुम लोग उसका अच्छा उपयोग करके उसे रक्षित रक्खोगे।" ऐसा कह कर वह एक नौकर को ५, दूसरे को २, और तीसरे को १

मुद्रा, प्रत्येक के योग्यतानुसार, देकर यात्रा को चला गया। यहाँ उन नौकरों में से पहिले ने अपनी ५ मुद्राएँ व्यापार में लगाकर स्वामी के आते आते १० कर लीं। दूसरे ने भी २ की ४ बनाईं। तीसरा नौकर १ ही मुद्रा मिलने से अपना अपमान समझकर अपने स्वामी पर रुष्ट हुआ और उसने उसका कुछ भी उपयोग न कर उसे ज़मीन में गाड़ दिया।

बहुत दिनों के बाद वह महाजन घर लौटा, और उसने अपने नौकरों से हिसाब माँगा।

पहिला नौकर—स्वामिन्, आपने मुझे जो ५ मुद्राएँ दी थीं, उनसे व्यापार करके मैंने १० बनाई हैं। सो अब आपको सौंपता हूँ।

महाजन—धन्य! तू बड़ा स्वामि-भक्त नौकर है। तूने थोड़े से धन का ऐसा अच्छा उपयोग किया है कि मैं तेरी ईमानदारी और योग्यता देखकर तुझे बहुत से धन का अधिकारी बनाता हूँ। तू अपने स्वामी के आनन्द का भागी हो! अर्थ यह कि स्वामी ने उसे अपने व्यवसाय में साझेदार बना लिया।

दूसरे नौकर से भी उसका स्वामी उतना ही प्रसन्न हुआ, और उसको भी उसने एक बड़े पद पर नियुक्त किया। तीसरे नौकर से जब हिसाब माँगा गया, तो उसने इस तरह कड़ा जवाब दिया—स्वामिन्, मैं आपका स्वभाव भली भाँति जानता हूँ। आप बड़े निष्ठुर हैं; इससे मैंने डर के मारे आपकी दी हुई मुद्रा भूमि में गाड़ रक्खी थी कि कहीं खो न जाय, नहीं तो आप मेरे प्राणों के भूखे हो जायँगे।

स्वामी—रे दुष्ट! तू बड़ा आलसी और असत्यवादी है। यदि तू इसे महाजन के यहाँ अमानत की तरह भी रख देता, तो भी कुछ न कुछ ब्याज मुझे अवश्य मिलता। तूने अपना कर्त्तव्य पूरा नहीं किया; इसलिये तू एक भी मुद्रा रखने के योग्य नहीं है।

इस तरह उस अविश्वासी नौकर से उसके पास जो एक मुद्रा थी वह भी छीन ली गई और पहले को दी गई। महाजन ने उसे नौकरी से भी अलग कर दिया जिससे वह बड़े कष्ट में पड़ गया।

बालको! इस कहानी को भली भाँति समझ लो। यहाँ मुद्रा का अर्थ ईश्वर की दी हुई शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक शक्तियाँ हैं। ईश्वर की यही इच्छा है कि हम लोग उनकी यथेष्ट उन्नति करें, और उनका अच्छा उपयोग करते रहें। स्मरण रहे कि जो मनुष्य इन शक्तियों की उन्नति नहीं करता उससे वे उस तीसरे नौकर की मुद्रा के समान छीन ली जाती हैं।

पाठ ९.

आध्यात्मिक शक्तियों की उन्नति।

शारीरिक और मानसिक उन्नति करना जिस प्रकार प्रत्येक स्त्री-पुरुष का धर्म्म है, उसी प्रकार आध्यात्मिक उन्नति करना भी है। अब आध्यात्मिक उन्नति क्या है सो हम बतलाते हैं। प्रत्येक मनुष्य के हृदय में, चाहे वह सभ्य-शिरोमणि हो, चाहे निरा बर्बर अपने से बड़ी किसी शक्ति में विश्वास होता ही है। निरी बर्बर जातियाँ भी इस शक्ति

को अपना देव मानतीं, और उससे बहुत डरती हैं, अतएव उसे सन्तुष्ट रखने के लिये नर-बलि तक देती हैं। सभ्य जातियों का ज्ञान बहुत उच्च श्रेणी का होता और वे इस दिव्य शक्ति को ईश्वर कहकर उसका आदर तथा प्रेम-पूर्व्वक भक्ति करती हैं। सारांश यह कि मनुष्य-मात्र में, चाहे वह सभ्य हो चाहे असभ्य, अपने से एक बड़ी शक्ति में, किसी न किसी प्रकार का विश्वास होता है, और उसके हृदय में भय, प्रेम, पूज्य-बुद्धि आदि भावों की स्फूर्ति होती है। यह स्फूर्ति शरीर से नहीं, आत्मा से सम्बन्ध रखती है; अतएव उसका नाम आध्यात्मिक स्फूर्ति है। जब इसकी सत्ता मनुष्य-मात्र में किसी न किसी रूप में नैसर्गिक होती है, तो उसे ईश्वरदत्त मानना ठीक ही है; और ईश्वर की इच्छा भी यही मालूम होती है कि मनुष्य उसकी दी हुई मानसिक आदि अन्य २ शक्तियों के समान उसका भी उपयोग करे। मानसिकादि शक्तियों के समान इस शक्ति की उन्नति करना भी मनुष्य का धर्म्म ठहरता है। पूजन, भक्ति आदि धर्म्म-सम्बन्धी सब कार्य्य इसी अभिप्राय से किये जाते हैं। जिसका जो मत अर्थात् मज़हब है उसके विहित कर्म्मों को विधिपूर्व्वक करने से इस स्वाभाविक शक्ति का विकाश अधिक २ होता है।

सारांश यह कि शरीर, मन और जीवात्मा इन तीनों के समावेश का नाम मनुष्य है। इन तीनों की जितनी हो सके उतनी उन्नति करना प्रत्येक मनुष्य का पुरुषार्थ, अर्थात् (मनुष्य) तन धारण करने का प्रयोजन है।

पुराणादि ग्रन्थों के पढ़ने से विदित होता है कि हमारे जिन महात्मा पूर्व्वजों का नाम प्रातःस्मरणीय

समझा जाता है वे भक्त, विद्वान् और सदाचारी होने के सिवा शरीर से भी बलिष्ट होते थे। श्रीराम, भीष्म, अर्जुन, द्रोण, कृष्ण, परशुराम आदि महापुरुष जो अवतारी माने जाते हैं वे क्या क्षत्रिय, क्या ब्राह्मण, सभी अपने शारीरिक बल के लिये प्रसिद्ध थे। श्रीराम की विद्या, बुद्धि, सदाचार और बल उस पूर्णता को पहुँचा था कि उनका पुरुषोत्तम कहलाना बहुत ठीक है। अपने उच्चतम सदाचार के कारण वे मर्य्यादा-पुरुषोत्तम भी कहलाते हैं। बस, इन्हीं महात्माओं के जीवन-चरित्रों का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर शक्ति भर उनका अनुकरण करने से ही मनुष्य इस भव-सागर को पार कर सका है।

शाक्य मुनि, गौतम वा बुद्ध देव भी इस भारतवर्ष के नररत्नों में गिने जाते हैं, यहाँ तक कि पुराणों में उन्हें विष्णु का अवतार माना है। कहते हैं कि आप छुटपन से ही मननशील थे, अर्थात एकान्त में बैठकर विचार किया करते थे, और अपनी अवस्था के बालकों के साथ खेलना-कूदना उन्हें तनिक भी प्रिय न था। पर, यह भी लिखा है कि जब उनके ससुर ने यह प्रण किया कि जो राज-कुमार शस्त्र-विद्या तथा शारीरिक बल में अपनी उच्च श्रेणी की योग्यता प्रमाणित करेगा, उसे ही मैं कन्यादान दूँगा, तो गौतम ने सब एकत्रित राजकुमारों को शस्त्र-विद्या और बल की परीक्षा में परास्त कर अपने को उस राज-कन्या का योग्य वर सिद्ध कर दिखाया था।

योगविद्या का महत्व प्रत्येक हिन्दू स्वीकार करता है। कहा है:—

"नास्ति सांख्य-समं विद्या नास्ति योग-समं बलम्।"

अब योग में जो प्राणायाम आदि कई प्रकार के अंग हैं उनके लिये भिन्न २ प्रकार के आसनों का विधान है। इन आसनों को भी एक प्रकार का व्यायाम ही समझना चाहिये।

इतना सब लिखने से हमारा केवल यह प्रयोजन है कि व्यायाम तथा शारीरिक स्वच्छता के द्वारा शरीर को प्रौढ़, बलवान् तथा नीरोग बनाना और साथ ही मानसिक और आध्यात्मिक शक्तियों की उन्नति शक्ति भर करना प्रत्येक स्त्री-पुरुष का धर्म्म है।

पाठ १०.

ब्रह्मचर्य्य।

हमारे शास्त्रों में तथा देश २ की वैद्यक-विद्या में इन्द्रियों को वश में रखने का उपदेश पाया जाता है। तरुणावस्था प्राप्त करने पर प्रत्येक स्त्री-पुरुष में कामोद्दीपन होता है, और यदि मनुष्य इस प्रबल इच्छा को अपने वश में न रखकर उसके वश हो जाता है, तो धीरे धीरे अपना सर्व्वनाश कर बैठता है। सहस्त्रों नवयुवक अपना चित्त अपने वश में न रखने के कारण संसार में मान-मर्य्यादा, धन-सम्पत्ति आदि खोकर भाँति भाति के भयङ्कर रोगों के लक्ष्य बन जाते और अन्त में असामयिक मृत्यु के मुख में जा पड़ते हैं। प्राणिमात्र में कामेच्छा अन्य सब इच्छाओं से अधिक प्रबल होती है। धर्म्मपूर्व्वक उसकी तृप्ति करने से मनुष्य सन्तानोत्पत्ति करके अपने देश वा जाति की सेवा करता है। कहते हैं कि मनुष्य देवऋण, पितृऋण, और ऋषि-ऋण—इन तीन ऋणों को भोगने के लिये जन्म लेता है:

और शास्त्र-विहित कर्म्म करके देवऋण से, विद्याभ्यास और वेदाध्ययन करके ऋषिऋण से, तथा धर्म्मपूर्व्वक अपनी विवाहिता स्त्री से सन्तानोत्पत्ति करके पितृऋण से मुक्त होता है। इसी कामेच्छा की तृप्ति धर्म्म-विरुद्ध करके वह महापापी बनता, और बहुधा अपना सर्व्वनाश ही कर बैठता है।

हिन्दू शास्त्रों की आज्ञा है कि मनुष्य विवाह करने के पूर्व्व अखंड ब्रह्मचर्य्य धारण करे। ब्रह्मचर्य्य शब्द का क्या अर्थ है? संस्कृत में ब्रह्म का अर्थ 'वेद' है और वेद पढ़ने के लिये जो कुछ जिस प्रकार से किया जाता है वह "ब्रह्मचर्य्य" * कहलाता है। विद्याभ्यास पूर्ण होने तक विद्यार्थि-दशा में वीर्य्य-रक्षा करना बहुत आवश्यक समझा गया है। इससे यह तात्पर्य नहीं कि इसके उपरान्त फिर वीर्य्य-रक्षा की आवश्यकता नहीं है। स्मरण रहे कि वीर्य्य शरीर का राजा है। इसके रहने से मनुष्य बड़े चमत्कार कर सका है, और इसकी बुद्धि, बल, तेजादि का ह्रास न होने से वह सब प्रकार की उन्नति करता जाता है और रोगादि उसके पास नहीं आ सके। विवाह हो जाने पर भी वीर्य्य का व्यय परिमित रूप से करने में ही कल्याण है, उच्छृंखलता तो किसी भी दशा में अच्छी नहीं।

स्मरण रहे कि वीर्य्य का उपयोग तीन प्रकार से होता है; एक तो पाचन-क्रिया में, दूसरे विचारादि मानसिक कार्य्यों में, और तीसरे सन्तानोत्पत्ति में। इससे स्पष्ट है कि वीर्य्य के न रहने किम्वा उसके दूषित हो जाने से ये तीनों कार्य्य नहीं हो सके। विद्यार्थि-दशा में दिन-

* ब्रह्मणे वेदलाभाय चर्य्यते यत् तत् ब्रह्मचर्य्यम्।

रात मानसिक शक्तियों का उपयोग होते रहने से वीर्य्य का व्यय वैसे ही अधिक होता है। पाचन-क्रिया में तो उसका कार्य्य कभी रुकता ही नहीं; अतएव यदि विद्यार्थी उसका व्यय तीसरी रीति से भी करता जाय, तो उसके पूर्णतः नष्ट हो जाने में आश्चर्य्य ही क्या? इसीसे तो विद्याभ्यास के समय ब्रह्मचर्य्य-पालन इतना आवश्यक समझा गया है।

कामेच्छा का नाम "मनोज" या "मनसिज" इसीलिये रक्खा गया है कि उसकी उत्पत्ति मन से होती है। जो युवक अपने मन में इस इच्छा को उत्पन्न होने देता है वह मानो जलती हुई अग्नि में आहुति देता है। अधिक नहीं तो जब तक विवाह नहीं हुआ, तब तक प्रत्येक युवा पुरुष को चाहिये कि इस भयंकर शत्रु से अपने को बचावे। ऐसे-मित्रों के बीच में बैठना जो सदा अश्लील बातें किया करते हैं, उपन्यासादि ऐसी पुस्तकें पढ़ना जिनमें श्रृंगार-रस का वर्णन है, नाच में बैठना, तथा दुश्चरित्रा स्त्रियों का अवलोकन और उनके साथ हास्य-विनोद करना युवा पुरुषों के चरित्र को भ्रष्ट कर डालना है; अतएव इन प्रलोभनों से कोसों दूर भागना ही श्रेयस्कर है:—

घृतकुम्भसमा नारी तप्ताङ्गारसमः पुमान्।
तस्माद् घृतं चाग्निश्च नैकत्र स्थापयेद् बुधः॥

यहाँ नारी से उन स्त्रियों का संकेत है, जिनके संसर्ग से चरित्र-भ्रष्ट होने का भय है, माता, बहिन तथा अन्य साध्वी महिलाओं का नहीं। खेद की बात है कि हिन्दू-समाज के कतिपय भागों में तरुण स्त्री-पुरुषों का चित्त चंचल कर देने वाली कई प्रथाएँ हैं; जैसे, भौजाई, साली, सरहज आदि से अश्लीलता-पूर्ण हँसी-दिल्लगी, विवाहादि

उत्सवों में अश्लील गीत, होली के उत्सव में अश्लील कबीर आदि। ऐसी दशा में कामेच्छा का उभाड़ होने से ब्रह्मचर्य्य पालन करना कठिन हो जाता है। विवाह होने के पूर्व्व इन बातों को मन में आने देना मानो अपने को जान-बूझकर कष्ट में डालना है, और जो मन को वश में न रख सके तो अपने हाथ अपना जन्म बिगाड़ लेना है।

न जाने कितने विद्यार्थी स्वाभाविक अथवा अस्वाभाविक रीति से वीर्य्य का नाश करके एक तो विद्याभ्यास में सफल होने के योग्य नहीं रहते, दूसरे जिस क्षणिक सुख की आशा से वे अपना धर्म्म भूल जाते हैं कालान्तर में उसी सुख को भोगने के योग्य नहीं रहते। हाय! कैसे दुःख की बात है कि हम लोग ब्रह्मचर्य्य-व्रत को इतना भूल गये हैं कि अपनी सन्तान को उसके पालन का उपदेश देने में लजाते हैं। शिक्षकगण भी समझते हैं कि परीक्षा पास करा देना मात्र हमारा कर्त्तव्य है। अब रहे मित्र, सो वे तो उलटी पट्टी पढ़ाया ही करते हैं। हमारे युवक तथा युवतियाँ इस विषय में नितान्त अनभिज्ञ रहने से अपना कर्त्तव्य नहीं समझतीं। भला कहीं एक अन्धा किसी दूसरे अन्धे को मार्ग बता सकता है?

ब्रह्मचर्य्य की महिमा बहुत बड़ी है। कहते हैं कि जब वीरवर रावण और हनुमान के बीच युद्ध हुआ और दोनों दिन भर मल्ल-युद्ध करते रहे, पर एक भी न हारा तो रावण ने हनुमानजी से यह प्रस्ताव किया कि तुम मुझे एक मुक्का मारो और फिर मैं तुम्हें मारूँगा, इसी से हमारे बल की परीक्षा हो जायगी। इसपर रावण के मुक्के से हनुमानजी को तो केवल ज़मीन टेक लेनी पड़ी; पर उनके मुक्के से रावण मूर्च्छित हो गया। जब वह मूर्च्छा से जागा

तो महावीर हनुमानजी के बल की बड़ी प्रशंसा करने लगा। इसपर हनुमानजी ने उत्तर दिया कि मुझमें कोई बल नहीं है, यह तो मेरे स्वामी श्रीराम की कृपा का फल है। तब रावण ने बात काटकर कहा कि यह तुम्हारी भूल है, यह तुमने बाल-ब्रह्मचारी रहने से पाया है। स्मरण रहे कि मनुष्य की शारीरिक, मानसिक आदि सब प्रकार की उन्नति इसी एक आधार पर अवलम्बित है; अतएव ब्रह्मचर्य-पालन मनुष्य का प्रधान कर्त्तव्य है।

पाठ ११.

वशेन्द्रियता।

मन ही सुख और दुःख का भोक्ता है, और इन्द्रियाँ उसके सेवक वा हथियारों के समान हैं। जिस इन्द्रिय द्वारा जिस सुख का भोग किया जाता है वह सुख उस इन्द्रिय का विषय कहलाता है। इन्द्रियों द्वारा होने वाला सुख विषय-सुख कहलाता है। आहार, निद्रा, मैथुनादि सुख भी सुख-दुःख के कारण होते हैं। ये सब मनुष्य के स्वाभाविक व्यापार हैं और इनके द्वारा सुख भोगने की इच्छा भी मनुष्य में स्वाभाविक ही होती है। विषय-सुख-भोग कभी अच्छा होता है और कभी बुरा। हमारे सनातन धर्म में तो इसकी गणना पुरुषार्थ में की गई है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन्हीं चार पदार्थों का नाम पुरुषार्थ है, अर्थात् ये ही चार पुरुष के शरीर धारण करने के अर्थ अर्थात् प्रयोजन हैं। धर्म-पालन, अर्थ अर्थात् द्रव्योपार्जन, काम अर्थात् विषय-सुख-भोग. और मोक्ष—इनकी प्राप्ति के लिये मनुष्य जन्म लेता है। इससे स्पष्ट है विषय-सुख-भोग सर्वथा

त्याज्य नहीं समझा गया। पर, यदि पाप कर्मों की नामावली रची जाय, तो बहुतों का सम्बन्ध विषय-सुख से ही निकलेगा। भोजन तो पाप नहीं है; पर किसी दूसरे का भोजन छीनकर खा लेना सरासर पाप है। पेय पदार्थों में जल पीना तो पाप नहीं कहाता; पर मदिरा-पान अवश्य निषिद्ध समझा जाता है। इसी तरह अपनी स्त्री से प्रेम तथा सन्तानोत्पत्ति करना पाप नहीं, बरन कर्त्तव्य है, क्योंकि वह पितृऋण से मुक्त करता है; पर पर-स्त्री-गमन महापाप कहलाता है। फिर भी पुण्य-पाप, धर्माधर्म का यह भेद केवल मनुष्य के पीछे लगा है, न कि पशुओं के; क्योंकि मनुष्य में विवेक है, पशुओं में नहीं है।

अब देखना है कि ये स्वाभाविक कार्य्य किस दशा में अच्छे हैं और किस दशा में बुरे। कह आये हैं कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का नाम पुरुषार्थ है। अब ये चार शब्द जिस क्रम से बोले जाते हैं उससे मालूम हो सक्ता है कि अर्थ और काम अर्थात् द्रव्योपार्जन और विषय-सुख धर्म और मोक्ष के बीच में रक्खे गये हैं जिससे यह अर्थ निकलता है कि ये दो तभी करने योग्य होते हैं जब धर्मपूर्वक किये जाते हैं और उनके करने से पुरुषार्थ के सबसे अधिक महत्व-पूर्ण अंग मोक्ष में बाधा नहीं पड़ती।

जिस प्रकार जन-समाज में रहकर जिन कार्य्यों के करने से दूसरों को व्यर्थ हानि पहुँचती है वे बुरे कहलाते हैं, उसी प्रकार इन्द्रियों के कार्य्य स्वाभाविक होने पर भी अधर्म हैं। मनुष्य का अन्तःकरण भी एक छोटा सा राष्ट्र है। उसमें जीव राजा है। सदसद्-विवेक-बुद्धि न्यायाधीश है। शरीर और कर्मेन्द्रियाँ प्रजावर्ग है। विवेक-

बुद्धि व्यवस्था भी देती और न्याय भी करती है। तर्क-शक्ति वकील है। इस राज्य में भी प्रजा का धर्म्म है कि वह किसी व्यवस्था (क़ानून) का उल्लंघन न करे और न उसका कोई भी कार्य्य विवेक-बुद्धि-रूपी न्यायाधीश की दी हुई व्यवस्था के विरुद्ध होने पावे।

अब हम उक्त कथन को एक दृष्टान्त द्वारा समझावेंगे। मान लो कि आज दो दिन से तुम निराहार हो। क्षुधा से व्याकुल होने के कारण तुम्हारा शरीर छट-पटा रहा है। ऐसी दशा में तुमने हलवाई की दूकान में अच्छे २ भोज्य पदार्थ देखे। देखते ही तुम्हारे मुँह में पानी आने लगा। जीभ ने तीव्र प्रेरणा की कि नज़र छिपाकर अथवा ऐसा ही है, तो हलवाई को मार पीटकर क्षुधा से होने वाले इस महान् कष्ट की निवृत्ति करो। भूख-प्यास लगने पर खाना-पीना तो अवश्य ही एक स्वाभाविक बात है। ऐसी दशा में पशु तो भले-बुरे का कुछ भी विचार न करके अपना पेट भरने लगते हैं। कई मनुष्य ऐसी दशा में विवेक-बुद्धि का तिरस्कार कर अपने को अपराधी बना बैठते हैं; पर जिन लोगों ने अपनी इन्द्रियाँ वश में कर ली हैं, जिन्होंने आत्म-संयमन का अभ्यास पूर्ण रीति से किया है वे पहले इस बात का निश्चय करते हैं कि यह कार्य्य उचित है अथवा अनुचित। तर्क-शक्ति उनसे कहती है कि ऐसा करने से समाज-संगठन को भारी हानि पहुँचेगी। हम हलवाई से सबल तो हैं और उसे मार-पीटकर अथवा भय दिखाकर उसकी मिठाई ले सकते हैं; पर ऐसा करने से दूसरे लोग भी हमारा अनुकरण करने लगेंगे, जिससे समाज-बन्धन शिथिल हो अन्त में नष्ट हो जायगा। तर्क-शक्ति-रूपी वकील की यह सम्मति न्यायाधीश विवेक-बुद्धि को भी ठीक जँचेगी और वह यही आज्ञा देगा कि तुम भूख सह लो; पर

ऐसा अपराध न करो। ऐसा करने से तुमको हानि उठानी पड़ेगी और जन-समाज को भी।

अब देखना चाहिये कि ऐसी दशा में तुम्हारा कर्त्तव्य क्या है? यहाँ तो भूख के कारण मन प्रेरणा कर रहा है कि जो हो, क्षुधा-निवृत्ति कर ही डालनी चाहिये और तर्क तथा विवेक-बुद्धि कहती है कि नहीं, ऐसा करना अनुचित है। इन्द्रियाँ तो अन्धी होती हैं। भला वे कहीं मार्ग बतला सक्ती हैं? यदि हम उनकी प्रेरणा से, पशुओं के समान स्वेच्छाचारी बन जाँय, तो हममें विवेकादि शक्तियों का होना निष्फल ही ठहरा। तब तो हम निरे पशु ही ठहरे, मनुष्य नहीं। पशु बनना तो कोई नहीं चाहता; पर देखा जाता है कि ऐसी दशा में बहुतेरे अपना मनुष्यत्व खो बैठते और हम देखते हैं कि बड़े२ विद्वान् भी जो धर्म्माधर्म्म का पूर्ण ज्ञान रखते हैं बहुधा प्रलोभन में पड़कर बुरे काम कर बैठते हैं। इसका कारण? बहुतेरे लोग कहा करते हैं कि ऐसे विद्वान् से ऐसा कुत्सित कार्य्य कैसे बन पड़ा? पर इसमें आश्चर्य्य कैसा? हमने माना कि विद्वान् होने से तर्क-शक्ति और विवेक-बुद्धि का संस्कार भली भाँति हो जाता और विद्वान् पुरुष सत्यासत्य तथा धर्म्माधर्म्म का विवेचन भी भली भाँति कर सक्ता है; पर इस विवेचन के अनुसार कार्य्य करने के लिये संकल्प-शक्ति भी तो बलवती होनी चाहिये। मान लो कि न्यायाधीश ने आज्ञा दी कि अमुक अपराधी ६ मास के लिये कारावास-दण्ड भोगे। पुलिस-वाले उसे कारावास ले चले; पर यदि वह उनसे सबल हुआ, तो उन्हें मार पीटकर भाग जायगा और न्यायाधीश की आज्ञा का पालन न हो सकेगा। इसी तरह यदि संकल्प-शक्ति निर्बल हुई तो विवेक-बुद्धि कुछ न कर सकेगी

और इन्द्रियादि संकल्प-शक्ति को दबाकर अपना काम कर ही लेंगी।

इन्द्रिय-निग्रह वा वशेन्द्रियता तभी सिद्ध हो सकती है जब संकल्प-शक्ति प्रौढ़ हो। इसकी प्रौढ़ता अभ्यास पर निर्भर है। बार २ प्रसंग आने पर इन्द्रियों का दमन करते जाने से यह शक्ति बल पकड़ती है और कालान्तर में इतनी प्रबल हो जाती है कि फिर इन्द्रियों की प्रेरणा मनुष्य का कुछ नहीं कर सकती। पर, जो इसका उपयोग न किया गया तो यह इतनी शिथिल हो जाती है कि अवसर आने पर उसका उपयोग नहीं हो सकता। देखा जाता है कि जिन लोगों को कोई बुरी टेंव पड़ गई है वे बहुत प्रयत्न करने पर भी उसे नहीं छोड़ सकते। यदि दो-चार बार भी वे अपनी संकल्प-शक्ति को पक्की रखकर आदत के अनुसार कार्य्य न करें तो आशा है कि कुछ दिनों में उनकी वह आदत छूट भी जाय; पर कुशल तो इसीमें है कि टेंव पड़ने ही न पावे। बस, संकल्प-शक्ति को प्रौढ़ करना ही आत्मसंयमन वा वशेन्द्रियता है। दुष्ट स्त्रियों के प्रलोभन से बचना बहुत कठिन बात है; पर असम्भव नहीं। जिन लोगों को अपना विश्वास नहीं है उन्हें चाहिये कि ऐसा अवसर ही कभी न आने दें। जिन लोगों की संकल्प-शक्ति प्रबल है उन्हें भी ऐसी सङ्गति से दूर रहने में ही अपनी कुशल समझनी चाहिये; क्योंकि बुरी सङ्गति से हानि अवश्य होती है और जो न भी हुई, तो लाभ भी नहीं होने का।

पाठ १२.

शारीरिक पवित्रता (१)

शारीरिक पवित्रता से हमारा प्रयोजन अपने को अनुचित काम-क्रीड़ा के वशीभूत न होने देने में है। जो युवक विवाह होने के पूर्व अखण्ड ब्रह्मचर्य-व्रत धारण करता है और जिसका मन इतना शुद्ध रहता है कि उनकी दृष्टि में सभी स्त्रियाँ मा-बहिन के तुल्य होती हैं और विवाह हो जाने पर भी वह लम्पटता से बचा रहता है तथा अपनी धर्म्म-पत्नी के शुद्ध एवं पवित्र प्रेम से सन्तोष रखता है वही शरीर से पवित्र कहलाता है। इस शारीरिक पवित्रता की पूर्ण रक्षा करना प्रत्येक स्त्री-पुरुष का कर्तव्य है।

संसार में ऐसे कई मनुष्य मिलेंगे जो अपने को इस विषय के पूर्ण ज्ञाता समझते हैं और अपना मत इस तरह प्रगट करते हैं:—

कामेच्छा मनुष्य तथा पशु-पक्षियों में स्वाभाविक होती है; अतएव उसकी तृप्ति न होने से शरीर को हानि पहुँचना कोई आश्चर्य्य की बात नहीं है। जिस तरह भूख लगने पर भोजन करना, प्यास लगने पर पानी पीना तथा अन्य स्वाभाविक शारीरिक क्रियाओं को समय २ पर करते रहना आवश्यक है, उसी प्रकार कामेच्छा की तृप्ति भी आवश्यक है। कुछ डाक्टरों तक का ऐसा भयङ्कर मत है, जिसके कारण अनेक तरुण पुरुष स्वास्थ्य खो बैठने के डर से व्यभिचारी बन जाते हैं। कोई २ तो यहाँ तक डरावनी देते हैं कि अटल ब्रह्मचर्य्य से रहनेवाला मनुष्य पुत्रोत्पादक शक्ति ही खो बैठता और कई रोगों का शिकार बन जाता है।

स्मरण रक्खो कि यह भयङ्कर मत सभी डाक्टरों का नहीं है। हमारे पूर्वज ऋषि-गण तो अखण्ड ब्रह्मचर्य्य की महिमा मुक्त कण्ठ से गाते ही हैं। ऐसी दशा में किसका मत अधिक विश्वसनीय है? मेरी समझ में तो वीर्य्य-रक्षा बहुत ही आवश्यक बात है। ब्रह्मचर्य्य-व्रत से लाभ ही होता है, हानि नहीं—लेशमात्र नहीं। हमारे ऋषियों ने यह लाभ अपने अनुभव से देखा है, तब ब्रह्मचर्य्य की इतनी प्रशंसा की है। उनका कथन है कि प्राणिमात्र में कामेच्छा केवल सन्तानोत्पत्ति के लिये है, न कि विषय-सुख के लिये। पशु-पक्षियों का व्यवहार भी इसी कथन की पुष्टि करता है। इनमें जब सन्तानोत्पत्ति का समय आता है, तभी नर-मादा का सह-वास देखा जाता है; पर मनुष्य जो सृष्टि में अपने को सब प्राणियों में श्रेष्ठ समझता है प्राकृतिक उद्देश्य के विरुद्ध कार्य्य करता है।

हमारे शास्त्र-कारों का यह मत है कि वीर्य्योत्पादक गिल्टियाँ अपना स्वाभाविक कार्य्य करती ही रहती हैं और वीर्य्य का बाह्य व्यय न होने पर वह जैसे २ उत्पन्न होता है वैसे २ शरीर में भिदता जाता है और प्रत्येक अङ्ग तथा मस्तिष्क में पहुँचकर उन्हें पुष्ट करता, पाचन-शक्ति को बढ़ाता, मानसिक क्रियाओं में बल एवं तीव्रता लाता और कान्ति की वृद्धि करता है। जिस प्रकार मुँह में भोजन जाने से अथवा भोज्य पदार्थों का स्मरण-मात्र होने से मुँह के समीप की गिल्टियों में से लार की उत्पत्ति आपही आप होने लगती है उसी प्रकार मन में कामुक विचार आने से वीर्य्य भी बहिर्मुख होता है। इससे स्पष्ट है कि कामुक विचार ही इस इच्छा के उत्पादक और उसे प्रबल करने वाले होते हैं। इसीसे काम को "मनोज" वा "मनसिज"

कहा है; क्योंकि इसकी उत्पत्ति मानसिक विचारों से ही हुआ करती है।

अब यह समझना कठिन नहीं है कि जो मनुष्य सच्चा जितेन्द्रिय है और अपने मन में कामुक विचारों को स्थान ही नहीं देता उसपर कामेच्छा की प्रबलता अपना प्रभाव नहीं जमा सकती। जिनके विचार अपवित्र होते हैं और जो उठते-बैठते इसी ध्यान में लगे रहते, बातचीत भी इसी विषय पर करते और पुस्तकें भी इसी सम्बन्ध की पढ़ते हैं उनके लिये वशी होना असम्भव है। मनुष्य जिस बात को चाहता ही नहीं वह कैसे हो सकती है? ऐसे दुराचारी स्वच्छन्द व्यभिचार में पड़े रहकर अपनी आदत बिगाड़ लेते हैं और टेव पड़ जाने के कारण विषय-सुख न मिलने से चंचल या व्याकुल होते हैं। ऐसे लोग ब्रह्मचर्य-पूर्वक रहने से अस्वस्थ भी हो जायँ तो आश्चर्य ही क्या; पर यह अस्वस्थता ब्रह्मचर्य-रक्षा से नहीं, प्रत्युत उसके खो बैठने से होती है। जिन लोगों को भङ्ग, गाँजा, मदिरा आदि किसी मादक वस्तु का दुर्व्यसन हो जाता है वे भी निर्दिष्ट समय पर "अमल" न मिलने से बड़ा क्लेश उठाया करते हैं; पर इससे यह तो सिद्ध होता नहीं कि नशा करना स्वाभाविक नियम है; अतएव उसका पालन हमारा शारीरिक धर्म है। जिस तरह सब कष्ट सहकर नशे की आदत छोड़ देने में ही नशेबाजियों का कल्याण है उसी तरह व्यभिचारियों का भला व्यभिचार त्यागने में ही है, न कि इस दुर्व्यसन को बढ़ाने में।

यह निश्चय कर जानो कि यदि मन में कुइच्छाओं को स्थान ही न मिलेगा, आँख आदि इन्द्रियों को इस इच्छा के उत्पन्न करने वाले दृश्य ही देखने में न आवेंगे अथवा आ भी जाँय तो मन न डुलने पावेगा, तो फिर आदत ही क्यों

बिगड़ेगी? और, आदत न बिगड़ने से ब्रह्मचर्य्य-पालन के कारण न तो कष्ट ही होगा और न किसी प्रकार का रोग ही उत्पन्न होगा।

हम ऊपर लिख चुके हैं कि यदि वीर्य्य का अप-व्यय न किया जाय, तो वह शरीर एवं मस्तिष्क में सञ्चित होता रहता है और उसका व्यय पाचन-क्रिया तथा मान-सिक व्यापारों में ही होता है। जो लोग अत्यन्त लम्पट या व्यभिचारी हो जाते हैं और विद्यार्थि-अवस्था में ही ऐसे कुसंस्कार करते हैं उनका मस्तिष्क निर्बल हो जाता और मानसिक शक्तियाँ अपना २ कार्य्य करने में असमर्थ हो जाती हैं। इसीसे वे इतना रटते; पर उन्हें पठित विषय का स्मरण नहीं रहता। इन लम्पटों में वीर्य्य का संचय कम हो जाने से वे साधारण भोजन पचाने में भी असमर्थ हो जाते और धीरे २ रोगी होकर मर भी जाते हैं।

यह तो स्वाभाविक रीति से वीर्य्य खोने की बात है। अस्वाभाविक रीति से उसको खोना और भी भयङ्कर है। यह भयङ्कर टेंव हमारे नवयुवक अविवाहित विद्यार्थियों में बहुत पाई जाती है और उन्हें इस तरह आत्म-घात करने से रोकने का प्रयत्न न तो माता-पिता ही करते हैं और न शिक्षक। इस दूषित टेंव के दुष्परिणाम के स्मरण-मात्र से हृदय काँप उठता है।

पाठ १३

शारीरिक पवित्रता (२)

प्राचीन समय में यूनान के स्पार्टा नामक प्रदेश में कई तेजस्वी, वीर, पराक्रमी तथा प्रतिभा-संपन्न पुरुष हो

गये हैं। यूनान के इतिहास से यह स्पष्ट विदित होता है और उसी में उनके ऐसे असाधारण पुरुष होने का कारण भी मिल सकता है। लिखा है कि स्पार्टा-निवासी पुरुष ६० वर्ष की और स्त्रियाँ ३० वर्ष की अवस्था तक व्यायाम करतीं और ब्रह्मचर्य्य का पालन करती थीं। इस अवस्था से कम के स्त्री-पुरुषों का विवाह वहाँ के कानून द्वारा वर्जित था। विवाह हो जाने पर भी दम्पती थोड़े ही समय के लिये एक साथ रहते थे। अब कहिये, यदि व्यभिचार की वृद्धि करने वाले उन डाक्टरों का कथन सत्य समझा जाय जो कहते हैं कि स्त्री-पुरुष-सहवास स्वाभाविक होने से उससे बचने का प्रयत्न करने वाले मानों प्रकृति-माता से युद्ध ठानते हैं, तो स्पार्टा-निवासियों की दशा तो अत्यन्त शोचनीय होनी चाहिये थी; पर बात उलटी थी।

इससे स्पष्ट है कि वशेन्द्रिय पुरुष को अखण्ड ब्रह्मचर्य्य धारण करने से भी स्वास्थ्य-हानि नहीं, बल्कि स्वास्थ्य-लाभ ही होता है। जिन्हें सन्तानोत्पत्ति की इच्छा न हो वे यदि विवाह ही न करें तो कोई हानि नहीं है; पर हों वशी। हाँ, इस प्रकार की वशेन्द्रियता है तो कठिन; पर असम्भव नहीं है। हमारे पुराण ग्रंथों में वशेन्द्रिय होने की कठिनाई और साथ ही वशेन्द्रिय महापुरुषों के अनेक आख्यान पाये जाते हैं। साथ ही उन महात्माओं के दृष्टान्त भी मिलते हैं जो बहुत काल पर्य्यन्त अखण्ड ब्रह्मचर्य्य धारण करने पर भी कभी कभी अपने को नहीं सम्हाल सके और पतित हो गये हैं। गृहस्थ होकर भी संयमपूर्वक रहने में ही मनुष्य का कल्याण है। नवयुवक तरुण पुरुषों को सदा स्मरण रखना चाहिये कि विवाह-बन्धन में पड़ने का प्रधान उद्देश्य सन्तानोत्पत्ति ही है। यह हमारे यहाँ धर्म्म-

कार्य्य समझा गया है, और वास्तव में है भी। देश और जाति की सुदशा बलिष्ठ और बुद्धिमान् सन्तान ही पर निर्भर है; अतएव जो लोग ऐसी सन्तति उत्पन्न करते हैं वे मानों अपने देश को एक अच्छा पुरस्कार प्रदान करते हैं।

अटल ब्रह्मचर्य्य-पालन और संयम-पूर्वक गृहस्थी-निर्वाह तभी सम्भव है जब हम व्यायामादि द्वारा अपना शरीर प्रौढ़ बनावें और पर-स्त्रियों की ओर इस तरह पवित्र भाव से देखें मानो वे हमारी माताएँ वा बहिनें हैं।

मातृवत् परदारेषु परद्रव्येषु लोष्ठवत्।
आत्मवत् सर्व्वभूतेषु यः पश्यति स पंडितः॥

अर्थात्, जो पर-स्त्रियों को अपनी माता की नाईं, पर-द्रव्य को मिट्टी के ढेले की नाईं, और समस्त प्राणियों को अपनी नाईं देखता है वही पण्डित अथवा बुद्धिमान् है"।

यदि कोई सच्चे हृदय से ब्रह्म-चर्य्य-रक्षा में तत्पर होना चाहे, तो उसे कुइच्छाओं को अपने हृदय में न आने देना चाहिये। स्मरण रहे कि जिस युवक का पैर एक बार भी फिसला निस्संदेह वह बार २ फिसलता ही रहेगा। उसकी संकल्प-शक्ति अवश्य ही निर्व्वल होती जायगी जिससे वह प्रलोभनों में पड़कर अपने चञ्चल हृदय को वश में न रख सकेगा। संकल्प-शक्ति दुर्व्वल हो जाने से वह जो अपराध न करे सो थोड़ा है। इस प्रकार के प्रलोभन ही अन्य धर्मों के शैतान और हमारे यहाँ के षट्-रिपु हैं। इस दुष्ट शैतान अथवा इन षट्-रिपुओं के फन्दे में पड़कर मनुष्य अपने को कठिनाई से बचा सकता है। यदि कभी ऐसे विचार मन में आवें तो अन्य विषयों का चिन्तन करने से वे तुरन्त

भूल जाते हैं। यदि तुम सचमुच अपने हृदय और शरीर को पवित्र रखना चाहते हो तो ऐसे मित्रों के पास मत बैठो जो गन्दी बातचीत करते हों, ऐसे नाटक या उपन्यास भी मत पढ़ो जिनमें दुष्ट स्त्री-पुरुषों के चरित्रों के चित्र खींचे गये हों। ऐसी बुरी पुस्तकों के पढ़ने का असर बुरी सगतिके असर से भी बुरा होता है।'

पाठ १४.

वशेन्द्रियता वा आत्म-संयमन के दृष्टान्त।

(१) आत्म-संयमन के अनेक दृष्टान्त हैं। श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मणजी आत्म-संयमन के आदर्श हैं। एक बार जब आप वनवास करते थे, तो रावण की दुश्चरित्रा बहिन शूर्पणखा ने आकर श्रीरामचन्द्रजी से अपनी कुत्सित इच्छा प्रगट की। श्रीराम ने उस दुष्टा राक्षसी के निवेदन को स्वीकार नहीं किया। इसके बाद वह लक्ष्मणजी के पास गई। उन्होंने भी उसे महा निर्लज्जा और साधु पुरुषों को पाप-पङ्क में फँसाने-वाली तथा स्त्री-जाति को कलङ्क लगाने-वाली समझ भयङ्कर दण्ड दिया। वे राजा थे; अतएव उस समय के रीत्यनुसार दण्ड देना उनके लिये उचित ही था; पर हम लोगों को उनके चरित्र से इतनी ही शिक्षा लेनी चाहिये कि हम ऐसी दुष्टाओं के प्रलोभन में कभी न आवें। उनके नाक-कान काट लेने का अधिकार हमको नहीं है। ऐसी निर्लज्ज दुष्टाओं की भर्त्सना-मात्र उनके नाक-कान काटने के तुल्य है।

(२) श्रीभोलानाथ महादेवजी का आत्म-संयमन तो और भी उग्र था। कथा है कि आपने अपने तीसरे नेत्र

से कामदेव को भस्म ही कर डाला था। हम लोगों का भी तो तीसरा नेत्र विद्यमान् है, अर्थात् हमें चाहिये कि जब हमारे दो चर्म्म-चक्षु हमको किसी कुत्सित प्रलोभन में डालें तो हम ऐसी दशा में अपने तीसरे नेत्र अर्थात् विवेक-बुद्धि द्वारा अपनी कुइच्छा का दमन करें। महात्मा सूरदास के समान अपनी आँखें फोड़ डालने से यह अच्छा है।

(३) महात्मा अर्जुन ने भी इन्द्र के यहाँ रहते हुए प्रलोभन में डालनेवाली उर्वशी अप्सरा के प्रयत्न को बड़े धैर्य्य और चतुराई के साथ निष्फल करके अपनी वशेन्द्रियता का महत्व प्रदर्शित किया था।

(४) बैबिल की प्रथम पुस्तक 'उत्पत्ति' में याकूब के सबसे छोटे पुत्र यूसुफ़ की कथा में भी वशेन्द्रियता का पूर्णादर्श दिखाई देता है। पिता का स्नेह अधिक देख मारे ईर्ष्या के बेचारे यूसुफ़ को उसके ११ भाइयों ने मिलकर विदेशी व्यापारियों के हाथ बेच डाला। ये लोग उसे मिश्र देश को ले गये और वहाँ के राजा फिराऊन के एक उच्च कर्म्मचारी पाटिफर को उसे बेचा। पाटिफर ने यूसुफ़ की बुद्धिमानी से प्रसन्न हो अपने घर का सारा प्रबन्ध उसे सौंप दिया। पाटिफर की स्त्री दुश्चरित्रा थी। उसने तरुण यूसुफ़ को हर तरह से प्रलोभन में डालने का प्रयत्न किया। यूसुफ़ जानता था कि इस दुष्टा के कहने के अनुसार न चलने से मेरी दुर्दशा होगी; पर वह तो साधु पुरुष था, भला वह ऐसा पाप और अपने स्वामी के साथ ऐसा विश्वास-घात कैसे कर सक्ता था। साधु यूसुफ़ ने जब उस दुष्टा की इच्छा पूर्ण न की तो वह उससे बहुत रुष्ट हुई और अपने भोले-भाले पति से यह कहकर कि इस दुष्ट युवक ने मेरे साथ

बलात् दुष्कर्म्म करने की चेष्टा की थी उसे कारावास-दण्ड दिला दिया। यूसुफ़ ने यह सब कष्ट सह लिया; पर अपने सत्य को तनिक भी डिगने नहीं दिया, जिसका फल उसे पीछे से बहुत ही अच्छा मिला, अर्थात् अपने सद्गुणों के बल से वह समयान्तर में राजा फिराऊन का प्रधान मन्त्री बनाया गया और अकाल पड़ने के समय उसने अपने कुटुम्ब की रक्षा करते हुए अपने दुष्ट भाइयों की बदी का बदला नेकी से दिया।

(५) दिल्ली की सुलताना रज़िया बेगम के बुरे प्रस्ताव को अस्वीकार कर याकूब नाम सेनापति ने भी अपने आत्म-संयमन का अच्छा आदर्श दिखलाया था जो प्रत्येक युवा पुरुष के लिये अनुकरणीय है।

पाठ १५.

विचार और दुष्कर्म्म।

पिछले पाठ में यह दिखलाया है कि मनोविकारों, इन्द्रियों और विवेकादि शक्तियों का आदेश मानना हमारा कर्त्तव्य है। जिस मनुष्य में श्रीराम, लक्ष्मण, अर्जुन, यूसुफ़, याकूब आदि प्रसिद्ध महापुरुषों के समान यह गुण है वह वशी या आत्म-संयमी कहलाता है। कोई भी कार्य्य इच्छा हुए बिना नहीं किया जाता। मनुष्य को चाहिये कि अपने मन को ऐसा वश में रक्खे कि एक तो किसी प्रकार की बुरी इच्छा होने ही न पावे अथवा होवे भी तो वह तुरन्त उसका दमन कर सके। हमने माना कि ऐसा कहना तो बहुत ही सहज है; पर करना बात दूसरी है। "सौ में

सती, लाख में जती" की कहावत प्रसिद्ध है। मनुष्य के मन की उपमा एक चंचल जानदार तरुण घोड़े के साथ दी जाती है। ऐसे घोड़े पर सवारी करके उसे वश में रखना एक चतुर चाबुक-सवार का ही काम है। यह चतुराई अभ्यास से ही प्राप्त होती है और अभ्यस्त चाबुक-सवार जिस तरह चपल से चपल बछेरे को अपने वश में लाकर उससे मनमाना काम लेता है, उसी तरह मनुष्य भी अभ्यास द्वारा चंचल से चंचल मन को कुइच्छाओं से दूर रख सक्ता है। अभ्यास से संकल्प-शक्ति पुष्ट हो जाती है; पर यह तभी संभव है जब बहुत ही छोटी अवस्था से ही मनुष्य उसका उपाय करता रहे। देखने में आया है कि जो मनुष्य एक बार भी कुमार्ग से जाता है उसे सुमार्ग से चलना कठिन हो जाता है; पर जो मनुष्य बहुत समय तक कुत्सित विषय-सुख में फँसा रहा है उसकी संकल्प-शक्ति इतनी निर्बल हो जाती है कि उसका सुमार्ग से चलना बहुत ही कठिन हो जाता है। यही कारण है कि बाल्य तथा कौमारावस्था में ही चरित्र का संगठन सम्भव है, प्रौढ़ावस्था में नहीं।

नये वृक्ष की ज्यों छड़ी मनमानी लच जाय।
सूखे पै पुनि ना नवै कोटिन किये उपाय॥

बालकों तथा कुमारों के चरित्र-संगठन का भार उनके माता-पिता, पुरा-पड़ोसी और शिक्षकों पर रहता है।

अपने मन को एकाग्र करने का अभ्यास बालकों को निरन्तर करते रहना चाहिये। जिस मनुष्य में अभ्यास द्वारा यह शक्ति आ जाती है वह सुचरित्र तथा विद्वान् होकर अपने जीवन को सार्थक कर सक्ता है। इसीसे तो हमारे

पूर्व्वजों ने योग-शास्त्र की रचना की है। मनो-निग्रह और एकाग्रता ही इस शास्त्र के प्रधान विषय हैं। कुइच्छा उत्पन्न होते ही मनुष्य के हृदय की प्रवृत्ति दुष्कर्म्मों की ओर दौड़ती है। यदि उसकी संकल्प-शक्ति में बल नहीं होता, तो वह उन कुइच्छाओं को नहीं रोक सक्ता और उसके मन में बुरे विचार निरन्तर भूला करते हैं। इन विचारों की शक्ति इतनी बढ़ जाती है कि वह विवश हो दुष्कर्म्मों में प्रवृत्त होता है। वह कितना ही पश्चात्ताप क्यों न करे; पर अवसर आने पर फिसल ही जाता है। जिस मनुष्य ने निरन्तर अभ्यास द्वारा अपने मन को वश कर लिया है वह कुइच्छा होते ही उसे किसी अन्य विचार में लगा देता है जिससे वह कुइच्छा तुरन्त विस्मृत हो जाती है।

कुत्सित विचारों को मन में स्थान देने से मनुष्य अवश्य ही दुश्चरित्र हो जाता है। ऐसे विचारों को मन में लाने से वह मनसा-पाप का अपराधी बन जाता है। कोई यह न समझे कि मनसा-पाप से, अर्थात् मनमें पाप लाने से, कोई हानि नहीं है। जिसका चित्त कुत्सित विचारोंसे कलुषित रहता है वह अवसर पाने पर दुष्कर्म्म से कदापि नहीं बच सक्ता। इसीसे प्रभु यीशुमसीह ने कहा है कि "यदि तेरी आँख किसी दूसरे की स्त्री पर पड़ने से तेरे मन में कुइच्छा उत्पन्न हो तो तू अपने मन से पाप कर चुका। यदि तेरी आँख तेरे मन में कुइच्छा उत्पन्न करे तो तू उसे निकालकर फेंक दे"। महात्मा सूरदास ने ऐसा कर ही दिखाया था। किसी रूपवती तरुणी को देखकर उनके हृदय में कुइच्छा उत्पन्न होती थी; अतएव इस मनसा-पाप से बचने के निमित्त उन्होंने आँखें ही फोड़ डालीं और सूरदास के नाम से प्रसिद्धि पाई।

पाठ १६.

षट्-रिपु-निग्रह ।

क्रोध ।

काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, और मात्सर्य्य ये षट्-रिपु अर्थात् मनुष्य के ६ शत्रु कहलाते हैं, जिनका निवास-स्थान उसका मन है। यदि इनमें से एक भी प्रबल हो गया तो मन उसका दास बन जाता है: अतएव इनमेंसे प्रत्येक को अपने वश में रखना मनुष्य का कर्त्तव्य है। काम के विषय में तो बहुत कुछ कहा जा चुका है। क्रोध में आकर भी मनुष्य बड़े २ पाप तथा अपना सर्व्व-नाश कर बैठता है। विद्वानों का कथन है कि इस मनोविकार के प्रबल होने पर मनुष्य के लोहू में एक प्रकार का विष उत्पन्न होता है, जिससे क्रोधी को बड़ी शारीरिक हानि पहुँचती है। हाल ही में एक विद्वान् डाक्टर ने बहुत कुछ परीक्षा करके यह सिद्धान्त निकाला है कि मन में क्रोध आते ही शरीर की एक गिल्टी से शक्कर उत्पन्न हो जाती है जिससे क्रोधी मनुष्य को एक प्रकार का नशा सा हो जाता और उसका मन उसके वश में नहीं रहता, उसकी दशा निरे पागल की दशा के समान हो जाती है, और उसे भले-बुरे का विवेक नहीं रहता। क्रोधी मनुष्य बहुधा दुर्बल रहते हैं। इसीसे मालूम होता है कि क्रोध मनुष्य के स्वास्थ्य का नाशक है। कभी २ तो बहुत क्रोध आने से लोग पागल हो जाते और मर तक जाते हैं। क्रोधी मनुष्य के लोहू का एक बूँद खरगोशादि जीवों के शरीर में पिचकारी द्वारा डालने से उनकी दशा भयङ्कर हो जाती है। जिस खरगोश के शरीर में

उसका प्रयोग किया जाता वह दूसरे खरगोशों को फाड़ खाता और कभी २ मर तक जाता है। इसीसे क्रोध करना आत्म-घात करने के तुल्य है। क्रोध में आकर मनुष्य ऐसे २ काम कर डालता है कि पीछे से उसे बड़ा सन्ताप होता है।

पाठ १७.

क्रोध तथा शान्ति के दृष्टान्त।

हमारे यहाँ अक्रोध एक बड़ा गुण समझा गया है। (१) दुर्वासा ऋषि बड़े क्रोधी थे; पर इससे उनकी प्रशंसा नहीं की गई है। यदि वे इतने क्रोधी न होते तो निरपराध शकुन्तला को पति-वियोग की असह्य वेदना न भोगनी पड़ती और न महारानी द्रौपदी को शाप के भय से व्यथित होना पड़ता। यदि श्रीकृष्ण कृपा न करते तो इनके भी शापित होने में कोई सन्देह न था।*

(२) श्री परशुराम भी बड़े क्रोधी थे, जिसका परिणाम यह हुआ कि अपने तप अर्थात् जन्म भर के परि-श्रम से जो शक्ति उन्होंने प्राप्त की थी वही श्रीरामचन्द्रजी के प्रति क्रोध करने से क्षण भर में खो दी। साथ ही श्रीराम के शान्त स्वभाव को देखिये। आपने परशुरामजी के कटु वाक्य सहन कर उन्हें कैसी नम्रता से उत्तर दिये!

---

* एक बार दुर्वासा ऋषि पाण्डवों के यहाँ ऐसे समय में पहुँचे जब भोजनों के लिये कोई सामग्री प्रस्तुत न थी। क्रोधी ऋषि ने भोजनार्थ भात माँगा। द्रौपदीजी ने देखा कि भात तो नाम को नहीं है और फिर से तैय्यार करने में विलम्ब होगा जिससे रुष्ट होकर ऋषि महाराज शाप दे दें तो कोई आश्चर्य्य नहीं। निदान श्रीकृष्ण की चतुराई से द्रौपदी इस सङ्कट से मुक्त हुई।

(३) श्रीकृष्णचन्द्र ने भी पाण्डवों की सभा में शिशुपाल के मुँह से अनेकः कुवाच्य चुपचाप सुन लिये। अर्जुनादि को तो यह अपमान देख बड़ा क्रोध हुआ; पर श्रीकृष्णजी बराबर शान्त रहे। अन्त में उस दुष्ट को दण्ड तो दिया; पर क्रोध के वश होकर नहीं।

(४) "धम्मपद" (धर्म्म-पद) में श्रीबुद्धदेव के विषय में एक कथा है जिससे स्पष्ट विदित होता है कि आपने क्रोधको कहाँ तक वशमें किया था। कथा यों है—एक ब्रह्मचारी भाँति २ की विद्यायें तथा कला-कौशल सीखने के लिये देशाटन कर रहा था। रूस के महाराज पीटर के समान उसने किसी देश में धनुष-रचना, किसी में नाविक विद्या, और किसी में गृह-निर्माण-विद्या सीखी। जिस देश के लोग जिस विद्या में निपुण होते उनसे वह उसी विद्या को सीख लेता था। इस तरह भिन्न २ देशों में विचरते हुए उस ब्रह्मचारी ने अनेक विद्यायें सीख लीं। अब तो उसके अभिमान का ठिकाना ही न रहा। उसने समझा कि संसार में मेरी समता करनेवाला दूसरा कोई नहीं है। उसके इस अहंकार का वृत्तान्त सुनकर बुद्धदेव को उसपर बड़ी दया आई और उसे उपदेश देने की इच्छा से आप द्वार पर भिक्षा माँगने के लिये पहुँचे। उनके और उस ब्रह्मचारी के बीच में इस प्रकार वार्तालाप हुआ:—

ब्रह्मचारी—(अत्यन्त गर्व्व से)—अबे मुंडे! तू कौन जीव है?

बुद्धदेव—वही जिसने अपने शरीर को वश में किया है।

ब्रह्मचारी—इसका मतलब?

बुद्धदेव—सुनो! धनुष बनाना, कुशल नाविक होकर नाव चलाना, बड़े २ लट्ठे चीर चीरकर मकान बनाना

निस्सन्देह कला-कौशल है, पर बुद्धिमानी नहीं। सच्चा बुद्धिमान् वही है जो अपने शरीर को वश में रखता है।

ब्रह्मचारी—शरीर कैसे वश में किया जाता है?

बुद्धदेव—जिस मनुष्य ने अपना शरीर वश में किया है उसे न तो निन्दा करने या कुवाच्य कहने से दुःख होता है और न प्रशंसा करने से सुख। आत्म-श्लाघा सुनकर वह ऐसा नहीं फूल उठता कि झूठे चापलूसों से ठगा जाय और न निन्दा सुनकर क्रोध ही करता। सच्चा वशी सन्मार्ग से कदापि विचलित नहीं होता।

इस प्रकार बुद्धदेव के उपदेश से उस अभिमानी ब्राह्मण की आँखें खुलीं और उसने अपने को भली भाँति सम्हाला।

जिस तरह घोड़े को वश में रखने के लिये लगाम की आवश्यकता होती है उसी तरह इस अश्व-रूपी मन को भी एक प्रकार की लगाम लगाकर वश में रखना पड़ता है। जिस तरह एक नया बछेड़ा लगाम नहीं लगाने देता और कुछ दिन बहुत उछल-कूद करता है; पर अन्त में जब मुँह में लगाम लेकर चलने का उसे अभ्यास हो जाता है तो उसके बल उसे जहाँ चाहो ले जा सकते हो। उसी तरह मनुष्य के मन की भी स्थिति है।

(५) हज़रत मुहम्मद के नाती हज़रत हुसैन घर के श्रीमान् थे। ऐसे श्रीमानों को कष्ट करना एक दीन मनुष्य के लिये मानो विपत्ति बिसाहना है। एक दिन हज़रत हुसैन खाना खा रहे थे कि इतने में एक गुलाम खौलता हुआ पानी लिये उनके पास से निकला। दुर्भाग्य-वश वह उब-

लता हुआ पानी न जाने कैसे हुसैन साहिब के शरीर पर पड़ा जिससे वे मारे क्लेश के ज़ोर से चिल्ला उठे। गुलाम भी हाज़िर-जवाब था। वह घुटने टेककर कुरान शरीफ़ की वह आयत कहने लगा जिसमें लिखा है कि "स्वर्ग उन लोगों के लिये है जो अपने क्रोध को वश में रखते और क्षमा-शील होते हैं; क्योंकि खुदा रहीम (दयालु) है"। फिर उन दोनों के बीच में इस प्रकार बातचीत हुई।—

गुलाम—स्वर्ग उनके लिये है जो अपना क्रोध वश में रखते हैं।

हुसैन—मुझे क्रोध नहीं है।

गुलाम—और क्षमा-शील होते हैं।

हुसैन—अच्छा जा, तेरा अपराध क्षमा करता हूँ।

गुलाम—क्योंकि खुदा (ईश्वर) रहीम (दयालु) है।

हुसैन—बहुत ठीक, अब तू मेरा गुलाम नहीं रहा, मैं तुझे स्वतंत्रता देता हूँ।

इतनी बातचीत होने और क्षमा प्रदान करने पर हुसैन साहिब का क्रोध भी शांत हो गया।

ऐसे तो क्रोध सदा बुरा है; क्योंकि उससे शरीर तथा आत्मा को हानि पहुँचना स्वाभाविक है, तथापि किसी दुष्ट की दुष्टता देख सत्पुरुषों को क्रोध आना भी स्वाभाविक है। हाँ, क्रोध का इतना अधिक बढ़ जाना कि मनुष्य अविवेकी बनकर किसी की हानि कर बैठे कदापि अच्छा नहीं कहा जा सक्ता। ऐसी दशा में भी क्रोध न करके शान्ति-पूर्व्वक अपना कर्त्तव्य करना ही उचित है।

पाठ १८.

क्रोध के अन्य दृष्टान्त।

हज़रत मुहम्मद के विषय में एक कथा है कि आप एक बार जीते जी स्वर्ग की सैर करने गये। जबराएल नामक स्वर्ग-दूत आपको स्वर्ग के प्रेक्षणीय स्थान दिखाने लगा। एक भाग में बहुत बड़े २ महल देख आपने उस स्वर्ग-दूत से पूछा कि इन महलों में कौन रहते हैं? स्वर्ग-दूत ने उत्तर दिया कि "क्रोध को वश में रखने और अपमान करनेवालों को क्षमा प्रदान करने वालों के लिये ही ये बने हैं"। सत्य है। हमारा मन ही एक सुन्दर शान्तिमय महल अथवा घोर कोलाहल तथा क्लेशमय नरक बन सक्ता है। इसी जीवन-काल में हम चाहें तो स्वर्ग के महलों में रहने के समान सुख अथवा नरकवास के समान कष्ट भोग सक्ते हैं। जिन लोगों ने क्रोधादि मनोविकारों को अपने वश में कर लिया है उनके मनो-मन्दिरों में आठों पहर शान्ति ही शान्ति विराजती है और इसी संसार में उन्हें स्वर्गीय आनन्द का अनुभव होता है; पर क्रोधादि मनोविकारों के वश में पड़ा हुआ मनुष्य चित्त की अस्थिरता और अशान्ति के कारण नरक-वास का घोर कष्ट भोगता है।

पाठ १९.

प्रतिशोध वा बदला।

आत्म-संयमन का महत्व सब धर्म्मों ने स्वीकार किया है। क्रोध का रोकना, क्रोध में आकर किसी को

बुराई न कर बैठना, जिसने अपना अहित भी किया है उसे क्षमा माँगने पर उससे बदला लेने की चेष्टा कदापि न करना सच्चरित्रता का एक प्रधान अंग माना गया है। कहा है—

जो तोको काँटे बवे ताहि बवै तू फूल।
तोहि फूल के फूल हैं वाको हैं तिरसूल॥

इसका कारण यही है कि क्रोध और शत्रु के साथ बदला लेने का प्रयत्न करना अपने ही हाथ अपने शरीर तथा स्वभाव को बिगाड़ना है। जिन लोगों में आत्म-संयमन नहीं है, जो तनिक २ में अपनी मान-हानि समझ मारे क्रोध के आगबबूला हो जाते और लोगों से बैर मान बदला लेने के लिये कमर कस लेते हैं वे कदापि सुखी नहीं रह सक्ते। उनके चित्त को शान्ति नहीं मिलती और जब शान्ति ही नहीं तो सुख कहाँ? क्रोध में आकर दूसरों से बदला भँजाने के प्रयत्न में लगे रहना, तथा उन लोगों से शत्रु-भाव रखना मानों अपने ही हाथ से अपने पैर में कुल्हाड़ी मारना है। क्रोधी मनुष्य दूसरों का तो चाहे बाल बाँका न कर सके; पर अपने चित्त की शान्ति अवश्य खो बैठता है और क्रोध के उद्वेग से अपना लोहू बिगाड़कर रुग्ण हो जाता है। जो लोग तनिक २ में अपनी मान-हानि समझ बैठते हैं वे बहुधा मान के योग्य ही नहीं होते। जो महानुभाव वास्तव में सम्मान-भाजन होते हैं उन्हें बात २ में मानापमान का स्मरण भी नहीं रहता और उनका हृदय प्रशान्त एवं गम्भीर हुआ करता है।

पाठ २०.

आत्म-गौरव।

क्या कोई मनुष्य काष्ठ-निर्म्मित अश्व को भी लगाम लगाता है? और, लगाम लगाने की ज़रूरत? घोड़े को उपद्रव करने से रोकने और अपने वश में रखने के लिये ही लगाम लगाई जाती है। उपद्रव भी जानदार घोड़े ही करते हैं, काष्ठ-निर्म्मित निर्जीव पुतले नहीं। मनुष्य भी जानदार घोड़े पर ही सवारी करना चाहता है, जिससे स्पष्ट है कि घोड़े की शोभा और गौरव पानीदार होने में ही है। इसी प्रकार जिस मनुष्य में ओज नहीं है, जो दुष्टों से बार २ अपमानित होकर भी अपनी मान-रक्षा करने की चेष्टा नहीं करता उसे अक्रोधी, शान्त तथा क्षमाशील समझना ठीक नहीं, वह तो निरा मुर्दाशंख है।

ओथमान अजहिरी नाम का एक बड़ा सीधा-साधा मनुष्य था। उसके साथ कैसा ही बुरा व्यवहार क्यों न किया जाय वह तनिक भी बुरा नहीं मानता और चुप-चाप अपना घोर अपमान भी सह लेता था। उसके साथ लोग बहुत बुरी हँसी किया करते थे; क्योंकि वे जानते थे कि यह हमारा कुछ न करेगा। संसार की यह विचित्र रीति है कि ऐसे सीधे-साधे मनुष्य को लोग बुरी तरह सताया करते हैं। जिस प्रकार वे किसी सीधे मनुष्य को त्रास देते उसी प्रकार टेढ़े से डरकर उसकी छेड़छाड़ नहीं करते। कहावत है:—

"टेढ़ जान शङ्का सब काहू। वक्र चन्द्रमा ग्रसे न राहू" ॥

इससे हमारा यह मतलब नहीं कि सदा टेढ़े रहने

में ही गौरव है, किन्तु यह क्षमा-शील एवं अक्रोधी होने के साथ २ आत्म-गौरव की रक्षा करना भी हमारा कर्त्तव्य है।

एक दिन आबू ओथमान को उसका एक पड़ोसी नेवता देने आया और कहने लगा कि "भोजन तय्यार है, आप मेरे साथ ही चलिये।" ओथमान उसकी धूर्तता न समझकर उसके साथ चल निकला। द्वार पर पहुँचते ही उस ठठोल ने ओथमान से कहा कि "आप लौट जाइये, अभी जेवनार तय्यार नहीं है।" यह बेचारा "अच्छा, कुछ हर्ज नहीं" कहकर उलटे पैर घर लौट गया। उसे घर पहुँ-चते देर नहीं कि वही दुष्ट फिर आ पहुँचा और उसी तरह घर ले जाकर ओथमान को उसने फिर कोरा लौटा दिया। कहाँ तक कहें, ५ बार ऐसा ही हुआ और अन्त में जब वह दुष्ट इस हँसी से ऊब उठा तो कहने लगा कि "भाई, नेवता एवता तो कुछ नहीं था, मैंने सुना था कि आप खासे भोला-नाथ हैं, मानो क्षमा के अवतार ही हों, सो इस तरह आप की परीक्षा ली है और आप निकले भी पक्के।"

इस प्रकार का सीधापन किसी काम का नहीं। इस तरह बार २ अपमानित होकर भी दुष्टों की हँसी-दिल्लगी के लक्ष्य बनने का नाम क्षमा-शीलता नहीं, निरी क्लीवता किम्वा मूर्खता है। ऐसा जीव चाहे कुत्ता भले ही कहा जाय; पर मनुष्य नहीं कहा जा सक्ता। इस तरह बार २ अपमानित होने पर भी फिर बुलाने से चले आना कुत्ते का सा व्यापार है, जो मारने-पीटने के बाद भी, बुलाने पर पूछ हिलाते आ जाता और मार खाकर भी क्रोध नहीं दिखलाता, वरन दुम दबाकर भाग जाता है। कभी २ तो कुत्ते भी ऐसी दशा में क्रोध दिखलाते अथवा

बुलाने से नहीं आते, फिर मनुष्य तो मनुष्य ही है। जिन निरे गोबरगणेशों को अपने मानापमान का तनिक भी विचार नहीं रहता वे इन कुत्तों से भी गये-बीते हैं। यदि बहुत से लोग ऐसे ही क्षमाशील हो जायँ तो दुष्टों की अच्छी बन पड़े और सारा जन-समाज उलट जाय। हाँ, जिन लोगों ने संन्यास धारण किया है उनकी तो बात ही निराली है। संन्यासियों का धर्म और है, और साधारण गृहस्थों का और। इन भिन्न २ धर्म्मों का उलट-फेर बड़ा भयङ्कर फल उत्पन्न कर सक्ता है। कहा है:—

"स्वधर्म्मे निधनं श्रेयः परधर्म्मो भयावहः"।

पाठ २१.

जिह्वा-निग्रह ।

इन्द्रियों तथा मनोविकारों को वश में करना बहुत कठिन तो है; पर निरन्तर अभ्यास करते रहने से यह भी हो सक्ता है। बुरी बातों से मन को हटाकर अच्छी बातों में लगाने से मनुष्य इस मन-रूपी अतीव चञ्चल घोड़े को भी अपने वश में ला सक्ता है। यही मनोनिग्रह-मन-रूपी चंचल अश्व की मानों लगाम है।

अब शरीर का एक और अवयव है, जिसे वश में रखना कुछ कम कठिन नहीं है। जिन लोगों की जीभ उनके वश में नहीं रहती वे स्वयं आपत्ति में पड़ते और अपने आत्मीयों तथा मित्रों को भी डालते हैं। मनुष्य को चाहिये कि भली भाँति सोच-विचारकर इस अवयव का उपयोग करे। किसी दूसरे की बुराई अपनी जीभ से न

निकालना चाहिये और न बिना सोचे-समझे किसी प्रकार की प्रतिज्ञा ही करनी चाहिये। जिस बात को किसी मनुष्य के विषय में उसके सन्मुख नहीं कह सके उसे उसके पीठ-पीछे कहना अनुचित ही नहीं बरन कायरपन है। गाली देना, क्रोध में आकर किसीको कटु वचन कह बैठना पीठ-पीछे किसी की निन्दा करना, हँसी-दिल्लगी में ऐसी बात कह देना जिससे दूसरे का जी दुखे—ये सब बातें मेल का नाश कर वैमनस्य उत्पन्न करती हैं।

जीभ से कदापि असत्य न निकालना चाहिये; पर ऐसा सत्य भी न कहना चाहिये जिसके कहने की कुछ आवश्यकता न हो और जिससे किसीको व्यर्थ कष्ट पहुँचे। किसी काने, अन्धे, लँगड़े, बहरे आदि अवयव-हीन अभागे को काना, अन्धा आदि कहना चाहे भले ही सत्य हो; पर उसके अनुचित होने में सन्देह नहीं। ऐसा कहने से उसके हृदय पर व्यर्थ आघात पहुँचता और अपनी न्यूनता का स्मरण आकर उसे बड़ा सन्ताप होता है। भद्रजन ऐसा कदापि नहीं करते। कहा है:—

"सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्यप्रियम्।"

अर्थात् सत्य बोलो, प्रिय बोलो; पर अप्रिय सत्य मत बोलो। तो क्या अप्रिय सत्य किसी दशा में न बोलना चाहिये? देखने में तो यही आता है कि सत्य बहुधा अप्रिय ही हुआ करता है, फिर शास्त्र का वचन इस प्रकार क्यों है? इसका अभिप्राय यही है कि जब अप्रिय सत्य बोलना अपना कर्त्तव्य हो जैसे न्यायालय में गवाही देना, तब तो बात ही दूसरी है; पर यदि कोई सहपाठी स्वभाव से ही मन्द-बुद्धि है तो सबके सन्मुख उसे मन्द-बुद्धि कहकर कष्ट

देना अनुचित है। बहुतेरे लँगड़े को लँगड़ा, काने को काना, बहरे को बहरा कहकर पुकारते हैं और यही उसका नाम रख लेते हैं। यह बहुत ही अनुचित है। ऐसा कहना सत्य तो है, पर अप्रिय अवश्य है, और कर्त्तव्य भी नहीं है।

बहुधा देखा गया है कि जिन महाशयों को कोई बड़ा पद मिला है और जिन्हें कई लोगों को प्रमाण-पत्र (सार्टिफ़िकेट) देने पड़ते हैं वे किसी न किसी कारण से प्रमाण-पत्र में या तो असत्य लेख लिख देते अथवा सत्य को छिपा देते हैं। यह सरासर अनुचित है। किसीको प्रमाण-पत्र देते समय हमारा यही कर्त्तव्य है कि हम उसके विषय में जो निश्चित रूप से जानते हों वही लिख देवें जिससे देखने वालों को उसकी योग्यता का ठीक २ पता लग जाय। ऐसे लोग यही कहा करते हैं कि दवाव में पड़कर हमने ऐसा लिख दिया; पर इससे तो यही सिद्ध होता है कि ऐसा कहने वाले असत्य-भाषण को इतना बुरा नहीं समझते जितना बुरा वह है और साथ ही अपने हृदय की दुर्बलता भी प्रगट करते हैं। बात तो यह है कि ऐसे लोग अपनी ज़िम्मेदारी तथा सत्य का गौरव नहीं समझते। यह हम लोगों के लिये एक बड़ा दूषण है कि हम न्यायालय में तथा अपने उद्यम-व्यापार में झूठ बोलने से तनिक भी नहीं सकुचते। मुलाहिजे में आकर तथा भय से झूठ बोल देना क्या अधर्म्म नहीं है? अवश्य है; क्योंकि निष्कारण झूठ बोलता ही कौन है?

पाठ २२.

विना विचारे प्रतिज्ञा।

किसी प्रतिज्ञा के भली भाँति पालन करने की

शक्ति हममें है अथवा नहीं—इस बात का निश्चय खूब आगापीछा सोचकर कर लेना चाहिये। बिना विचारे किसी प्रकार की प्रतिज्ञा करना या वचन-बद्ध हो जाना बहुत अनुचित बात है; क्योंकि उसका ठीक २ पालन न होने से दूसरों की हानि होती तथा अपना विश्वास घटता है। आज कल तो यह एक प्रथा सी निकल गई है कि बड़े २ आदरणीय भद्रपुरुष प्रतिज्ञा तो कर देते हैं; पर उसके पालन की चिन्ता तनिक भी नहीं करते। दूसरों को आशा तो दे दी जाती है, पर पूरी नहीं की जाती। वह बेचारा बड़ा दुखी होता है, पर इसकी परवाह किसको? यदि किसी महाशय से कुछ निवेदन किया जाता है, तो यही उत्तर मिलता है कि "मैं आपका काम कर देने में कोताही न करूँगा, आप निश्चय रखिये;" पर करना-धरना कुछ नहीं। ऐसा कहते समय भी ऐसे महाशयों को भलीभाँति मालूम रहता है कि हम इस निवेदनको पूरा न कर सकेंगे, तौभी घड़ से वचन दे दिया करते हैं। यह असत्य-भाषण नहीं तो क्या है? यदि निवेदन-कर्त्ता से स्पष्ट कह दिया जाय कि "मैं यह कार्य्य न कर सकूँगा," तो उसे थोड़ा बहुत दुःख होता है, पर वह कोई दूसरा उपाय करने का समय पा लेता है; पर इस प्रकार वचन दे देने से तो वह आशा में पड़कर हाथ पर हाथ धरे बैठा रहता है और जब काम नहीं होता तो उसे बहुत दुःख होता है। किसीके निवेदन करने पर उसे निराश करने से जो दुःख होता है उसकी अपेक्षा पहले आशा देकर फिर निराश करने से वह कई गुणा अधिक बढ़ जाता है, और ऐसी झूठी प्रतिज्ञा करने वाले का विश्वास भी जाता रहता है। कई महाशय तो इस तरह वचन दे देना शिष्टाचार समझते हैं। यदि उनसे कहा जाय कि

आपने व्यर्थ आशा क्यों दी तो यही उत्तर मिलेगा कि "क्या करें, निराश करते तो हमसे बनता ही नहीं"। सारांश यह कि अब ऐसा होने से भद्रसमाज में भी सहसा किसीका विश्वास नहीं किया जा सक्ता। यह कितनी लज्जा की बात है? महाराज दशरथ ने किसी दूसरे को नहीं, अपनी परमप्रिय कैकेयी को इसी प्रकार बिना सोचे-विचारे वचन दे दिया था जिसका परिणाम कितना दुःखमय हुआ कि महाराज तो अपने प्राण ही खो बैठे और श्रीरामको १४ वर्ष वन २ फिरना पड़ा। क्या स्वप्न में भी महाराज ने सोचा होगा कि हमारी प्राणप्रिया कैकेयी हमारी प्रतिज्ञा का ऐसा बुरा उपयोग करेगी और हमारे प्राणों की भूखी हो जायगी? पर, परिणाम क्या हुआ? इससे तो यही शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये कि अपने आत्मीयों को भी भली भाँति सोच-समझकर वचन दिया जाय।

महाभारत के समय जब महात्मा अर्जुन ने सुना कि मेरे परम प्रिय पुत्र अभिमन्यु को जयद्रथ ने मारा है तो मारे शोक के उन्होंने आगापीछा सोचे बिना ही यह प्रतिज्ञा कर ली कि कल दिन डूबने के पहले या तो मैं उस दुष्ट को मारूँगा या स्वयं अग्नि-प्रवेश कर प्राण दे दूँगा। यदि श्रीकृष्ण इस अवसर पर अर्जुन के सहायक न होते, तो उन्हें आत्म-घात ही करना पड़ता जिससे भ्राताओं तथा आत्मीयों की न जाने क्या दशा हुई होती। प्रतिज्ञा पूरी न होती देख सत्यवादी अर्जुन ने अग्नि-प्रवेश कर प्राण त्याग करने का दृढ़ संकल्प कर लिया; पर उनका सत्य और धर्म्म ऐसे भीषण-काल में उनका सहायक हुआ। वे तो भगवान् के पूर्ण भक्त थे; अतएव श्रीकृष्ण ने उनके प्राण बचाये। महात्मा अर्जुन थे तो ईश्वर-भक्त, वीर-शिरोमणि, धर्मात्मा; पर उनमें

यह दूषण था कि वे अग्रशोची नहीं थे। इसके कारण वे बार २ आपत्ति में पड़ जाते थे जिससे श्रीकृष्णजी को उनकी रक्षा के लिये अनेक उपाय करने पड़ते थे। जब तक उनका साथ रहा, तब तक तो अर्जुन की रक्षा होती रही; पर बिना सोचे-विचारे प्रतिज्ञा करने से उनको मृत्यु के वश होना पड़ा। इस संसार में आज तक कोई ऐसा देहधारी न हुआ और न आगे होगा जिसमें गुण ही गुण हों, दोष एक भी न हो। बड़े २ महापुरुषों में भी एक न एक दोष पाया ही जाता है। युधिष्ठिर धर्म्मराज कहलाने पर भी द्यूतप्रेमी थे। अर्जुन बिना सोचे-विचारे प्रतिज्ञा कर बैठते थे। विश्वामित्र, परशुराम, लक्ष्मण, ऋषि दुर्वासा आदि महापुरुषों में क्रोध की मात्रा अधिक थी। इनमें अनेक अलौकिक गुण थे जिनके कारण हम सब इनका परम सम्मान करते हैं; पर इनके दोषों को भी स्वीकार करना और उनसे बचना हमारा कर्त्तव्य है।

पाठ २३.

ठकुर-सुहाती या चापलूसी।

कई लोग तो स्वामी को प्रसन्न करने के लिये निरी ठकुर-सुहाती कहने में सत्यासत्य का विचार तनिक भी नहीं करते। पीठ-पीछे तो वे स्वामी की निन्दा करते; पर सामने लम्बी-चौड़ी तथा झूठी प्रशंसा करने से नहीं चूकते। कवि ने ठीक कहा है:—

प्राक् पादयोः पतति खादति पृष्ठ-मांसम्।
कर्णे कलं किमपि रौति शनैर्विचित्रम्॥

छिद्रं निरूप्य सहसा प्रविशत्यशंकः।
सर्वं खलस्य चरितं मशकः करोति॥

अर्थात् मशक (मच्छड़) के चरित्र के समान खलों के भी चरित्र होते हैं। सामने तो वे पैरों पर गिरते; पर पीछे पीठ का मांस खाते अर्थात् बुराई करते हैं। कान में धीरे २ मधुर शब्द सुनाते हुए वे अवसर पाकर अपना कार्य्य साधते हैं। मच्छड़ भी ऐसा ही किया करता है।

किसी महाजन के यहाँ एक ऐसे ही महाशय रहते थे। उनका काम यह था कि सेठजी के पास बैठे २ सदा उनको प्रसन्न रक्खें। आपमें और तो गुण न था, ठकुर-सुहाती कहना खूब जानते थे। सारांश यह कि आप खासे चापलूस थे, और सेठ जी पर अपना प्रभाव जमाये रहने की इच्छा से किसी दूसरे चतुर, सदाचारी अथवा योग्य पुरुष को अपने स्वामी के पास फटकने तक न देते थे। बड़े आदमी कहलाने वाले धनाढ्यों का यही हाल होता है। एक बार सेठजी ने भटों की निन्दा की।

चापलूस-शिरोमणि ने कहा—जी हाँ, भइया साहब! भटों के समान रद्दी तरकारी तो संसार में शायद ही हो। न जाने किस पाजी ने पहले-पहल भटे खाने की चाल चलाई। एक तो रूप-रंग में भद्दे, दूसरे वात रोग बढ़ाने वाले, तीसरे स्वाद में भी कुछ नहीं,चौथे—

सेठजी—हाँ, यह तो सब ठीक ही है; पर स्वाद में तो बुरे नहीं होते। यदि अच्छी तरह बनाये जाँय, खास कर ऋतु के आरम्भ में, जब मुलायम रहते हैं, तो मैदा की पूड़ी के साथ—

चापलूस-शिरोमणि—वाह हुजूर! फिर तो क्या

कहना है! आपके समान ऋषियों ने जिस वस्तु की प्रशंसा की उसकी मजाल ही क्या कि वह बुरी हो सके। आप बड़े क़दरदाँ अमीर हैं। कोई गोभी की तारीफ़ करते हैं, और कोई आलू, केले, भाजी, तरोई, भिन्डी, लौकी, कुन्दरू, परवर आदि की। कुछ ऐसे भी गँवार देखे जिन्हें करेले, प्याज आदि तरकारियाँ रुचती हैं। भटे की क़द्र तो आप ही से क़द्रदाँ कर सक्ते हैं। बस, भटे ही जगत् में सबसे अव्वल साग है। रंग भी तो विष्णु भगवान् सरीखा श्याम या श्रीपार्व्वती-वल्लभ भोलानाथ सरीखा श्वेत होता है। मारू भटों की ललाई तो कलाई को आगे बढ़वाये बिना नहीं रहती। उनके स्वाद के सामने मलाई भी क्या वस्तु है। भटों की—

सेठजी—वाह जनाब! कमाल कर दिया! आपका यह भटास्तोत्र तो छपाने के योग्य है। बात सिर्फ़ इतनी है कि पहिले तो आप भटों के समान बुरी चीज़ दुनियाँ में देखते ही न थे और अब क्षण भर में उनकी उपमा शिव और विष्णु से देने लगे। बड़े आश्चर्य्य की बात है!

चापलूस-शिरोमणि—हुज़ूर, आपको भी आज अजीब शक पैदा हुआ। दुनियाँ में ऐसी कौन चीज़ है जिसमें गुण और दोष दोनों न हों। हमारे मालिक ने जब दोष बतलाये, तो बन्दे ने भी एक की जगह हज़ार बयान किये, फिर जब हुज़ूर ने उनकी तारीफ़ की तो बन्दे ने भी उनकी तारीफ़ के पुल बाँध दिये। मालिक का रुख़ देखकर बात कहना हरएक वफ़ादार नौकर का फ़र्ज़ है। भटे चाहे जैसे हों, उनसे तो मेरी रोज़ी चलती नहीं, चलती तो हुज़ूर की मिहरबानी से है, सो ठकुर-सुहाती कहना सेवक का धरम है।

ऐसे चापलूस भी भला कहीं सत्य का विचार करने चले हैं! पर, यह नीच कर्म्म है। ऐसे चापलूसी में आत्म-गौरव तो नाम को भी नहीं रहता। वे अपने स्वामी की भी बड़ी हानि कर बैठते हैं।

पाठ २४.

असत्य-भाषण।

विद्यार्थि-गण दण्ड पाने के भय से असत्य-भाषण किया करते हैं और ऐसा कई बार करने से उनका स्वभाव ही ऐसा हो जाता है कि वे बिना डर के भी झूठ बोलने लगते हैं। झूठ केवल जीभ से ही नहीं बोला जाता, वरन कई कार्य्यों को करके भी मनुष्य अपने को झूठा प्रमाणित करता है। परीक्षा के समय नक़ल करना, दूसरे विद्यार्थी से सुनकर उत्तर देना, घर से काम करके न लाना और किसी दूसरे विद्यार्थी के किये हुए काम की नक़ल कर लेना—ये सब असत्य-भाषण के तुल्य अधर्म कार्य्य हैं। इनके करनेवाले अपने गुरु को धोखा देते हुए स्वयं अपनी हानि करते हैं। इस प्रकार स्कूल में धोखा देने की टेंव पड़ जाने से, आगे भी वे अपने अधिकारियों को धोखा देने की चेष्टा करते और अपमानित और पद-च्युत हो जाते हैं। वैसे भी अधिकारी का विश्वास चला जाने से उनकी बड़ी हानि होती है। हम कई महाशयों को जानते हैं जो जिस पद पर नियुक्त होते उसी पर रह जाते हैं, आगे बढ़ते ही नहीं। उनमें बढ़ाकर बातें करने की और जितना किया है उससे अधिक दिखाने की आदत पड़ जाती है, जिससे उनपर से अधिकारियों का विश्वास चला जाता है।

लेन-देन तथा व्यापार में भी हमारे यहाँ असत्य-भाषण बुरा नहीं समझा जाता। दुगुनी चौगुनी क़ीमत बताकर दूकानदार ग्राहक को ठगना चाहता है और जो वह धोखे में आ गया तो ठग भी लेता है। यह बिलकुल असत्य है कि व्यापार बिना असत्य-भाषण किये चलता ही नहीं। वास्तव में यह उलटा मत है। अन्त में सत्य से ही लाभ होता है, चाहे व्यापार में हो चाहे युद्ध में, या चाहे जिस बात में। कहा भी है:—

सत्यमेव जयति नानृतम्।

जिह्वा को यहाँ तक वश में रखना चाहिये कि उससे झूठ कदापि न निकलने पावे। हमारे शास्त्रों में तथा अन्य जातियों के धर्म्म-ग्रन्थों में सत्यासत्य के विषय में जो लेख हैं उनका अभिप्राय और सार यही है कि—

साँच बराबर तप नहीं झूठ बराबर पाप।
जाके हिरदे साँच है ताके हिरदे आप * ॥

पाठ २५.

सत्यासत्य के दृष्टान्त (१)

महाराज युधिष्ठिर बड़े न्यायी और सत्यवादी पुरुष थे जिससे वे धर्म्म-राज कहलाते थे। ऐसे प्रतापी महापुरुष के मुँह से भी एक झूठ बात निकल गई। श्री-महाभारत में कथा है कि अर्जुन ने अपना पूर्ण पराक्रम लगाकर अपने परम पूज्य गुरुवर द्रोणाचार्य्य से घनघोर युद्ध

---

* आप = परमेश्वर।

तो किया और अपनी सारी शक्ति, युद्ध-विद्या और रण-कौशल इस युद्ध में लगा दिये; पर गुरुजी परास्त न हुए और लगे पाण्डवों की सेना को अपने तीरों से छिन्न-भिन्न करने। जिस महारथी ने अर्जुन के दाँत खट्टे किये भला उससे लड़कर और कौन जीतने की आशा कर सकता था? निदान पांडव-सेना में खलबली मच गई। सब बड़े २ शूर-वीर निराश हो कहने लगे कि "बस, अब कौरवों की ही जीत होगी, और द्रोण के तीक्ष्ण बाणों से सारा पाण्डव-दल रणभूमि से जीवित नहीं लौटने का।" ये लोग आपत्ति की चपेट में आकर अपने रक्षक श्रीकृष्णचन्द्र की महिमा को क्षण भर के लिये भूल से गये। उन्हें श्रीमुख से निकले हुए वचन—यतो धर्म्मस्ततो जयः—का स्मरण न रहा। चहुँ-ओर हाहाकार सुनाई देने लगा। ऐसे अवसर पर श्रीकृष्ण-जी ने एक लीला की जिससे दुष्ट कौरवों का नाश और धर्म्मराज युधिष्ठिर की कठिन परीक्षा एक साथ हो गई।

युधिष्ठिर के मन में कुछ दुर्ब्बलता अब भी बनी थी। एक तो आपको अपनी सत्यनिष्ठा का कुछ अभि-मान था, दूसरे अपने भाइयों पर आपका प्रेम मर्य्यादा से बाहर था। तीसरे सत्यनिष्ठा का उन्हें कुछ अभिमान भी था। यह मानसिक दुर्ब्बलता उनके स्वभाव में एक भारी दोष था। श्रीकृष्णजी ने देखा कि मोह-वश जब वे अपना सत्य खोवेंगे तो उनका अभिमान दूर हो जायगा, और उन्हें अपने मन की दुर्ब्बलता का पता भी लग जायगा जिससे वे आगे दृढ़ता प्राप्त करने में सयत्न होंगे।

श्रीकृष्ण (पांडव वीरों से)—हाँ, तुम्हारा कहना सत्य है। द्रोण तुम्हारा सर्व्वनाश करते हैं। इस जगत् में ऐसा कौन माई का लाल है जो धर्म्म-युद्ध में द्रोण

को परास्त करें। वे छल से ही मारे जायँगे, सामने युद्ध करने से कदापि नहीं।

पांडव वीर—महाराज! तो फिर युद्ध से ही क्या लाभ? क्यों न संधि कर ली जाय और सब अपने २ घर बैठें?

श्रीकृष्ण—नहीं २, इतने निराश क्यों होते हो? नीति का वचन है:—

सामना दानेन भेदेन समस्तैरथवा पृथक्।
विजेतुं प्रयतेतारीन्न युद्धेन कदाचन॥

इससे स्पष्ट है कि युद्ध करने के बदले भेद का प्रयोग करने से सफलता हो सकती है। अब विना छल किये कार्य्य की सिद्धि असम्भव है।

पांडव वीर—महाराज! आप ही बतलाइये, क्या उपाय करना होगा। किस छल से द्रोण का वध हो सकेगा?

श्रीकृष्ण—सुनो, जब द्रोण को यह निश्चय हो जायगा कि मेरे पुत्र अश्वत्थामा का वध हो चुका, तब वे शोक से विह्वल होकर रण से विरक्त हो जायँगे और शस्त्रास्त्र त्याग देंगे। ऐसी दशा में कोई भी उनका वध कर सकेगा।

अर्जुन—(बड़े खेद से)-महाराज, आप अपने श्रीमुख से हमें यह शिक्षा देते हैं! छल से गुरुवर का वध करना सिखाते हैं! हा हन्त! इस आपत्ति ने क्या आपको भी अधीर कर डाला? राम २! क्षुद्र राज्य के लिये इतना घोर पाप! आज ही सारी पाण्डव-सेना क्यों न नष्ट हो जाय, हम सबको गुरुजी क्यों न मार डालें; पर हम यह घोर पाप कदापि न करेंगे।

अन्य वीर—ठीक है, ठीक कहते हो। जिससे धर्म्म की हानि हो वह कार्य्य सर्व्वथा त्याज्य है। उसके करने में मङ्गल नहीं, कदापि नहीं।

धन्य है इन वीर पुरुषों को! धन्य है इनकी धर्म्म-श्रद्धा! ये इनके आदर्श थे। सब कुछ जाय; पर धर्म्म न जाने पावे।

श्रीकृष्ण—मैं तुमको असत्य बोलने का उपदेश नहीं देता; मैंने तुम्हें केवल द्रोण के वध का उपाय बतलाया है। यदि तुम्हें राज्य प्रिय है तो ऐसा किये बिना उसका पाना असम्भव है। यदि धर्म्म प्रिय है तो राज्य का त्याग करने के लिये प्रस्तुत हो जाओ। ये ही दो मार्ग हैं, जिससे चाहो उससे जाओ।

भीम का स्वभाव विलक्षण था। उनके चरित्र में कई बड़े २ दोष थे। वास्तव में महाभारत के मूल कारण आप ही थे। आप ही के अत्याचारों से कौरव-भ्राता पाण्डवों के ऐसे घोर शत्रु बन गये। आपमें जैसा विलक्षण शारीरिक बल था वैसा ही क्रोध भी था। आप शत्रु को क्षमा करना तथा उसके किये हुए अपकार का पूरा २ बदला न लेना निरा कायरपन समझते थे। सत्य के पतित होने के भय से भला भीम शत्रु कौरवों का वध किये बिना सन्तुष्ट हो सकते थे? आपने अधर्म्मी कौरवों पर अधर्म्म द्वारा ही विजय प्राप्त कर अपना अभीष्ट सिद्ध करना उचित समझा। मालव-राज के हाथी अश्वत्थामा को गदा से मार कर आपने द्रोणाचार्य्य के रथ के सन्मुख खड़े होकर उच्च स्वर से कहा "अश्वत्थामा हतो हतः," अर्थात् "अश्वत्थामा मारा गया, अश्वत्थामा मारा गया।" पहले तो आचार्य्य

द्रोण एक क्षण के लिये अधीर हो उठे; पर अपने पुत्र के अतुल पराक्रम का स्मरण करते ही आपको भीम के इस कथन में विश्वास न हुआ और आप पहले के समान युद्ध में प्रवृत्त हुए। इसी अवसर पर धृष्टद्युम्न अपने पिता का बदला लेने के अभिप्राय से द्रोण के सन्मुख आ पहुँचा। उसे देख आप कुछ खिन्न हुए। आपके हृदय में अश्वत्थामा की मृत्यु का झूठा समाचार चक्कर मार रहा था। सन्देह आपको चिन्तित किये था। आप मन ही मन सोच रहे थे कि यदि कहीं बात सत्य हुई तो संसार में जीवित रहने से क्या लाभ? द्रोण ने देखा कि यह सन्देह दबाये नहीं दबता। दूसरे किसी से पूछने पर सत्य बात प्रकट न होगी; पर धर्मराज प्राणों की रक्षा के लिये भी असत्य नहीं बोलने के; अतएव उन्हींसे पूछ कर निश्चय करना होगा। धन्य है युधिष्ठिर महाराज की सत्य-निष्ठा कि शत्रु ने भी आपका पूर्ण विश्वास किया; पर अभी तक कदाचित् युधिष्ठिर ऐसे कठिन प्रलोभन—ऐसी कठिन परीक्षा में—नहीं पड़े थे जैसे इस समय पड़े। श्रीकृष्णजी ने भी आपको दृढ़ बनाने का यह अच्छा अवसर पाया। चट से कान में कह दिया कि अपने भाइयों को गुरुजी के तीक्ष्ण बाणों से ससैन्य बचाने का यह उत्तम अवसर है। बस, मोह ने धर्म्म-राज को भी अन्धा बना दिया और आपने अपने गुरुदेव को भी छल से वध कराने में तनिक भी आगा-पीछा न सोचा, तुरन्त कह दिया कि "हाँ, मारा तो गया; पर हाथी।" (नरो वा कुंजरो वा) अन्तिम शब्द एक तो आपने धीरे से कहा, दूसरे लोगों ने उसी समय शंखादि द्वारा इतना कोलाहल मचाया कि द्रोण उस शब्द को सुन ही न सके।

क्या धर्म्मराज यह समझे कि पीछे से हाथी कह

देने से वे असत्य-भाषण-रूपी महापातक से मुक्त हो जायँगे? यदि ऐसा सोचे थे तो आपने वास्तव में बड़ी भूल की थी। क्या यह छल न कहाया? क्या ऐसा करने में आप का प्रयोजन यह न था कि द्रोण हमारा विश्वास करके युद्ध से उदासीन हो जायँ जिससे उन्हें मारने में कोई कठिनाई न पड़े? चाहे हमारा कथन एक बार सत्य ही क्यों न हो; पर यदि वह धोखा देने की इच्छा से किया गया है, तो असत्य के बराबर है। महाभारत में लिखा है कि महाराज युधिष्ठिर का रथ जो आपकी सत्य-निष्ठा के बल से सदा भूतल से ४ अंगुल ऊपर रहा करता था इतना कहते ही धँस कर नीचे आ गया।

इस कथा से हमारे पूर्व्वजों के उच्चादर्शों का पता लगता है। ऐसी बीसों कथाएँ पुराणों में हैं जिनसे प्रकट होता है कि वे सत्य की रक्षा में प्राण तक दे डालते थे।

पाठ २६.

सत्यासत्य के दृष्टान्त (२)

सत्य-निष्ठा का एक और आदर्श-दृष्टान्त लीजिये।
अपने बड़े भाई रावण को घोर पाप करते [illegible] विभीषण ने
उसे बहुत समझाया; पर अधर्म्म से [illegible] मे में फँसकर पुरुष भय
गई थी; अतएव उसे यह सदुपदे[illegible] ता है और बड़े बड़े अनर्थ
और क्रोध में आकर उसने [illegible] च नहीं होता। वृद्धावस्था से
अपमान भरी सभा में किया [illegible] प्रलोभन में पड़ता है, तो उसे
विभीषण सच्चे भगवद्भक्त थे [illegible] भव सा हो जाता है। पिताजी
भी उनके आचरण पवित्र थे। [illegible] सही; पर उनका अन्याय इनके
का पाप उसे अवश्य ही नष्ट व

की शरण ली। जब विभीषण श्रीराम के समीप आये तो उनका स्वागत करते हुए शरणागत-वत्सल श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—"आइये, लंकेश ! आइये"। इसपर लक्ष्मणजी बोले:—

लक्ष्मण—महाराज, आप यह क्या कह बैठे ? आपने विभीषण को "लंकेश" कहकर अपने ऊपर इतना बड़ा भार कैसे ले लिया ? आप तो पहले से ही वचन-बद्ध हो चुके हैं कि यदि रावण अपने घोर पातकों के लिये शुद्ध हृदय से पश्चात्ताप करेगा और अब भी आपकी शरण में आवेगा तो आप उसे अपना सेवक मान क्षमा प्रदान करेंगे। अब यदि रावण ने आत्म-समर्पण किया तो क्या आप उसे पद-च्युत करेंगे ? फिर ऐसी अवस्था में विभीषण लंकेश कैसे हो सकेंगे ? आपने यह क्या किया ?

इतना कहकर लक्ष्मण बहुत व्याकुल हुए। वे भली भाँति जानते थे कि श्रीरामचन्द्रजी वचन-विमुख कदापि न होंगे और यदि ऐसा करने का कुअवसर आ ही जायगा, तो आत्मोत्सर्ग करके सत्य से भ्रष्ट होने के इस महापातक का प्रायश्चित्त किये बिना न रहेंगे। न जाने क्यों लक्ष्मणजी [illegible] अवसर पर श्रीरामचन्द्रजी को एक बाधा-
[illegible] दिया अ समझ बैठे। यह स्मरण न रक्खा कि
वध कराने में तनिक भी [illegible] तो बहुत सोच-समझकर ही कहा
दिया कि "हाँ, मारा तो
कुंजरो वा) अन्तिम शब्द ए[illegible] व्याकुल क्यों होते हो ? मेरी
दूसरे लोगों ने उसी समय शंखा[illegible] बनी रहेगी। तुम समझते
मचाया कि द्रोण उस शब्द को स[illegible] ही दुरसन्धि में पड़ गया हूँ ?
क्या धर्मराज यह स[illegible] ने पर मैं विभीषण को लंकेश

न बना सकूँगा ? एक तो जन्म भर पाप करने से रावण की मति भ्रष्ट हो गई है जिससे उसे सुबुद्धि आना नितान्त असम्भव है, दूसरे यदि ऐसा हुआ भी और उसने मेरे दूत अङ्गद के समझाने पर सन्धि कर लेना स्वीकार कर लिया, तो वह पूर्ववत् लंकेश बना रहेगा और विभीषण को मैं अवधेश बना दूँगा। यह बात तो मेरे हाथ में है और तुम जानते ही हो कि मैं राज्य के मोह में पड़कर अपने वचन को कदापि मिथ्या न होने दूँगा।

धन्य है श्रीराम का सत्य-निर्वाह ! इसीसे तो आपको हिन्दू-जाति मर्य्यादा-पुरुषोत्तम कहा करती है। अपने पिता के सत्य की रक्षा के लिये जब आपने १४ वर्ष का वनवास स्वीकार कर लिया, तो लक्ष्मणजी पिता की घोर आपत्ति तथा मर्म्मान्तक कष्ट भूलकर स्वयं अन्याय कर बैठे। मारे क्रोध के आपका सारा शरीर काँपने लगा और मुँह से स्पष्ट शब्द निकलना कठिन हो गया। आप कहने लगे:—

लक्ष्मण—भइया ! पिताजी तो कैकेयी माता के मोह-जाल में फँस विवेक-शून्य हो रहे हैं। सत्य है:—

"कामातुराणां न भयं न लज्जा"।

युवती स्त्री के मोह-पाश में फँसकर पुरुष भय और लज्जा दोनों खो बैठता है और बड़े बड़े अनर्थ करने में उसे तनिक भी संकोच नहीं होता। वृद्धावस्था से कुछ निर्बल हो जब मनुष्य प्रलोभन में पड़ता है, तो उसे अपने को सम्हालना असम्भव सा हो जाता है। पिताजी हमारे परम पूज्य देवता हैं सही; पर उनका अन्याय हमको

सहा नहीं जाता। मारे क्रोध के मुझे उचितानुचित का विवेक नहीं है। हा दैव! ऐसे आज्ञाकारी निरपराध पुत्र को पिता के हाथ से यह भीषण दण्ड! नहीं, यह पिता का नहीं, शत्रु का काम है; फिर जब पिता के अनुरूप कार्य्य न करने से महाराज पिता ही न रहे तो अवश्य अपराधी होने से दण्डनीय हैं। आप सरल-स्वभाव हैं, अतएव इस षड्यन्त्र के रहस्य को नहीं समझते। यदि आज्ञा हो, तो मैं अकेला आपके सब शत्रुओं को क्षणमात्र में यमलोक भेज दूँ।

श्री राम—चुपो, भइया लक्ष्मण चुपो; अपनी वाणी ऐसे पाप-मय वचनों से कलुषित मत करो। देखो, नीति-शास्त्र क्या कहता है:—

"आज्ञा गुरूणां ह्यविचारणीया"।

अर्थात्, गुरुजनों की आज्ञा उचित है अथवा अनुचित—इस प्रकार के तर्क-वितर्क में समय न खोकर उस का पालन करना चाहिये; क्योंकि पिता-सदृश गुरु-जन अपनी संतान को कदापि ऐसी आज्ञा नहीं देते जिसके पालन से उनका वास्तविक अहित हो। यदि ऐसा मालूम पड़े, तो जानना कि माता-पिता धर्म्म-भीरुता के कारण अपने कलेजे में पत्थर रखकर ऐसी आज्ञा दे रहे हैं और जानते हैं कि यदि सन्तान को इस अनर्थ से बचाते हैं तो इससे भी घोर आपत्ति में उसे डालते हैं।

मान भी लिया कि संसार में ऐसे भी नराधम हैं जो स्वार्थ-वश अपनी ही प्रिय सन्तान को क्षति पहुँचाने में संकोच नहीं करते, पर अपने पिताजी कदापि ऐसे नर-पशु नहीं हैं। यदि उनके जीवन-वृत्तान्त पर एक दृष्टि डालो

तो तुरन्त देखोगे कि उन्हें अपना धर्म्म कैसा प्यारा है। यदि हम तुम्हारा ही कहना सत्य मानें तो भी पिताजी को दोष देने के अधिकारी कदापि नहीं हो सक्ते। कहावत है:—" अपनी करनी, पार उतरनी।" अर्थात् प्रत्येक मनुष्य अपने कार्य्य का उत्तर-दाता है। यदि पिताजी पाप करते हैं, तो क्या पुत्र को भी उनका अनुकरण करना चाहिये? वहुतेरे कहा करते हैं कि उसने जव ऐसा किया तो हम भी क्यों न करें? इसका उत्तर यही है कि यदि वह जान-बूझकर कुए में कूदता है तो क्या तुम भी कूदोगे? क्या ऐसा करने से तुम भी अपने प्राण न खो बैठोगे?

मान भी लिया जाय कि पिताजी वास्तव में अधर्म्म कर रहे हैं; पर इससे क्या? वे जो चाहें जो करें; पर हम तो अपने धर्म्म-पथ से रत्ती भर भी विचलित नहीं होने के, इसे सत्य मानो। पर, हमारे पिताजी तो अधर्म्म कर ही नहीं रहे; वरन अपनी धर्म्म-रक्षा में अपने सारे जीवन-सुख को तिलाञ्जलि दे रहे हैं। क्या तुम इसे ही कर्त्तव्य मानते हो कि वे पुत्र-प्रेम में फँसकर अपनी सत्य-निष्ठा त्याग बैठें? धिक्कार है, भइया लक्ष्मण, तुम्हारी ऐसी समझ को! अन्याय तो तुम करते हो और दोषी ठहराते हो अपने देव-तुल्य पिता को, जो प्रतिज्ञा-निर्व्वाह और सत्य की रक्षा के लिये अपना सारा संसारी सुख त्याग प्राणोत्सर्ग करने से भी नहीं डरते। यदि मैं तुम्हारा कहा मान वनवास अस्वीकार करूँ तो पिताजी का सत्य जायगा और मैं स्वार्थी कुपूत सदा के लिये कलंकित हो बैठूँगा। वस, भइया लक्ष्मण; अब आगे ऐसी वात कदापि मुँह पर न लाना। ईश्वर तुम्हारा कल्याण करे!

पाठ २७.

नशा आदि व्यसन।

"बुद्धिं लिम्पति यद्वस्तु मदकारीति उच्यते," अर्थात् मदकारी वस्तु उसीका नाम है जिससे बुद्धि बिगड़ जाती है। नशे से बुद्धि तो बिगड़ती ही है; पर शरीर को भी कुछ कम हानि नहीं पहुँचती। १८ वर्ष की अवस्था से पूर्व इसका उपयोग करनेवाले युवकों की बाढ़ मारी जाती और उनका शरीर पुष्ट नहीं होने पाता। नशे की गर्मी से कामेच्छा का उभाड़ भी होता है जो ब्रह्मचारियों के लिये बड़ा हानि-कारक है।

नशे से जो आनन्द होता है उसका कारण यही है कि शरीर के ज्ञान-तन्तुओं के ज्ञान-शून्य हो जाने से थकावट नहीं व्यापती। इसके सिवा, पान, तम्बाकू आदि से लेकर भंग, शराब तक में कई प्रकार के विष रहा करते हैं। इनके निरन्तर सेवन से शरीर की रगों की चेतना-शक्ति मन्द पड़ जाती, उनके मन्द पड़ने से रक्त-संचार में बाधा पड़ती, पेट की पाचन-क्रिया मन्द होते होते प्रायः नष्ट ही हो जाती और शरीर भाँति भाँति के रोगों की रंग-भूमि बन जाता है। सबसे बढ़कर हानि तो यह है कि नशेलची मनुष्य की संकल्प-शक्ति बिलकुल शिथिल हो जाती और उसे धीरे धीरे भले-बुरे का विवेक भी नहीं रहता। ऐसे मनुष्य का विश्वास भी कोई नहीं करता।

स्मरण रहे कि जिन जिन पदार्थों के सेवन की आदत पड़ जाती है और समय पर उनके न मिलने से कष्ट होता है वे सब मादक, अतएव हानिकारक, होते हैं। लोग समझते

हैं कि इनके सेवन से जो फुर्ती सी आती और शरीर फिर से हरा-भरा हो जाता है यह लाभकारी है; पर यह उनकी भूल है। विद्यु त्-शक्ति के प्रयोग से मृत मेंडक भी हाथपैर फैलाने लगता है; पर क्या इस प्रकार का व्यापार किसी काम का होता है? हम कह चुके हैं कि थका-माँदा मनुष्य जब एक बीड़ा खा लेता, एक चिलम तम्बाकू अथवा एक प्याला चा, काफी, शराब आदि पी लेता है तो उसके शरीर में जो फुर्ती सी आई हुई जान पड़ती है वह शरीर के रगों के निश्चेष्ट हो जाने का परिणाम है। कोई २ डाक्टर तो कहते हैं कि मनुष्य के शरीर में बल का भंडार रहता है जो बीमारी तथा बुढ़ापे के समय काम आता है। जिन लोगों में यह गुप्त बल बहुतायत से जमा रहता है वे कठिन से बीमारियों को भी पार कर जीवित बच जाते और वृद्ध से वृद्ध होने पर भी ऐसे अधिक शिथिल नहीं पड़ते। जिस प्रकार तरुणावस्था में कमाई करके धन-संचय कर लेने वाले वृद्धावस्था में सुख से काल व्यतीत करते हैं उसी प्रकार संयम-पूर्वक जीवन बिताने से जिन लोगों के शरीर में गुप्त बल का संचय रहता है वे एक तो कठिन बीमारियों से बचे रहते है, दूसरे जो कहीं बीमार पड़ ही गये तो अन्त में उठ बैठते हैं, तीसरे वृद्धावस्था में भी वे कई जवानों के कान काटते हैं। दूसरे लोग जो तरुणावस्था में शरीर-रूपी बत्ती दोनों ओर से जलाते हैं और उस बल का संचय नहीं करते वे किसी कठिन बीमारी का साम्हना पड़ने पर ठहर नहीं सक्ते और ५०-५० वर्ष की अवस्था में ही बूढ़े बन बैठते हैं। मादक पदार्थों में यह गुण है कि बहुत थका मनुष्य ज्योंही उनका सेवन करता है त्योंही उसके शरीर के कुछ संचित बल का व्यय होने लगता है जिससे उसके शरीर

में फुर्ती आ जाती है और इसी प्रकार बहुत काल तक उसका उपयोग होता गया तो उसके कम होते जाने से नशा अधिक बढ़ाने की आवश्यकता मालूम पड़ने लगती है और नशे की मात्रा बढ़ते जाने से संचित बल तो खर्च होता ही है, संचय-क्रिया भी मन्द हो जाती है और प्लेग, हैज़ा आदि प्राण-घातक रोगों के प्रकोप के समय ऐसे ही निर्व्वल लोग उनकी चपेट में पड़कर यम-सदन का मार्ग छानने लगते हैं।

पान खाकर चित्त प्रफुल्लित होने से लोग उसकी प्रशंसा में बड़े २ श्लोक कहते और दूसरों को धोखे में डालते हैं। तम्बाकू, भाँग, अफीम, आदि के नशों के चेले अपने २ नाशकारी व्यसन की प्रशंसा में लम्बी कविताएँ बनाये बैठे रहते हैं और नये २ चेले मूड़ा करते हैं। ये चेले आरम्भ में आनन्द का कुछ अनुभव अवश्य करते और समझते हैं कि हममें नया बल आ गया। अरे, आ गया कि गाँठ का चला गया? यदि रहता तो आगे कितने काम आता? कदाचित् यही सञ्चित बल किसी दिन बीमारी के समय प्राण-रक्षा करता। हे मूर्खों, क्यों ऐसे भ्रम में पड़कर निरे मृग जल से प्यास बुझाने का प्रयत्न करते हो?

जिस प्रकार थके-थकाये घोड़े को आगे चलाने के लिये कोड़ा मारा जाता है और वह चलने लगता है; पर वास्तव में उसकी थकावट और भी बढ़ती जाती है, उसी तरह नशा करके फुर्ती लाने वाले मनुष्य का भी हाल है। [illegible] क बाहर निकलती और शक्ति-कोड़ा लगने से संचित श[illegible] औषधि-रूप में इन विष-युक्त भंडार खाली हो जाता है [illegible] लाभ होता हो; पर बैठे-ठाले पदार्थों के सेवन से चाहे [illegible]रना मानों अपने हाथ अपने स्वस्थावस्था में उनका सेवन क[illegible] पैरों में कुल्हाड़ी मारना है।

हाय, आज कल हमारे देश में नये २ दुर्व्यसन फैलते जाते हैं। कई शिक्षित महाशय तो यही समझ बैठे हैं कि सिगरेट और शराब दोनों सभ्यता के चिह्न हैं। जिनके आजा इन पदार्थों को अत्यन्त घृणा की दृष्टि से देखते थे वे ही उन्हें अपनी प्यारी वस्तु समझने और खुलकर उनका सेवन करने लगे हैं। सिगरेट? जानते हो, कहाँ २ किस तरह बनाई जाती है? पाश्चात्य देशों में कई ऐसी कम्पनियाँ हैं जो सिगार (चुरुट) के बचे हुए भागों को बाज़ारों, सड़कों तथा अन्य स्थानों से बिनवाकर और उनकी तम्बाकू को फिर से तय्यार कराकर सिगरेटों में भरते हैं। ये ही सिगरेट हैं जो देश-देशान्तरों में जाकर बिकती हैं और हमारे देश के बड़े २ कुलीन जिन्हें सिगरेटबाज़ी का चस्का लगा है इसी जूठी तम्बाकू को अपने अधर-पल्लवों पर रख कर स्वर्ग का आनन्द लूटते हुए प्रतीत होते हैं। आओ, पितृ-गण आओ, आप तो स्पृश्यास्पृश्य वस्तुओं की बड़ी छानबीन किया करते थे और एक ब्राह्मण का छुआ पानी भी ग्रहण नहीं करते थे; पर देखो, यह आपकी सन्तान है जो जूठी चुरुट की तम्बाकू को इतना पवित्र समझती है कि उसे अपने होठों पर ही रख लेती है! यह भी कहा जाता है और बड़े २ विलायती डाक्टर साक्षी देते हैं कि सिगरेट बनानेवालों को थोड़ी मज़दूरी मिलनेसे हृष्ट-पुष्ट आदमी यह काम नहीं करते, वरन अपाहज, निर्बल या रोगी मनुष्य ही सिगरेट के कारख़ानों में दिखाई देते हैं। एक डाक्टर ने तो लिखा है कि कई कारख़ानों में हमने कोढ़ी तथा अन्य कई कुत्सित रोगों से पीड़ित स्त्री-पुरुषों को यह कार्य्य करते देखा है। एक जगह तो एक कोढ़ी अपने थूक से सिगरेट का काग़ज़ लपेटता हुआ

मिला था !" हे विद्यार्थियो ! अपने सुखमय जीवन-रूपी फूल की अधखिली बोंड़ी में तुम सिगरेट-रूपी कीड़े को क्यों लगा रहे हो? क्या तुम नहीं जानते कि इस कीड़े से सारी बोंड़ी ही नष्ट हो जाय तो आश्चर्य नहीं; क्योंकि उसके स्पर्श-मात्र से कोढ़ादि अनेक भयङ्कर रोगों के कीटाणु तुम्हारे शरीर में सहज ही में प्रवेश कर सकते हैं।

पान, सुपारी, कत्थे और चूने में तरह २ के विष रहते हैं। ये अलग २ तो हानिकारक होते ही हैं; पर एक साथ मिलने से और भी अधिक हानि पहुँचाते हैं। इनके सेवन से, अर्थात् खाने से, शरीर का कोई ऐसा भाग नहीं है जिसपर इनका हानि-कारक प्रभाव न पड़ता हो। तम्बाकू में "निकोटीन" नामक विष इतना तीव्र होता है कि एक-दो बूँद ही मनुष्य के प्राण लेने को बहुत होता है। पान के "पिपराइन" नामक विष का भी यही असर होता है। ऐसे भयङ्कर विषों का सेवन अवश्य ही हानि-कारक होता है। चा और काफी में "कफ़ीन" नामक विष रहता है। जिन लोगों का शरीर पूर्ण रूप से बनकर प्रौढ़ हो गया है उनको भी इन दुर्व्यसनों से हानि होती है, बच्चों की हानि का तो कहना ही क्या है। अधिक चा पीने वालों के हाथ काँपने लगते हैं, अधिक पान-तम्बाकू से मंदाग्नि हो जाती, मानसिक शक्तियाँ अपना २ काम करने में असमर्थ होतीं, पान वा तम्बाकू लग जाने से शरीर में विचित्र गर्मी उत्पन्न होती, सिर घूमने लगता और वमन हो जाता है। कई लोग तो इन दुर्व्यसनों से अपना मन और शरीर इतना निर्व्बल कर लेते हैं कि पक्षाघात (लकवा) रोग के शिकार बन किसी काम के नहीं रहते हैं। हमारे धर्म्म-शास्त्र-रचयिता ऋषि-मुनि अवश्य ही इन मादक पदार्थों के दुष्परिणाम

को जानते थे, तभी तो उन्होंने ब्रह्मचारी, विधवा स्त्री आदि को पान खाने का निषेध किया है। अब कोकेन नामक विष का सेवन भी बड़े २ नगरों में पान के साथ होने लगा है। यह और सब नशाओं से अधिक हानिकारक है, और थोड़े ही काल में अच्छे हट्टे-कट्टे जवानों का शरीर नष्ट कर डालता है।

पाठ २८.

इच्छा और तृष्णा ।

अहो, तृष्णा भी मनुष्य को कैसे २ नाच नचाती है ! उसके वशीभूत हो बड़े २ विद्वान्, संयमी, धीर, वीर, धर्म्म-धुरन्धर अपने सब उच्च आदर्शों को एकदम भूलकर नीच से नीच काम करने को तय्यार हो जाते हैं। मनुष्य कितना ही वृद्ध क्यों न हो गया हो; पर विषय-सुख-वासना उसे नहीं छोड़ती है। यह आत्म-संयमन की परम शत्रु है। प्राणिमात्र में विषय-सुख की इच्छा प्रबल रहती है। कई लोगों को तो धन-सम्पत्ति के देखने से ही परम सुख होता है, और अधिकांश स्त्री-पुरुष उसे अपने विषय-सुखों का साधन समझ इतना अधिक चाहते हैं।

कीर्ति या नामवरी की इच्छा भी मनुष्य के हृदय में स्वाभाविक है। सन्तान के लिये भी मनुष्य बड़े बड़े उपाय करता और गृहस्थी की झंझट में पड़ता है।

इन सब इच्छाओं का मर्य्यादा से बाहर हो जाना अच्छा नहीं। इसमें सन्देह नहीं कि ये इच्छाएँ स्वाभाविक हैं और इनकी तृप्ति भी नियम-पूर्वक करने में हानि नहीं

लाभ है। यदि प्राणिमात्र में कामेच्छा अथवा सन्तति-प्रेम न होता तो संसार का चलना असम्भव होता। यदि विषय-सुख की इच्छा इतनी प्रबल न होती तो किस उद्देश्य से मनुष्य किसी प्रकार का उद्यम करता? इससे यही सिद्धान्त निकलता है कि इन भिन्न भिन्न इच्छाओं की तृप्ति यदि नियमपूर्वक की जाय तो अनुचित नहीं। हम ऊपर दिखला चुके हैं कि धनार्जन और विषय-सुख के उपभोग की गणना हमारे पुरुषार्थ के अन्तर्गत रक्खी गई है।

बहुतेरे मनुष्य तृष्णा में पड़ धर्म्म और मोक्ष को भूल ही जाते हैं और निरे काम और अर्थ को पुरुषार्थ समझने लगते हैं। ऐसे लोगों की हवस दिनों-दिन बढ़ती ही जाती है और उनकी इच्छाएँ कभी तृप्त नहीं होतीं। विषय-सुख के उपभोग की वृद्धि अग्नि में घी की आहुति देते रहने के समान है।

आग में घी की आहुति देने से क्या वह बुझ सक्ती है? इसी प्रकार धन-सम्पत्ति की तृष्णा भी मनुष्य को "निन्नानवे के फेर" में डाले रहती है। जिस विषय-सुख के लिये उसके उपार्जन की आवश्यकता है उसे ही भूल लोग "भज कल्दारं, भज कल्दारं, कल्दारं भज मूढ़मते!" का भजन करने लगते हैं और साधन-मात्र को अभीष्ट समझकर ऐसे भ्रम में पड़ जाते हैं कि दमड़ी २ के पीछे चमड़ी खिचवाने को तय्यार रहते हैं। विषय-सुख-लोलुप तथा कृपण जन अपना सारा मन और तन इन्हीं पर न्यौछावर कर डालते और अपना सारा कर्त्तव्य एकदम भूल जाते हैं।

पाठ २९.

तृष्णा का दृष्टान्त।

प्रभु यीशु मसीह ने कहा है कि सुई के छेद में से इतने बड़े ऊँट का निकल जाना चाहे सम्भव मान लिया जाय, पर धन-लोलुप जीव का स्वर्ग-प्रवेश असम्भव है। एक कथा इस प्रकार है:—

एक साधारण स्थिति के दीन मनुष्य की मृत्यु हो जाने पर वह स्वर्ग-द्वार पर जा पहुँचा और मन ही मन सोचता गया कि मैंने जो बड़े २ दुःख सहकर अपना शील-स्वभाव तथा आचरण ठीक रक्खा है और दीन-दरिद्र होने से आचार-भ्रष्ट धनी-मानी पुरुषों के किये हुए अपमान तथा अत्याचार चुपचाप सह लिये हैं उसका फल मुझे अब शीघ्र ही मिलने वाला है। जिस प्रकार संसार में एक दुष्ट धनाढ्य का बड़ा आगत-स्वागत किया जाता है उससे भी बढ़कर देवगण मेरा सम्मान करेंगे। निदान जब वह स्वर्ग-द्वार पर पहुँचा तो देखता क्या है कि देवगण एक धनी अतिथि के स्वागत में ऐसे व्यस्त हैं कि उसकी ओर देखते भी नहीं। जब उसे खड़े २ बहुत विलम्ब हो गया तो वह खिन्न हो लम्बी साँस भरने और कहने लगा कि "हाय, जिस फल की आशा से मैंने संसार में इतने कष्ट सहे और अपने को धर्म-मर्य्यादा के भीतर रक्खा वह यहाँ भी मिलता नहीं दीखता। हाय! यहाँ भी धनी और निर्धन में इतना बड़ा भेद माना जाता है; भले-बुरे का तनिक भी विचार नहीं होता। वह मन ही मन गुनगुनाने लगा:—

"दुविधा में दोनों गये, माया मिली न राम।"

निदान जब देव-गण उस धनाढ्य पुरुष को बड़े हावभाव से भीतर ले गये तो उनमें से एक ने इस निर्धन की ओर मुँह फेरा और हँसकर उससे कहा:—

"महाशय, आप जानते ही होंगे कि हम देवता दूसरों के मन की बात जान लेते हैं। आप खड़े २ जो विचार कर रहे थे वे सब मुझे विदित हैं। आप बड़े भ्रम में पड़े हैं। सच मानिये, आपको अपने धर्म्माचरण का फल अवश्य मिलेगा। आप जो समझते थे वही ठीक है, मर्त्यलोक के समान यहाँ धनी और निर्धन में तनिक भी भेद नहीं माना जाता। यहाँ पूर्ण न्याय होता है"।

निर्धन—महाराज, आपसे विवाद कौन करे? आँखों की देखी मानूँ या कानों की सुनी? यह धनी-निर्धन का भेद नहीं तो क्या है? मैं इतनी देर से खड़ा २ मुँह ताक रहा हूँ और उस धनाढ्य के आगत-स्वागत में आप सब ऐसे व्यस्त हैं कि मेरी ओर कोई देखता भी नहीं। यह तो मर्त्य-लोक का सा व्यवहार है।

देवता—अरे भले आदमी! तुम से निर्धन सदाचारी तो स्वर्ग में अँतरे दूसरे दिन आते हैं; परन्तु सदाचारी धनी तो यहाँ गुलरी का फूल है। विरले ही धन-पात्र यहाँ आते हैं, सो भी कभी २। किसी धनी पुरुष का स्वर्ग पहुँचना हम लोगों के लिये एक असाधारण घटना है, इसीसे आज यह उत्सव मनाया गया है। दूसरे, जो जिस ढंग से रहता है उसे उसी ढंग से रहने में आनन्द आता है। भला तुम्हारे सरीखे साधु सज्जनों को कहीं यह आडम्बर प्रिय हो सक्ता है? चलो, स्वर्ग में प्रवेश कर अपने शुभ कर्म्मों का

फल भोगो, अपने ही समान निर्धन साधु-महात्मा-ओं से इसे भरा पाओगे, यहाँ धनी-मानी विरले ही मिलेंगे।

इससे यह न समझ लिया जाय कि धन-संचय में ही पाप है। हिन्दू-शास्त्रों में तो धन धर्म्म का एक बड़ा साधन माना गया है।

विद्या ददाति विनयं विनयाद्याति पात्रतां।
पात्रत्वाद्धनमाप्नोति धनाद्धर्म्मं ततः सुखम्॥

इस श्लोक में स्पष्ट कह दिया गया है कि धन से धर्म्म और धर्म्म से सुख होता है। इसके सिवा जो धनार्जन पुरुषार्थ का प्रधान अंग बतलाया गया है वह बुरा नहीं, अच्छा है। धन द्वारा मनुष्य दीन-दुखियों तथा जन-समाज की बहुत बड़ी सेवा कर सक्ता है। पर, बहुधा यही देखा जाता है कि धनी जनों में तृष्णा के अत्यन्त प्रबल हो जाने से वे अपना सारा कर्त्तव्य भूलकर सदा "निन्यानवे के फेर" में पड़े रहते हैं।

अति सर्व्वत्र विवर्जयेत्।

पाठ ३०.

दान-मीमांसा।

श्रोत्रं श्रुतेनैव न च कुण्डलेन दानेन पाणिर्न च भूषणेन।
विभाति कायः करुणापराणां परोपकारैर्न तु चन्दनेन॥

धन की शोभा दान से ही है; पर दान हो सात्विक, अर्थात् बदला पाने की इच्छा से अपात्र पुरुष को

न दिया जाय। ऐसा दान सच्चा दान नहीं है। पेशे वाले भिखारियों को दान देना मानो उन्हें आलसी बनाने में योग देना है। प्राचीन हिन्दू काल में शिक्षा देना तथा न्याय करना ब्राह्मणों का ही काम समझा जाता था, जिससे सर्व्वसाधारण का बड़ा उपकार होता था। वे ऐसे कार्य्य करने के बदले वेतन लेना पाप समझते थे, और कहते थे कि इन कार्य्यों के लिये कुछ लेना विद्या तथा न्याय बेचने के बराबर है। यद्यपि सन्तोष ब्राह्मण का प्रधान गुण था, तथापि गृहस्थी का निर्व्वाह द्रव्य बिना नहीं हो सक्ता था, इसीसे ऐसे परोपकारी ब्राह्मणों की सहायता की जाती थी और इन्हें भोजन कराना, वस्त्र पहिनाना तथा यथाशक्ति दक्षिणा देना प्रत्येक हिन्दू गृहस्थ का धर्म्म समझा जाता था। इसके सिवा दीन, दरिद्र, अपाहज आदि को भी दान देना धर्म्म माना जाता था। ऐसे ही लोग पात्र कहलाते हैं और इन्हें दान देना सात्विक दान कहलाता है। अपात्रों को दान देने का निषेध सर्व्वत्र किया गया है। श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं:—

दरिद्रान् भर कौन्तेय! मा प्रयच्छेश्वरे धनम्।

अर्थात् हे कुन्ती-पुत्र अर्जुन! दरिद्रों का भरण-पोषण कर; जिनके पास धन है उनको मत दे।

इसके सिवा तालाब, कूप आदि खुदाना, बाग़-बगीचे लगवाना, धर्म्मशाला, मन्दिर आदि बनवाना भी धर्म्म-कार्य्य समझे जाते हैं; क्योंकि इनसे सर्व्वसाधारण का बड़ा उपकार होता है। कहा है:—

"परोपकाराय सतां प्रवृत्तिः।"

अर्थात् साधु पुरुषों की प्रवृत्ति परोपकार की ओर

झुकती है। बहुधा देखा गया है कि अच्छी बातों का दुरुपयोग होने से बहुत हानि हो जाया करती है। आग के बिना जीवन-निर्व्वाह नहीं हो सक्ता सो सभी स्वीकार करेंगे। पानी भी हम लोगों के जीवन का आधार है; पर इन्हीं परमावश्यक वस्तुओं से कभी २ लोगों का सर्व्व-नाश हो जाता है और वे प्राण तक खो बैठते हैं। इसी तरह आजकल दानादि की प्रथा बहुत बिगड़ी है। अब भी रजवाड़ों में यह रीति है कि समय २ पर ब्राह्मणों की सभा कर शास्त्रार्थ आदि द्वारा उनकी विद्वत्ता परखी जाती और तदनुसार उनको दान-दक्षिणा दी जाती है। ब्राह्मण-मात्र होने से मनुष्य दान का पात्र समझा जाना चाहिये।

विद्या-दान वास्तव में सबसे ऊँचा दान है। शिक्षा पा जाने से मनुष्य को जो लाभ होता है वह किसीसे छिपा नहीं है। शिक्षित स्त्री-पुरुष अपना तथा अपनी जाति वा देश का हित कर सक्ते हैं। शिक्षा-प्रचार मानो सब अच्छी २ बातों का बीज बो देना है। आगे वह कार्य्य ब्राह्मण और मुसलमान-काल में मुल्ला या मौलवी किया करते थे। यूरुप में शिक्षा का कार्य्य ईसाई पादरियों के हाथ में था। पर अब वह सरकार और जनता का कर्त्तव्य हो गया है। सर्व्व-साधारण की ओर से विश्वविद्यालय, कालेज, स्कूल आदि के लिये चन्दे हुआ करते हैं। इनमें चन्दा (दान) देना प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है और आगे के ब्राह्मणों को दान देने के ही समान है। जहाँ ब्राह्मण पण्डित लोग संस्कृत-शालाएँ चलाते हैं वहाँ उनको तथा उनके दीन विद्यार्थियों को समय २ भोजन कराना और वस्त्र तथा दक्षिणा देना प्रत्येक हिन्दू गृहस्थ को अपना धर्म्म समझना चाहिये।

देहात में कुवा-तालाब खुदवाना, बाग़-बगीचे लगवाना जिनसे ग्राम-निवासियों को लाभ हो अब भी सात्विक दान समझा जाना चाहिये। जहाँ मन्दिर वीरान न पड़े हों वहाँ मन्दिर बनवाकर उनमें पूजन आदि के लिये प्रबन्ध कर देना और ऐसा नियम बना देना कि समयान्तर में पुजारी महाराज की सन्तान मन्दिर का धन खुद न हड़प जाय प्रत्येक मन्दिर बनवाने-वाले का कर्त्तव्य है।

यदि धर्मशाला बनवाने की आवश्यकता वास्तव में हो तो यह कार्य्य भी अच्छा है; पर आजकल और भी कई कार्य्य हैं जिनके द्वारा परोपकार, समाज-सेवा आदि कर्त्तव्य पूरे किये जा सक्ते हैं। जिसको ईश्वर ने माना है उसे समझना चाहिये कि जिन दीन श्रमजीवी स्त्री-पुरुषों एवं सेवकों के परिश्रम तथा कष्ट उठाने से यह धन हमें प्राप्त हुआ है उनका भी भाग इसमें अवश्य है। धनवानों को चाहिये कि वे अपने दीन तथा दरिद्र भाइयों का स्मरण सदा रक्खें और यह समझें कि हमारे धन में उनका भी हिस्सा है; क्योंकि यदि वे इतना परिश्रम न करते, हमारे व्यापार के कार्य्य में हाथ न बँटाते तो हम इतना धन-संचय कदापि न कर सक्ते; इसलिये उनके मनोरंजन के लिये पार्क, बगीचे, सम्मिलन-भवन (क्लब) आदि और उनकी स्वास्थ्य-रक्षा के लिये औषधालय और उनके बच्चों की शिक्षा के लिये पाठशाला, पुस्तकालय आदि बनवा देना कल-कारखानों के धनाढ्य स्वामियों का कर्तव्य है। इन सब कार्य्यों में धन लगाना तथा प्लेग, विशूचिका, चेचक, अकालादि के ज़ोर पकड़ने पर दीन-दुखियों की रक्षा के उपाय करना प्रत्येक स्त्री-पुरुष का काम है। इसमें ब्राह्मण-शूद्र का भेद न

निकालना चाहिये, वरन किसी जाति, रंग या धर्म्म का मनुष्य क्यों न हो, पक्षपात-रहित होकर उसकी सहायता करनी चाहिये ।

अयं निजः परोवेति गणना लघुचेतसाम् ।
उदारचरितानान्तु वसुधैव कुटुम्बकम् ॥

अर्थात् यह अपना है और यह पराया इस प्रकार का भेद-भाव वे ही करते हैं जो दिल के ओछे होते हैं; पर जिनके चरित्र उदार हैं उनके लिये सारा संसार कुटुम्ब के समान है ।

स्मरण रखना चाहिये कि मनुष्य-जाति की सेवा पूजन, उपासना, भगवद्भक्ति, आदि धर्म्म-कार्य से कुछ कम नहीं है। परमेश्वर को वह मनुष्य अवश्य प्रिय है जो उसकी बनाई हुई सृष्टि के जीवों से स्नेह रखता और उनकी सेवा एवं रक्षा करता है ।

इन सब धर्म्म-कार्य्यों को किसी प्रकार फल वा बदला पाने की इच्छा से नहीं वरन अपना कर्त्तव्य समझकर करना चाहिये। जो लोग दस पाँच हज़ार रुपया किसी चन्दे में देकर यह आशा रखते हैं कि और नहीं तो हमारा नाम तो होगा और सरकार भी हमसे प्रसन्न होकर आश्चर्य नहीं कि हमको सनद, दरबार में कुर्सी, या राय बहादुर आदि पदवियों में से कोई पदवी दे देगी वे धर्म्म-कार्य्य नहीं, वरन लेन-देन का व्यापार करते हैं, उतना रुपया देकर मानो पदवी आदि खरीदना चाहते हैं अथवा जुवा खेलते और उतने रुपयों का दाँव लगाकर अपना भाग्य परखते हैं। यह न तो दान कहा जा सक्ता है और न कर्त्तव्य-पालन। हाँ, सच्चे उदार देश-हितैषी सज्जनों का

मान सर्व्व-साधारण तथा सरकार के यहाँ होता ही है; पर जो इस मान को ही अपने दान का उद्देश्य मानते हैं उनकी कलई खुले बिना नहीं रहती और मान के बदले उनका अपमान और उपहास होने लगता है। जो लोग निस्पृह एवं कर्त्तव्य-शील होकर सब काम करते हैं उनकी कीर्ति आपसे आप होती और उन्हें उपाधि आदि भी मिल जाती हैं। इसीसे प्रभु यीशु ने उपदेश दिया है कि ," जब तू अपने दाहिने हाथ से दान करने लगे तो इस तरह कर कि तेरा बायाँ हाथ भी न जानने पावे "। हिन्दू-धर्म्म में तो जहाँ देखो वहाँ निष्काम कर्म्म की ही महिमा गाई गई है और गुप्त दान की बड़ी प्रशंसा की गई है। हमारा ध्येय यह होना चाहियेः—

नत्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नाऽपुनर्भवं ।
कामये दुःख-तप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम् ॥

अर्थात् न तो मुझे राज्य चाहिये, न स्वर्ग और न पुनर्भव अर्थात् नया जन्म, बरन दुःखों से तप्त भ्राताओं की दीनता दूर करना ही मैं चाहता हूं।

पाठ ३१.

स्वभाव वा टेंव ।

जिन लोगों ने बचपन से ही अपने चरित्र का संगठन ठीक तौर से नहीं किया और वशेन्द्रिय नहीं हुए, जिन्हों ने विषय-वासना का दासत्व त्यागने की कभी चेष्टा नहीं की उनकी संकल्प-शक्ति इतनी निर्बल पड़ जाती है कि पीछे से वे हज़ार उपाय करें; पर अपनी बुरी टेंव नहीं छोड़ सक्ते ।

कहते हैं कि एक गधा किसी फ़क़ीर के अनुग्रह से मनुष्य बन गया—मनुष्य ही नहीं, ख़ासा विद्वान् मौलवी साहिब। उसकी यह अलौकिक उन्नति देख उसकी जाति के और सब गधे बड़े खिन्न हुए और दिनरात इसी घात में रहने लगे कि हज़रत की कलई कैसे खुले और इस जाति-तिरस्कार का उचित दण्ड कैसे दिया जाय। निदान एक गधे ने उन सबको समझाकर कहा कि "देखो, अभ्यास से प्राणी के चरित्र का संगठन होता है; और जब किसी बात का स्वभाव पड़ जाता है तो फिर बड़ी कठिनाई से, बड़ा तप करने पर, बदलता है। विद्वान् मनुष्य इस गधे मौलवी का वास्तविक रूप न जानकर उसका आदर करते और सभा-समाजों में उसे उच्च स्थान देते हैं; पर यदि तुम्हारे प्रयत्न से उन्हें विदित हो जाय कि नये मौलवी साहिब जाति के निरे गधे हैं तो फिर वे इसे अपमान के गहरे गड्ढे में पटकें। अब तुम किसी दिन भरी सभा में इस वेष-धारी गधे को जब वह विद्वानों की मंडली में बड़े अभिमान से बैठा हो उस समय किसी उपाय से इसे घास की पूली अकस्मात् दिखलाओ, फिर देखना कि इस बुड्ढे का बतलाया हुआ यह मंत्र कैसा फलता है"।

निदान एक दिन जब एक बड़ी सभा हुई और बड़े २ मौलवी आकर बैठे, तो सर्व-सम्मति से गधे मौलवी सभापति बनाये गये और वे दाढ़ी फटकारते हुए उच्च मंच पर जा बैठे। साम्हने मेज़ भी बहुत बड़ा रक्खा गया था और एक ज़रदोज़ी ग़लाफ़ उसपर ऐसा डाला गया था कि ज़मीन तक लटकता था। एक छोटा सा गधा पहले से ही मेज़ के नीचे आ बैठा। सारांश यह कि जिस वक्त गधे मौलवी धारा-प्रवाह वक्तृता की धुन में मस्त थे, उस शैतान

गधे ने नीचे से एक घास की पूली उठाते २ उनकी नाक से छुवा दी। बस, फिर क्या था, भला पुरानी आदत कहीं भूल सक्ती है? बहुत समय के उपरान्त ऐसी हरी घास का पूला देखकर हज़रत अपना सारा बनावटी वेश भूल गये और कहाँ तो वक्तृता दे रहे थे, कहाँ एक अद्भुत रेंक द्वारा अपना अकथनीय हर्ष प्रगट कर आपने पूली की ओर मुँह मारा। यह चमत्कार देख सारी महफिल "अरे यह तो निरा गधा है! बड़ा मक्कार है, कैसा वेश बनाया कि इतने दिन कोई न पहिचान सका" आदि आवाज़ों से गूँज उठी। कोई २ जात्यभिमानी मौलवी मारे क्रोध के आग-बबूला हो गये और गधे को मारने-पीटने लगे। निदान उस वेश-धारी जीव को जंगल में छिपकर अपने प्राण बचाने पड़े।

पाठक, यह तो कल्पित कथा है; पर स्वभाव की प्रबलता का अच्छा दृष्टान्त है। एक बार जो आदत पड़ जाती है उसका छूटना बहुत कठिन हो जाता है; इसलिये छुटपन से ही सावधानी-पूर्वक बुरी टेंव न पड़ने देनी चाहिये।

पाठ ३२.

विषय-सुख-वासना।

विषय-सुख-वासना भी अत्यन्त प्रबल होती है और उसके साम्हने फिर मनुष्य को कर्त्तव्याकर्त्तव्य का स्मरण नहीं रहता और वह नीच से नीच कार्य्य करने में तनिक भी नहीं हिचकता। वह ऐसा स्वार्थी हो जाता है कि अपने सुख के साम्हने अपनी स्त्री और बाल-बच्चों की भी परवाह नहीं करता। पक्षी तो अपने पेट से निकालकर

अपने बच्चों को खिलाता-पिलाता है; पर मनुष्य जब विषय-वासना की प्रेरणा से स्वार्थी बन बैठता है, तो इन नीच योनि के प्राणियों से भी बढ़कर नीच बन जाता है। राजा ययाति की कथा विषय-सुख-लोलुपता का अच्छा दृष्टान्त है।

ययाति दैत्य-गुरु शुक्राचार्य्य के जामाता थे। आप बड़े ही विषयी (अय्याश) थे। आपके दुष्कर्म्मों से क्रुद्ध हो आपके ससुर ने शाप दिया कि जिस तरुणावस्था के कारण कामान्ध हो तू इतने घोर पातक कर रहा है उसे ही खो बैठ। उनके शाप से ययाति तरुणावस्था खोकर अत्यन्त वृद्ध हो गये। तरुणाई तो गई; पर तृष्णा की वैसी ही प्रबलता रही, जिससे आपका क्लेश साधारण वृद्ध पुरुषों के क्लेश से कई गुणा अधिक हो गया। अब तो आप ससुर की सेवा बहुत श्रद्धा-पूर्वक करने लगे और उन्हें प्रसन्न करने और शाप से मुक्त होने की चिन्ता में पड़ गये। निदान शुक्राचार्य्य ने आपपर दया की और कहा कि "यदि तुम्हारे पुत्रों में से कोई एक तुम्हें अपनी तरुणाई देकर तुम्हारा बुढ़ापा स्वीकार करे तो तुम फिर तरुण हो सकते हो, अन्यथा कोई उपाय नहीं है।"

हा! विषय-सुख-लोलुप जन भी कैसे अमानुषीय कृत्य करने को तय्यार हो जाते हैं! ययाति ने यह न देखा कि जिस बुढ़ापे से मुझे इतना कष्ट है उससे मेरे पुत्रों को भी वैसा ही कष्ट होगा। वह अपने पुत्रों को समीप बुलाकर प्रत्येक से गिड़गिड़ाकर उसकी तरुणावस्था माँगने लगा। ५ पुत्रों में से ४ तो कट गये; पर एक पुत्र पिता की आज्ञा का उल्लंघन-रूपी पाप अपने सिर पर नहीं लेना चाहता था। उसके भाई कहते थे कि पिता की यह आज्ञा अन्याय-पूर्ण होने से उसका उल्लंघन करने में पाप नहीं लग सकता; पर

वह कहता था कि पिता के दुष्कर्म्म का दण्ड पिता को ही मिलेगा; पर यदि हम लोग आज्ञा-भंग करेंगे तो हम अवश्य पापी ठहरेंगे। आप लोग इस आज्ञा की कठोरता देख मुझे ऐसी सम्मति देते हैं; पर क्या उसी आज्ञा को मानना चाहिये जिसके मानने में किसी प्रकार का कष्ट न उठाना पड़े? यदि इसीका नाम आज्ञा-पालन है तो बहुत अच्छी बात है; पर ऐसा तो किसी आचार्य्य का कथन नहीं है। सब यही कहते हैं कि "आज्ञा गुरूणां ह्यविचारणीया", फिर उसके न्याय या अन्याय-पूर्ण होने का विवेचन करना हमारे अधिकार से बाहर है। हमारा कर्त्तव्य तो स्पष्ट है। पिता अपने कर्त्तव्य से भले ही विमुख हो बैठें; पर पुत्र को कदापि नहीं होना चाहिये।

अहा! इस आर्य्यावर्त्त में कैसे २ सुपूत हो गये हैं! भीष्म, रामचन्द्र और ययाति-पुत्र पुरु का यह आज्ञा-पालन-व्रत प्रत्येक हिन्दू बालक को स्मरण रखना चाहिये। निदान पुरु सहस्र वर्ष के लिये अपनी तरुणाई पिता को सहर्ष दे उन्हींके समान बूढ़े बन गये। स्मरण रहे कि ययाति दैत्ययुग के थे; अतएव देवताओं के समान अजरामर थे। इनके लिये हज़ारों वर्ष हमारे अत्यल्प समय के बराबर थे। ययाति को अब यह सूझी कि अवकाश बहुत थोड़ा मिला है; अतएव जहाँ तक बन सके इन सहस्र वर्षों में जितना सुख भोग सकता हूँ उतना भोग लूँ जिससे किसी तरह का पछतावा न रहकर पूर्ण तृप्ति हो जाय। पर, भला अग्नि में आहुति देने से, वह कहीं बुझती है? विषय-सुख की सामग्री और उसके उपभोग की शक्ति रहते भला भोगी पुरुष कहीं तृप्त हुआ है? होगा वही जो इसे निस्सार समझ नियमपूर्व्वक इसका उपभोग करेगा और मर्य्यादा से बाहर

कदापि न जायगा। बस, कुछ कालमें ययाति ने देखा कि जैसे२ मैं तृप्ति का अधिक २ उपाय करता हूँ वैसे २ तृप्ति भी मुझसे सहस्र योजन दूर भागती है। निर्दिष्ट समय के भीतर सन्तोष भी नहीं होता दीखता और व्यर्थ अधर्म्म सिर पर बढ़ता आता है। अहो! मेरे पुत्र को कितना कष्ट हो रहा होगा! वाह, मैं भी अच्छा पिता हूँ जो अपने आज्ञाकारी पुत्र को उसके आज्ञा-पालन का ऐसा फल दे रहा हूं। मुझे सौ बार, सहस्र बार, असंख्य बार धिक्कार है। तृप्ति! तृप्ति का तो कहीं पता नहीं, तृष्णा दिनोंदिन अधिक होती जाती है। यह तृप्ति भोग से शांत नहीं होने की; होगी तो सर्व्वथा त्याग से। इस तरह सच्चा ज्ञान आते ही राजा ययाति को वैराग्य हुआ और उन्होंने विषय-वासना से सदा के लिये मुँह मोड़ा। अपूर्व्व शान्ति का अनुभव करते हुए उन्होंने अपने आज्ञाकारी पुत्र पुरु को अपने समीप बुलाकर उसकी तरुणाई दे डाली और उसके बदले अपना बुढ़ापा ले लिया। साथ ही उस परमाज्ञाकारी पुत्र से महाराज बहुत सन्तुष्ट हुए और अपनी स्वार्थ-परता से ग्लानि हो जाने पर आपने अपना सारा राज-पाट उसे प्रदान किया और वाण-प्रस्थ वन भगवद्भजन में प्रवृत्त हुए।

पाठ ३३.

अहिंसा।

"अहिंसा हि परमो धर्म्मः", अर्थात् "अहिंसा से बढ़कर कोई दूसरा धर्म्म नहीं है" यह भगवान् गौतम बुद्ध का आदेश है। जैनी लोग तो कीट-पतङ्गादि क्षुद्र से क्षुद्र प्राणियों की हिंसा को महा पातक समझते हैं। सभ्य ईसाई

और मुहम्मदी भाई भी किसी प्राणी को व्यर्थ कष्ट देना अनुचित मानते हैं। आजकल यूरुप, अमेरिका आदि देशों में न जाने कितनी पशु-कष्ट-निवारिणी सभा-समितियाँ बनी हैं जो प्राणियोंका कष्ट दूर करना अपना कर्त्तव्य समझती हैं और इन दयालु सज्जनों के उद्योग से उन देशों के शासन-कर्त्ताओं ने क़ानून बना दिये हैं जिनके भय से निष्ठुर से निष्ठुर लोग भी बेचारे मूक पशुओं को कष्ट नहीं पहुँचा सक्ते। हमने देखा है कि साहिब लोग अपने बहुमूल्य घोड़ों तथा अन्य पशुओं को किसी दूसरे के हाथ इस सन्देह से नहीं बेचते या देते कि कहीं कष्ट न हो, और गोली मार देते हैं। कई लोग कहेंगे कि वाह री ऐसी दया जिसके कारण बेचारे दयापात्र जीव का नाश ही कर दिया जाय। पर, यह अपना २ मत है। वे लोग इसीको दया समझते हैं।

खेद की बात है कि जहाँ अहिंसा परम धर्म मानी जाती है वहाँ पशुओं को हद से ज़्यादा क्लेश दिया जा रहा है। कई बकर-कसाई चमड़े के बिगड़ जाने और दो चार आने की हानि के भय से बकरी-बकरों के सिर और गले का चमड़ा जीते जी खींच लेते और फिर उन्हें मारते हैं। गो-वंश को देवता मानने वाले हिन्दू वत्स-हीन गायों से दूध निकालने के अर्थ फूका देकर उन्हें मर्मान्तक कष्ट पहुँचते हैं। बहुतेरे, गोशाला इतनी मैली रखते हैं कि मलमूत्र से आर्द्र भूमि में पड़े रहने तथा स्वच्छ वायु न मिलने और मक्खी, मच्छड़ आदि के काटने से इन बेचारे जीवधारियों को सदा सकष्ट जीवन बिताना पड़ता है। घोड़ों की पीठ में घाव रहने पर भी उनपर बोझ लादना, उनकी शक्ति के बाहर बोझ उनपर रखना, गाड़ी में जुते हुए बैलों की पूँछ मरोर मरोरकर तोड़ डालना, ताँगों में दिनरात दौड़ा २ कर इन

मूकों को मार डालना, बड़े २ लट्ठों से बेचारे पशुओं को अहीरों का पीटना, कुन्द वा संकीर्ण स्थानों में बहुत से पशुओं को बन्द रखना, बच्छों को बहुत थोड़ा दूध पीने को देना, काँढ़ाओं में सैकड़ों पशुओं को ठसाठस भरकर वर्षा काल में मलमूत्र से भरे हुए स्थान में खड़े रखना आदि कई बातों से तो यही प्रगट होता है कि हम लोग "अहिंसा हि परमो धर्म्मः" की डींग भर मारा करते हैं, हमारी अपेक्षा तो यूरुप और अमेरिका के मांसाहारी ही इनको अच्छा रखते हैं।

हमारे यहाँ सदा से वनस्पति, पशु, पक्षी और मनुष्य की गणना जीवधारियों में होती आई है। अभी कुछ शताब्दियों पहले यूरुप के लोग समझते थे कि पशुओं में आत्मा का अभाव है! वे निरे कलयंत्रों के समान चलने-फिरने-वाले पदार्थ हैं। जब डेकार्टस् आदि तत्ववेत्ता विद्वानों का मत ऐसा था तो आश्चर्य्य ही क्या कि पशुओं को कष्ट देना किसी प्रकार का अपराध न समझा जाता हो। अब समय ने ऐसा पलटा खाया है कि विकाशवाद (Theory of evolution) में मनुष्य बन्दर सरीखे पशु का और पशु वनस्पति का रूपान्तर समझा गया है। वनस्पति भी खनिज पदार्थों का परिणत रूप कहा जाता है। विकाश-वादी वैज्ञानिक कहते हैं कि सब से पहले परमाणु-रूप प्रकृति बनी थी, वे ही परमाणु घनिष्ठ होकर खनिज पदार्थ, खनिज पदार्थों से वनस्पति, वनस्पति से पशु आदि जीवधारी बने हैं और अन्त में मनुष्य की उत्पत्ति हुई है। अभी तक मनुष्य और पशु तो जानदार, पर वनस्पति और खनिज पदार्थ अप्राणी समझे जाते थे। हाल में ही भारतवर्ष का मुख उज्ज्वल करने वाले अध्यापक सर जगदीशचन्द्र वसु ने

अनेक परीक्षाओं तथा प्रमाणों द्वारा यह सिद्धान्त निकाला है कि सोना, चाँदी, लोहा आदि धातुओं वा खनिज पदार्थों से लेकर मनुष्य तक में एकसा प्राण वर्तमान् है और जिस प्रकार मनुष्यादि जीवधारियों में आघात पहुँचने से शारीरिक विकार उत्पन्न होते हैं वैसे ही धातुओं तथा वनस्पति में भी होते हैं। आपने अपनी विचक्षण बुद्धि और विलक्षण परीक्षाओं द्वारा यह स्पष्ट करके दिखाया है कि सोना, चाँदी आदि धातुओं को विष देने से उनमें अचेतनता आ जाती, दवा देने से वे होश में आ जाते और विष की मात्रा अधिक हो जाने से उनकी मृत्यु भी हो जाती है। वनस्पति को हर्ष, विषाद, क्लेश आदि होना, उसका सोना वा जागना और भीषण आघात पहुँचाने से मर जाना भी आपने परीक्षाओं द्वारा स्पष्ट कर दिखाया है।

यदि यह सत्य है, और हिन्दू तो सदा से इसे सत्य मानते आते हैं तो अहिंसा का सम्बन्ध सारी सृष्टि से सिद्ध होता है। पशु-पक्षियों को कष्ट पहुँचाना वैसा ही निष्ठुर कार्य्य है जैसा मनुष्य को। इससे यह प्रश्न उठता है कि अन्न, भाजी-तरकारी, फल आदि को तोड़ना, काटना तथा पीलना भी हिंसा है; अतएव अहिंसा-धर्म मानने वालों का जीवित रहना भी असम्भव है। हाँ, बड़े बड़े हरे वृक्षों को व्यर्थ काटकर फेंक देना तो हमारे यहाँ सदा से बुरा समझा जाता है; पर खाद्य पदार्थों का उपयोग करना हिंसा नहीं माना जाता। सब पदार्थों में चाहे प्राण-यंत्र भले ही चल रहा हो; पर निम्न श्रेणियों में यह उतना प्रबल नहीं होता जितना कि उच्च श्रेणियों में होता है। वनस्पति आदि निम्न श्रेणी के पदार्थों को काटने से उन्हें इतना कष्ट नहीं होता है कि ऐसा करना हिंसा समझा जाय। बात तो यह है कि

जहाँ तक सम्भव हो दूसरों को कष्ट न पहुँचाना चाहिये।

पाठ ३४.

अहिंसा का रूप।

बहुतेरे हिंसा का अर्थ वध करना ही समझते हैं; पर वास्तव में ऐसा नहीं है। किसी भी प्राणी को किसी भी प्रकार का व्यर्थ कष्ट पहुँचाना हिंसा है। किसी का धन छीन लेना, कड़ी बात कहकर किसी का चित्त दुखाना आदि कष्टदायक कार्य्यों को भी हिंसा कहना उचित है। कभी २ तो कटु वचन का इतना भयङ्कर परिणाम होता है कि उसकी चोट को न सह सकने से मनुष्य स्वयं प्राण दे बैठते हैं। क्या इसे हिंसा न कहना चाहिये?

जो व्यर्थ ही किसी प्राणी को कष्ट पहुँचाता है वह अवश्य ही हिंसक है। अपने ही सुख वा स्वार्थ के लिये हम दूसरे प्राणियों को कष्ट देते हैं। बहुतेरे तो अज्ञानता-वश ऐसा कर बैठते और बहुतेरे जान बूझकर निष्ठुर व्यवहार करते हैं। देखा गया है कि निष्ठुर कार्य्य करते २ मनुष्य का स्वभाव ही निष्ठुर हो जाता है। टिप्पू सुल्तान के समान निष्ठुर मनुष्य शायद ही कहीं हुआ हो। जिन पशु-पक्षियों को और लोग बड़े प्रेम से पालते हैं उन्हें कष्ट देने में इसे बड़ा सुख होता था। खेलते-कूदते पशुओं के बच्चों को वह बोटी २ करके काटते देख बड़ा प्रसन्न होता था। बिल्ली जिस प्रकार चूहे को खिला २ कर मारती और प्रसन्न होती है उसी प्रकार टिप्पू सुलतान की भी चित्त-वृत्ति थी। मनुष्यमात्र में यह निष्ठुरता थोड़ी बहुत रहती ही है

अतएव इसे कदापि न बढ़ने देना चाहिये, नहीं तो मनुष्य टिप्पू सुलतान के समान निष्ठुर वन जा सक्ता है। देखा गया है कि जो लोग मूक पशुओं पर निर्दयता करते हैं वे अवसर पड़ने पर मनुष्यों के साथ भी निष्ठुर व्यवहार करने में तनिक भी संकोच नहीं करते। यही कारण है कि हत्या के अभियोग में विलायत के कसाई जूरी (पंचों) में नहीं बुलाये जाते।

इस निर्दयता की टेंव लुटपन से ही रोकनी चाहिये। घर ही में यदि कई बच्चे होते हैं तो उनमें जो सबल होते हैं वे निर्बल बच्चों को तंग करने में बड़ा आनन्द समझते हैं। बड़ा भाई तक अपने छोटे भाइयों वा बहिनों को बेहद तंग करता, उन्हें व्यर्थ पीटता, चिवँटी लेता, उपाय रचकर उन्हें गिरा देता और जब उन्हें चोट लगती है तो वह मन ही मन प्रसन्न होता है। स्कूलों और छात्रालयों में तो छोटे बच्चों की जो दशा होती है उसका चित्र "टाम ब्रौन का स्कूली समय" नामक अंगरेजी पुस्तक में बहुत अच्छा खींचा गया है। विलायती स्कूलों में लड़कों का मास्टरों से रिपोर्ट करना बड़ा नीच काम समझा जाता है; अतएव छोटे छोटे नये विद्यार्थी दुष्ट बड़े विद्यार्थियों का अत्याचार मन ही मन रोते हुए सह लेते हैं। चुगली खाना वास्तव में बुरी बात है; पर छोटे छोटे निर्ब्बल बच्चों को तरह तरह के कष्ट पहुँचाना तो और भी अधिक नीच कार्य्य है। वीर बालक अथवा पुरुष यदि लड़ते हैं तो अपने तुल्य बल वालों से, न कि निर्ब्बलों से।

पाठ ३५.

अहिंसा के दृष्टान्त।

यह तो बच्चों तथा युवकों का हाल है। बड़े बड़े दाढ़ी मूछ वालों में भी यह दुर्गुण पाया जाता है। सीधे सादे निर्बल मनुष्य को लोग हँसी हँसी में इतना तंग किया करते हैं कि उस बेचारे को अपना जीवन भार-रूप हो जाता है। साले आदि के साथ दिल्लगी करने की प्रथा होने से लोग कभी कभी हँसी के नाम निरहस कर बैठते हैं। कदाचित् उनकी यह इच्छा नहीं रहती कि हँसी में किसी दूसरे को कष्ट पहुँचावें और उसकी शारीरिक हानि कर बैठें; पर उमंग में आकर वे मर्य्यादा उल्लंघन कर बैठते और अपने को सम्हाल नहीं सक्ते हैं। हमें स्मरण है कि एक महाशय अपने साले के कान में एक छोटा खीला डालकर उसे चौंकाना भर चाहते थे; पर उसके चौंकने और इनका हाथ हिल जाने से वह खीला कान में ऐसा लगा कि लोहू की धार बह निकली। एक साले महाशय घोड़े पर कभी नहीं चढ़े थे। बहिन की ससुराल में लोगों ने उन्हें पुचाड़े देकर एक बड़े बदमाश घोड़े पर चढ़ाया और उसे ऐसा भगाया कि वह जानदार जानवर हवा से बातें करने लगा। साले साहिब दस गज़ भी न गये होंगे कि बहुत प्रयत्न करने पर भी अपने को न सम्हाल सके और नागफनी के काँटों पर गिरने से उनके शरीर में दो दो तीन तीन इंच गहरे काँटे चुभ गये। इस हँसी का परिणाम इतना भयंकर हुआ कि साले महाशय कई महीने अपने घावों पर मरहम-पट्टी लगाते पड़े रहे। क्या उन लोगों की यही इच्छा थी कि उसे इतना कष्ट दें? कदापि नहीं; पर हँसी-दिल्लगी की

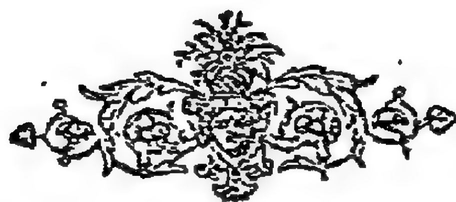
धुन में मनुष्य अपने को नहीं सम्हाल सक्ता जिससे ऐसे ऐसे अनर्थ हो जाते और कभी कभी हँसी हँसी में ऐसी शत्रुता हो जाती है जिससे पीछे बड़े बड़े भयंकर उपद्रव उठते हैं।

कौरव और पाण्डव भ्राता जब निरे बालक थे तो एक ही साथ रहते और खेला करते थे। इन सबमें भीमसेन बड़े बलवान् थे और अपनी सारी शारीरिक शक्ति बेचारे कौरव भ्राताओं को तंग करने में लगाया करते थे जिसमें उन्हें बड़ा आनन्द आता था। अण्डाडावरी खेलने के लिये जब सब बालक वृक्षों की शाखाओं पर चढ़ते थे तो भीम उन पेड़ों को बलपूर्व्वक ऐसा हिलाते थे कि दुर्योधन आदि कौरव बालक पके आमों के समान ज़मीन पर टपकते थे जिससे उनके शरीर पर चोट आ जाती थी। यमुनाजी में स्नान करते समय भीमसेन मगर बनकर पानी में नीचे नीचे जाते और किसी कौरव बालक को खींचकर देर तक दबाये रहते थे और जब उसका दम घुटने लगता तब कहीं छोड़ते थे। यह थी तो निरी दिल्लगी, ख़ास कर भीमसेन सरीखे हृष्टपुष्ट बालक के लिये, पर निर्ब्बल कौरव बालकों को तो इससे बड़ा त्रास होता था। तालाब के मेंडकों को पत्थर मारना चाहे बालकों के लिये खेल हो; पर मेंडकों के लिये तो उससे प्राण जाने का संयोग आजाता है। इस निरी हँसी-दिल्लगी का परिणाम इस देश के लिये कैसा भयंकर हुआ कि सारी क्षत्रिय-जाति महाभारत नामक भीषण युद्ध में कट मरी। कई अक्षौहिणी दलों में से १८ वें दिन केवल थोड़े से वीर बचे, शेष सब मारे गये। छुटपन से ही कौरव लोगों के हृदयों में अपने कुटुम्बी पाण्डवों के प्रति उस वैर-भाव का उदय हुआ जिससे यह द्वेषाग्नि बढ़ते २

दोनों पक्षों को भस्म कर बैठी। छुटपन में तो कौरवों को इस तरह त्रास देकर भीम ने उनके हृदयों में मानों द्वेषरूपी व्रण उत्पन्न कर दिये और बड़े होने पर कई ऐसे कार्य्य किये जो इन घावों पर नमक छिड़कने के बराबर हुए।

पाण्डवों ने अपनी राजधानी में मय नामक दानव से एक अपूर्व विशाल महल बनवाया और उसके उद्घाटन के उत्सव में कौरवों को निमंत्रण देकर बुलाया। पाण्डवों का धर्म्म था कि अपने अतिथि दुर्योधन आदि का स्वागत सत्कार-पूर्वक करते। पर यह न करके उन्होंने उनकी हँसी की और इस तरह पुराने घावों पर मानों नमक छिड़का। पाण्डव-भ्राता कौरवों को महल दिखाने ले चले। एक कोठे में काँच का फ़र्श ऐसा बनाया गया था कि जहाँ पानी भरा था वहाँ सूखी भूमि और जहाँ सूखी भूमि थी वहाँ पानी दीख पड़ता था। यह प्राचीन भारतवर्ष के कला-कौशल का चमत्कार था कि ऊँचे द्वार तो नीचे, और नीचे, ऊँचे दीख पड़ते थे। इस गोरखधन्धे में पड़कर कौरवों की बड़ी दुर्दशा हुई। कहीं तो वे सूखे फ़र्श पर कपड़े उठाकर चलते मानो पानी में प्रवेश करने वाले हों और कहीं धोखा खाकर कपड़े बिना उठाये ही सचमुच पानी में धँस पड़ते जिससे भींग जाते थे। नीचे दरवाज़े को ऊँचा समझ कई बार उनके सिर फूटे जिसपर पाण्डवों ने हँसकर उन्हें और भी रुष्ट किया। इन लोगों को उचित था कि भ्रम के स्थान में पहले ही से उन्हें सचेत कर देते; पर इस शिष्टाचार के बदले उन्होंने उनका उपहास करना उचित समझा। बस, पाण्डवों के, और विशेषकर भीमसेन के, इन्हीं अशिष्ट एवं उद्दत व्यवहारों ने कौरवों को उनका परम शत्रु बना दिया। जो लोग दुर्य्योधन, दुःशासनादि कौरवों के पिछले दुश्चरित्रों

को ही दोष देते और पाण्डवों को नितान्त निरपराध कहते हैं वे सरासर अन्याय करते हैं। द्रौपदी पर भरी सभा में अत्याचार, लाक्षागृह में पाण्डवों को भस्म करने का आयोजन, भीमसेन पर विष-प्रयोगादि कौरवों के बड़े २ अपराध तो सब कोई स्वीकार करेंगे; पर यदि भीमादि पाण्डव पहले ही वैर-विरोध के बीज न बोते और अत्याचार तथा उपहास द्वारा द्वेषाग्नि प्रज्वलित न करते तो आश्चर्य नहीं कि दुर्योधनादि कौरव भी उनके साथ ऐसा शत्रु-भाव न रखते। इसीसे पाठकगण देख सक्ते हैं कि हँसी-दिल्लगी का फल कभी २ कैसा भयंकर होता है। कहते हैं कि "कटु वचन का घाव तलवार के घाव से भी गहरा लगता है" सो सत्य है। कटु वचन से भी हिंसा होती है इसमें सन्देह नहीं।



अपने से श्रेष्ठों के प्रति कर्त्तव्य।

पाठ १.

प्रस्तावना।

श्रीकृष्णजी अर्जुन से कहते हैं:—

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति।
शुभाशुभ-परित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः॥
(गी०, अ० १२, श्लो० १७.)

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्ण-सुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः॥
(गी०, अ० १२, श्लो० १८.)

अर्थात् "जो मनुष्य न तो हर्ष रखता है न द्वेष, जो न तो इच्छा ही रखता है और न शोक ही करता है और जो कर्म्म के भले वा बुरे फल को त्यागकर मेरी भक्ति करता है वह मुझे प्रिय है।"

"जो शत्रु और मित्र के साथ सम भाव रखता तथा मानापमान को समान समझता है, जिसे शीत और उष्ण, सुख और दुःख बराबर हैं और जो सङ्ग-विवर्जित अर्थात् राग-द्वेष से रहित है वह मुझे प्रिय है।" परम भक्त महात्मा ब्रह्मज्ञानियों में ही ये गुण हो सकते हैं, प्राकृत जनों में नहीं।

प्राकृत एवं साधारण मनुष्य का हृदय राग-द्वेष का घर है। दोनों को बिलकुल जीत लेना महात्माओं का काम है, साधारण मनुष्य का नहीं। ऐसी दशा में साधारण मनुष्य को चाहिये कि राग द्वारा द्वेष का दमन करे।

राग अर्थात् प्रेम, मैत्री आदि गुणों के बढ़ाने से द्वेष आपही घट जाता है। निस्वार्थ प्रेम धर्म्म का मूल है। उसकी मात्रा जितनी अधिक होती है उतना ही मनुष्य ईश्वर-भक्त, परोपकारी, राज-भक्त और देश-भक्त हो सकता है। जिसके साथ तुम्हारा स्नेह है उसकी बुराई तुमसे नहीं हो सक्ती, वरन उसकी भलाई के लिये तुम स्वार्थ त्याग करने में सदा तत्पर रहते हो। अपने प्यारे से अपराध हो जाने पर यदि तुम्हें क्रोध आ जाता है तो तुम उसे दबाते हो और थोड़ी ही देर में अपना क्रोध भूलकर उसके साथ पूर्ववत् बर्ताव करने लगते हो। अपने स्नेही के अपराध को क्षमा कर देना स्वाभाविक है। अपने मित्र के लिये मनुष्य कैसी २ कठिनाइयाँ झेलते हैं! कैसे २ कष्ट सहर्ष उठाते हैं! तन, मन और धन तीनों किस तरह न्योछावर कर डालते हैं! असल बात तो यह है कि राग, प्रेम या स्नेह से ही सारे सत्कर्म और द्वेष से इसके विपरीत सारे असत् कर्म्म होते हैं; अतएव जिन कार्य्यों से मनुष्यों के बीच तथा मनुष्यों और इतर प्राणियों के बीच प्रेम वा स्नेह बढ़ता है वे अच्छे और द्वेषयुक्त कार्य्य जिनसे मैत्री, मेल या प्रेम का ह्रास अथवा नाश होता है वे बुरे कहलाते हैं।

हे बालको! तुम निःस्वार्थ प्रेम करना सीखो। माता-पिता, भाई-बन्धु, पुरा-पड़ोसी—इन सबके साथ प्रेम-भाव रक्खो। जब स्कूल में पढ़ने लगो तो अपने गुरु तथा सहपाठियों के साथ प्रेम-पूर्वक व्यवहार करो। यह मानकर कि राजा तथा उसके कर्म्मचारी हमारे जीवन और धन-सम्पत्ति की रक्षा करते हैं पूर्ण राज-भक्त बनो। यह देखकर कि हमारे देश की भलाई में ही हमारी तथा हमारी सन्तान की भलाई है पूर्ण-देश भक्त बनो। और सबसे

बढ़कर तो यह मान कर कि परमेश्वर ने ही हम सबको उत्पन्न किया है और हमारे सुख के लिये यावत् पदार्थ रचे हैं; वह अहर्निश हमारी रक्षा करता और जीते जी तथा मरने पर हमारे सत्कर्मों का न्यायपूर्वक फल देता है ईश्वर-भक्त बनो। स्मरण रक्खो कि ईश्वर-भक्तों को इस लोक और परलोक में बड़ा आनन्द मिलता है। ईश्वर-भक्त होना हमारा परम कर्त्तव्य है; क्योंकि हम उसकी रचना हैं। यदि हम ईश्वर को न मानें, उसके चरणों में भक्ति और प्रेम न रक्खें, तो अवश्य ही कृतघ्न (बेईमान) ठहरेंगे।

माता-पिता, गुरु तथा अपने आत्मीयों वा इष्ट-मित्रों के साथ प्रेम रखने के लिये हम सदा उनके दर्शन-स्पर्शन की इतनी आवश्यकता नहीं देखते। जब हमारे स्नेही कहीं अन्यत्र चले जाते अथवा संसार में नहीं रहते तब भी हम उनसे प्रेम रखते और उनका आदर करते हैं। यद्यपि ईश्वर का दर्शन-स्पर्शन हमें नहीं होता, तथापि वह सदा हमारे समीप रहता है और प्रतिक्षण हमारी रक्षा करता है। हमारा जीव तथा शरीर उसीका दान है। हमपर उसका प्रेम बात २ में प्रगट होता है। मृत माता-पिता तथा आत्मीय जनों का सम्बन्ध तो उनके मरने के बाद टूट जाता है; पर ईश्वर का सम्बन्ध हमारे साथ कभी नहीं टूटता। उसके समान हमारा कोई दूसरा हितचिंतक नहीं है; अतएव उसके साथ प्रेम रखना हमारा सबसे बड़ा कर्त्तव्य है।

पाठ २.

ईश्वर-भक्ति ।

हम ईश्वर के प्रति अपना कर्त्तव्य पालन कैसे कर सकते हैं? प्रत्येक धर्म्म में इसकी विधि बतलाई गई है:—(१) ईश्वर का पूर्ण सत्कार मन, वचन और कर्म्म से (मनसा, वाचा और कर्म्मणा) करना; (२) उसके प्रति अनन्य भक्ति रखना; (३) अपने धर्म्म की विधि के अनुसार उसका पूजन-अर्च्चन करना; और (४) उसके इच्छानुसार ही सारा कार्य्य करना तथा अपनी इच्छा को उसकी इच्छा के विरुद्ध कभी न जाने देना—इन्हीं चार नियमों का पालन करने वाला ईश्वर का सच्चा प्रेमी कहलाता है।

ईसाई धर्म में यह उपदेश है कि ईश्वर का आदर करने वाला उसका नाम व्यर्थ कभी न ले। इसका यह मतलब नहीं है, कि हरि या खुदा के नाम की महिमा जो हिन्दू और मुहम्मदी दोनों धर्म्मों में गाई गई है निस्सार है। बहुतेरे लोग छोटी २ बातों में ईश्वर की क़सम खाया करते हैं। हिन्दू स्त्रियों में "राम दुहाई" और मुसलमानों में "अल्ला क़सम" सदा मुँह पर रहती है। कई लोग तो हँसी-दिल्लगी में भी ईश्वर तथा इष्ट देवताओं का नाम अनादर-पूर्व्वक लेते हैं। ईश्वर-भक्तों को ऐसा न करना चाहिये। जब कभी तुम ईश्वर-विषयक बातचीत करो तो आदर-पूर्व्वक गंभीर होकर बोलो।

हिन्दुओं में जब ईश्वर के अवतारादि का नाम लिया जाता है तो परम आदर-सूचक "श्रीभगवान्" आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता है और क्रिया तथा सर्व्वनाम

बहुवचनान्त होते हैं। हमारे यहाँ यह आदर प्रगट करने की रीति है।

भक्ति और पूजन के सम्बन्ध में हमें इतना कहना है कि इनकी विधि तो प्रत्येक धर्म्म में बतलायी ही गई है, अतएव जिसके वंश की जो परम्परा-गत रीति है उसीके अनुसार उसे अपना धर्म्म-कर्म्म करना उचित है; और इन कार्य्यों में पूर्ण श्रद्धा की आवश्यकता है। श्रद्धा अर्थात् विश्वास न होने पर किसी भी धर्म्मकार्य्य के अनुष्ठान में कोई फल नहीं मिलता। श्रीकृष्णचन्द्रजी गीता में कहते हैं:-

श्लो०—येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयाऽन्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय! यजन्त्यविधिपूर्व्वकम् ॥

(गीता, अध्याय ९, श्लोक २३)

हे कौन्तेय! जो मनुष्य अन्य देवताओं के भक्त होकर श्रद्धा-पूर्व्वक उनका भजन (पूजन) करते हैं वे ऐसा विधि-पूर्व्वक न करने पर भी (हिन्दू-शास्त्रों की विधि के अनुसार कर्म्म न करने पर भी) मेरी ही आराधना करते हैं। हिन्दू संध्या-वन्दन, पूजन-अर्चन, उपवास, जप, तप, आदि शास्त्र-विहित कर्म्म अपने २ मतानुसार करते हैं; मुसल्मान मन्दिर के बदले मसजिद को जाते और त्रिकाल-संध्या के बदले पाँच बार नमाज़ पढ़ते, हरि-नाम के बदले अल्लाह का नाम जपते, उपवास के बदले रोज़ा रखते, देवताओं के स्थान में फरिश्तों को मानते और दान-पुण्य को ख़ैरात कहकर करते हैं। ईसाई मतवाले गिरजाघर जाते, प्रार्थना करते, रोमन-काथलिक सम्प्रदाय के ईसाई लैंट नामक पर्व्व में ४० दिन के उपवास करते और यीशु की माता मरियम तथा कई सन्तों को वैसा ही मानते हैं जैसा हम अपने देवताओं

को मानते हैं। कर्म्मकाण्ड भी सब धर्म्मों में थोड़ा बहुत पाया ही जाता है। बच्चा उत्पन्न होने पर कोई तो जात-कर्म्म करता है, कोई बपतिस्मा दिलाता है, और विवाह सब धर्म्मों के मानने वालों में धार्म्मिक रीति से होता है तथा मरने पर भी स्वधर्म्मानुसार क्रिया-कर्म्म किया ही जाता है। हाँ, अब यूरोप, अमेरिका आदि देशों में कुछ लोग रजिस्टरी कराके पति-पत्नी बन जाते हैं; पर ऐसा वे ही करते हैं जो किसी धर्म्म को नहीं मानते।

मनुष्य को चाहिये कि अपने २ धर्म्मानुसार विहित धर्म्म-कर्म्म करता जावे, और यह न समझे कि बुढ़ापे में करेंगे; क्योंकि बुढ़ापे तक जियेंगे इसका निश्चय ही क्या है?

"अजरामरवत् प्राज्ञो विद्यामर्थञ्च चिन्तयेत्।
गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्म्ममाचरेत्॥"
अर्थात्," अजर अमर की भाँति ह्वै विद्या धनहिं बढ़ाव।
मनहुँ मीच चोटी गही धर्म्म विलम्ब न लाव॥"

कर्त्तव्य-पालन के लिये कोई विशेष समय, अवस्था आदि का विचार न करना चाहिये, वरन इसका स्मरण सदा रखना चाहिये कि:—

काल करन्ते आज कर आज करन्ते अब्ब।
पल में परलै होयगी बहुर करेगो कब्ब॥

पाठ ३.

निष्काम-कर्म्म।

सभी धर्म्मों की यही शिक्षा है कि मनुष्य अपने को ईश्वरेच्छा पर छोड़कर अपने सब कार्य्य धर्म्म-पूर्वक

करता जावे। मुसलमानों के धर्म्म "इस्लाम" का अर्थ भी "ख़ुदा की मर्ज़ी पर अपने को छोड़ देना है।" धार्मिक हिन्दू भी अपने सब कार्य्य "कृष्णहेतु" करते हैं और कहते हैं कि भगवान् जैसे रक्खें वैसे ही रहना प्रत्येक भक्त का कर्त्तव्य है। वास्तव में जिस दशा में हम हैं उसीमें सन्तोष-पूर्व्वक रहना और धर्म्म-पूर्व्वक अपनी उन्नति का प्रयत्न करना ही हमारे लिये श्रेष्ठ है। जो मनुष्य फल के लोभ से नहीं वरन अपना कर्त्तव्य समझकर प्रत्येक कार्य्य करता है वही सच्चा ईश्वर-भक्त एवं धार्म्मिक पुरुष है।

श्रीगीता में कहा है:—

तस्मादसक्तः सततं कार्य्यं कर्म्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन् कर्म्म परमाप्नोति पूरुषः॥
(गी०, अ० ३, श्लो० १९)

अर्थात् "इस कारण तू भी फल की आसक्ति छोड़ कर अपना कर्त्तव्य-कर्म्म सदा किया कर; क्योंकि फल की इच्छा न रखकर (निष्काम) कर्म्म करने वाले मनुष्य को परम गति (मोक्ष) प्राप्त होती है।" अपने से तो अपने कर्त्तव्य-कर्म्मों के अनुष्ठान में पूर्ण उद्योग करते रहना चाहिये; और यह न सोचना चाहिये कि अमुक कर्म्म का फल क्या होगा। इस प्रकार फलाफल का विचार न करके अपने कर्त्तव्य-कर्म्म करना निष्काम (अर्थात् जो किसी कामना से न किया गया हो) कर्म्म कहाता है। इस बात का स्मरण रखना चाहिये कि फल देने वाला वही परमात्मा है।

फिर कहा है:—

मयि सर्व्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥
(गी०, अ० ३, श्लो० ३०)

अर्थात् "हे अर्जुन! अध्यात्म-बुद्धि-पूर्व्वक सब कर्म्मों का संन्यास (अर्पण) कर और फल की आशा छोड़ निश्चिन्त होकर युद्ध कर।" अपने कर्त्तव्य-कर्म्म का अभीष्ट फल चाहे न भी मिले तौभी मनुष्य को कर्त्तव्य-विमुख वा खिन्न-हृदय न होना चाहिये और विश्वास रखना चाहिये कि प्रेम-स्वरूप परमात्मा वही फल देता है जिसके मिलने से हमारी तथा और सबकी भलाई है। कर्त्तव्य-पालन हमारा काम है; उससे विमुख होने में हमारी हानि अवश्य है; फल की आशा न करते हुए अपना कर्त्तव्य करते रहना और कर्त्तव्य-विमुख होने से अपने को बचाना क्या फल नहीं है?

पाठ ४.

प्रार्थना।

श्रद्धा-पूर्व्वक ईश्वर से प्रतिदिन प्रार्थना करते रहने से मनुष्य के आध्यात्मिक बल की वृद्धि होती है; अतएव हम एक ऐसी प्रार्थना या स्तोत्र यहाँ देते हैं जिसे किसी भी धर्म्म का अनुयायी कर सक्ता है।

ईश-स्तोत्र।

नमस्ते सते ते जगत्कारणाय,
नमस्ते चिते सर्व-लोकाश्रयाय।
नमोऽद्वैत-तत्त्वाय मुक्ति-प्रदाय,
नमो ब्रह्मणे व्यापिने शाश्वताय॥ १॥

(१) उस सर्वव्यापी और सदैव रहने वाले ब्रह्म को नमस्कार है जो सत् (सत्य, अथवा तीनों कालों में

रहने वाला) होने से जगत् का कारण है और चित (सजीव) होने से सब लोकों का आश्रय है, जिसमें द्वैत भाव नहीं है (अर्थात् जो एक ही है) और जो मुक्ति का देने वाला है।

त्वमेकं शरण्यं त्वमेकं वरेण्यम्,
त्वमेकं जगत्पालकं स्वप्रकाशम्।
त्वमेकं जगत्कर्तृ-पातृ-प्रहर्तृ,
त्वमेकं परं निश्चलं निर्विकल्पम्॥ २॥

(२) (हे ईश्वर!) तू ही एक ऐसा है जिसकी शरण में हम जा सकें। तू ही एक ऐसा है जिसकी हम चाहना करें। तू ही जगत् का पालने वाला है। तू अपने आप प्रकाशवान् है। तू ही जगत् का कर्त्ता, पालनेहारा और नाश करने वाला है। तू ही सबसे श्रेष्ठ, स्थिर और सन्देहों से रहित है।

भयानां भयं भीषणं भीषणानाम्,
गतिः प्राणिनां पावनं पावनानाम्।
महोच्चैः पदानां नियन्तृ त्वमेकम्,
परेषां परं रक्षणं रक्षणानाम्॥ ३॥

(३) सब प्रकार के भयों में भय तू ही है। सब प्रकार के भयङ्कर पदार्थों में तू ही भयङ्कर है। तू ही प्राणियों का आधार है। तू ही पवित्र करने वाली वस्तुओं में पवित्र करने वाला है। महान् और उच्च पदों का देना तेरे ही हाथ में है। तू ही बड़ों में बड़ा है। तू ही रक्षा करने वालों में रक्षक है।

वयं त्वां स्मरामो वयं त्वां भजामो,
वयं त्वां जगत्साक्षिरूपं नमामः।

सदेकं निधानं निरालम्बमीशम्,
भवाम्भोधि-पोतं शरण्यं व्रजामः ॥ ४ ॥

(४) हम तेरा स्मरण और भजन करते हैं। हे साक्षि-रूप! हम तुझे नमन करते हैं। हे सत्य के निधान और दूसरे की सहायता की आवश्यकता न रखने वाले ईश्वर! संसार-रूपी समुद्र के नौका-रूप! हम तेरी शरण आते हैं।

पाठ ५.

भक्त्यादर्श।

संसार में कई आदर्श-भक्त हुए हैं। ऐसा कोई देश, काल वा जाति नहीं है जिसमें आदर्श-भक्तों का नाम न मिलता हो। प्रत्येक धर्म्म-पुस्तक में सच्चे ईश्वर-भक्तों के आख्यानों वा चरित्रों का उल्लेख पाया जाता है। यहाँ हम ऐसे ही दो-चार भगवद्भक्तों के आख्यान और उनकी उपासना के फल का उल्लेख करते हैं।

परम भक्त ध्रुव।

महाराजा उत्तानपाद एक नामी क्षत्रिय हो गये हैं जिनका आख्यान पुराणों में मिलता है। आपके दो स्त्रियाँ थीं, जिनमें बड़ी का नाम सुनीति और दूसरी का सुरुचि था। इन दोनों के गुण, शील, स्वभावादि इनके नामों के अनुकूल थे। एक से अधिक विवाह करने वालों को जो २ कष्ट उठाने पड़ते, और जैसा कठोर और अन्यायी बनना पड़ता है वैसा ही हाल महाराज उत्तानपाद का भी था

जिस प्रकार कैकेयी के प्रेम-पाश में बद्ध होकर महाराज दशरथ को घोर आपत्ति में पड़ना और जीवन से हाथ धोना पड़ा था वैसे ही उत्तानपाद को भी सुरुचि के वश होने से महारानी सुनीति का ही नहीं, वरन् अपने औरस सुपुत्र ध्रुव का भी तिरस्कार करना पड़ा था। सपत्नियों के बीच प्रेम, स्नेहादि होना अस्वाभाविक है।

एक दिन महाराज उत्तानपाद अपने विशाल राज-भवन के एक कोठे में बैठ अपनी परम प्रिया रानी सुरुचि से प्रेमालाप कर रहे थे और सुरुचि का पुत्र उत्तम महाराज की गोद में बैठा माता-पिता की बातचीत सुन रहा था। अहो धन्य है ऐसा गृहस्थी-सुख जिसका अनुभव करनेवाला स्वर्ग के सुख को भी तुच्छातितुच्छ समझता है; पर जहाँ पुरुष एक से अधिक विवाह करता है वहाँ यह परम वाञ्छनीय वस्तु कदापि नहीं रह सक्ती। दम्पती-प्रेम एक ऐसी विचित्र वस्तु है कि दो ही के बीच में रह सक्ती है; तीन वा तीन से अधिक में उसे बाँटना असम्भव है। इसी समय महाराज का दूसरा पुत्र ध्रुव जो बड़ी रानी सुनीति की कोख से जन्मा था घूमता २ उसी कोठे में आ पहुँचा और अपने सौतेले भाई उत्तम को इस प्रकार सुख से पिता की गोद में बैठा देख, बाल-स्वभाव-वश उसकी इच्छा भी उसी प्रकार पिता की गोद में बैठने की हुई। ध्रुव की यह चेष्टा देख रानी सुरुचि को ईर्ष्या ने सताया और उसकी क्रोधाग्नि भड़क उठी। मेरे ही साम्हने मेरी सौत का पुत्र मेरे प्रिय पुत्र की बराबरी करे इस दुर्भावना ने सुरुचि को विवश कर डाला। किसी सपत्नी के लिये इससे बढ़कर असह्य बात और क्या हो सक्ती है? उस मूर्खा ने यह न सोचा कि मेरे स्वामी को दोनों पुत्र बराबर दिखते होंगे और दोनों के साथ

उनका एकसा स्नेह होगा; अतएव मेरे आक्षेप करने से उनको बड़ा दुःख होगा, और तेवरी बदलकर बोली—

रानी सुरुचि—रे ध्रुव, यह क्या करता है? तू तिरस्कृत सुनीति का बेटा होकर मेरे भाग्यशाली पुत्र की समता करना चाहता है? उठ वहाँ से, देखता नहीं कि मेरा पुत्र दबा जाता है? यदि बाप की गोद में बैठने की इतनी हुलास है तो उस अभागिनी माता का पुत्र क्यों हुआ? जा, पहले कठिन तपस्या करके परमात्मा को प्रसन्न कर और यह वर माँग कि मैं भाग्यशाली उत्तम की भाग्यशालिनी माता सुरुचि की कोख में उत्पन्न होऊँ, फिर ऐसा दुस्साहस करना।

इन मर्म्मभेदी वचनों को सुनकर उस बेचारे बालक को बहुत कष्ट हुआ। इस आशा से कि पिता मुझे अपनी गोद से अलग न करेंगे वह अश्रु-पूर्ण सकरुण दृष्टि से महाराज के मुँह की ओर ताकने लगा। हाय! पिता ने भी सुरुचि के मोह-मन्त्र से विमुग्ध होने के कारण उसे अपनी गोद से हटाना चाहा। तब तो पद-दलित सर्प के समान इस असह्य अपमान से तलमलाता, मन ही मन अत्यन्त दुःखित होता हुआ और टप २ आँसू गिराता हुआ वह अपनी माता सुनीति के पास चला गया और उसके गले से लगकर सिसक २ कर रोने लगा। उसकी हिचकी नहीं समाती थी; अतएव वह कुछ कह भी नहीं सकता था। यह दशा देख रानी सुनीति बहुत घबड़ा गई और लोगों से पूछने पर उन्हें सारा वृत्त विदित हुआ। सुनते ही उनका धीरज छूट गया। अपना अपमान सहने की शक्ति तो उनमें थी; पर अपने अबोध पुत्र का तिरस्कार उनके लिये

असह्य हो गया और मर्म्मान्तक कष्ट से व्याकुल हो वे फूट २ कर विलाप करने और अपने भाग्य को धिक्कारने लगीं। थोड़ी देर के बाद जब उनके शोक का आवेग स्वभावतः मन्द पड़ा तो बहुत सोच-विचार करने के उपरान्त उन्होंने अपने पुत्र ध्रुव से समझाकर कहाः—

सुनीति—बेटा! दूसरा अपने को इसलिये कटु वचन कहता है कि जिसमें हमें दुःख हो, जिससे उसका ईर्ष्या-सन्तप्त हृदय शीतल हो। ऐसी दशा में दुःखित होना मानो अपने शत्रु के मन की बात करना है। यदि शत्रु के कटु वचनों की परवाह न की जाय तो वह आप ही लज्जित तथा दुखी होता है। अन्त में निरपराधों को व्यर्थ दुखाने वाला दुःख भोगता है। बेटा! उत्तम की मा का कहना ठीक है। तुमने सचमुच एक अभागिनी की कोख में जन्म लिया है, जिससे मेरे अनादर के साथ २ तुम्हारा भी अनादर होता है। मेरी भाग्य-हीनता के कारण ही तुम ज्येष्ठ पुत्र होने पर भी अपने स्वत्व नहीं पाते। यदि मुझ मन्दभागिनी में वे सब गुण होते, जो तुम्हारी उप-माता में हैं तो महाराज मेरा तिरस्कार ही क्यों करते? अब एक ही उपाय दीख पड़ता है। तुम्हारी छोटी मा ने चाहे ये वचन हम दोनों का हृदय दुखाने के लिये ही कहे हों; पर हैं वे उपदेश-पूर्ण और इस दुःख से त्राण पाने के एकमात्र साधन। बस, जब तुम्हारे संसारी-पिता ने तुम्हें इस तरह त्यागा है तो अब वे ही अशरण-शरण भगवान् तुम्हारे शरण हैं। उन्हीं जगदीश्वर के चरण-कमलों

का ध्यान धरो; उन्हींकी कृपा से तुम्हारा और मेरा कल्याण होगा।

पाठ ६.

ध्रुव की अखंड तपस्या ।

बालक ध्रुव के चित्त पर माता के वचनों का प्रभाव पूर्ण रीति से पड़ा जिससे उसने शारीरिक सुख को तिलाञ्जलि दे कहीं एकान्त निर्जन स्थान में जाकर ईश्वराराधन की दृढ़ प्रतिज्ञा कर ली। उस विचित्र बालक ने घर-द्वार छोड़ वन का रास्ता लिया। मार्ग में श्रीनारद मुनि से उसकी भेंट हो गई। उन्होंने इसके मन का सारा हाल जान लिया और वे मन में विचारने लगे "अहो, क्षत्रियों का कैसा तेज है कि अपमान का प्रतिशोध करने को वे अपना सर्वस्व त्यागने के लिये कटि-बद्ध हो जाते हैं। अपनी मान-रक्षा के लिये ये प्राण-त्याग तक से मुँह नहीं मोड़ते! कहाँ यह ५ वर्ष का क्षत्रिय-कुमार और कहाँ इसका यह दृढ़ संकल्प!" इस प्रकार मन ही मन ध्रुव की प्रशंसा करते हुए नारदजी इस वीर बालक से परम सन्तुष्ट हुए और कहने लगे:—

नारद—बेटा ध्रुव! तुम निरे बच्चे हो; अतएव अपने संकल्प की भीषणता का अनुभव नहीं कर सक्ते। तप करना हँसी-खेल नहीं है। चलो, अभी घर लौट चलो और अपनी माता के पास खेलो, अभी तुम्हें मानापमान का ज्ञान ही कहाँ है?

ध्रुव—महाराज! क्षमा कीजिये, छोटा हूँ तो क्या, क्षत्रिय-स्वभाव तो मुझमें है। सुरुचि रानी के वाग्बाणों

से मेरा हृदय चलनी बन गया है, इसीसे आपका अमृतमय उपदेश उसमें नहीं ठहर सक्ता। आप मुझे हतोत्साह न कीजिये, वरन अपना दास समझ ऐसा उपाय बतलाइये कि मैं अपने भाई से बढ़ जाऊँ और सबसे बड़े पद पर पहुँच सकूँ। आपके आशीर्वाद से सब संभव है।

महर्षि नारद इस क्षत्रिय-कुमार की ऐसी अलौकिक दृढ़ता देख बड़े प्रसन्न हुए और कहने लगेः—

नारद—अच्छा बेटा, आशीर्वाद लो, तुम्हारी मनोकामना फलवती होगी। तुम अपनी माता के कथनानुकूल श्रीभगवान् वासुदेव का भजन करो, वे ही तुम्हें उच्चातिउच्च पद देने में समर्थ हैं।

यह कहकर महर्षि नारद ने ध्रुव को मन्त्रोपदेश किया और ध्रुव उन्हें दण्डवत प्रणाम कर अपने अभीष्ट स्थान को एक भयङ्कर निर्जन वन में चल दिया। अति भयङ्कर वन्य पशुओं के बीच रहकर यह ५ वर्ष का क्षत्रिय-कुमार घोर तप करने लगा जिसे देख चराचर, देव-दानव, नर-पश्वादि सभी जीव काँप उठे। भक्तवत्सल भगवान् भी इस अलौकिक दृढ़ता को देख परम प्रसन्न हुए और इस सच्ची अनन्य-भक्ति से आकृष्ट होकर ध्रुव के सन्मुख आकर खड़े हो गये। ध्रुव का ध्यान आपके चरण-कमलों में ऐसा लगा था कि कौन आया, कौन गया उन्हें इसकी खबर न थी। श्रीभगवान् ने जब उनका गात्र-स्पर्श किया तो उनके शरीर में बिजली का संचार हो गया और दैवी वाक्-शक्ति पाकर वे गद्गद् कण्ठ से उनकी स्तुति करने लगे। इस स्तुति से और भी प्रसन्न हो श्रीभगवान् ने कहाः—

श्रीभगवान्—हे क्षत्रिय-कुमार! तेरा कल्याण हो। तू इस मर्त्यलोक में कुछ दिन राज करके सर्व्वोच्च स्थान प्राप्त कर।

यह वर दे श्रीभगवान् तो अन्तर्धान हो गये और ध्रुव उनके दर्शन पा और जिस वर के लिये उन्होंने घोर तप ठाना था उसे प्राप्त कर सुख से घर की ओर चले।

वहाँ ध्रुव के गृह-त्याग करते ही महाराज उत्तान-पाद की भी आँखें खुलीं। सुरुचि का प्रेम जो उत्तान-पाद को मोह में फँसाये था एकदम नष्ट हो गया। अब वे अपने अस्वाभाविक कर्म्म पर बार बार पछताने लगे। बहुत अन्वेषण करने पर जब उनके प्रिय पुत्र का कुछ भी पता न लगा तो हाय २ कर हाथ मींजते और अपनी मूर्खता को धिक्कारते हुए वे अपना दुःखमय समय काटने लगे। राज-भवन का सारा सुख एकदम ही विलीन हो गया। बहु विवाह के दुष्परिणाम भोगते हुए वे इसके भयङ्कर दोषों का अनुभव करने लगे; पर

"का वर्षा जब कृषी सुखाने। समय चूकि पुनि का पछताने॥"

धीरे २ महाराज को निश्चय हो गया कि मेरा पुत्र ध्रुव इस संसार में नहीं है। आप विचारने लगे कि "भला इस छोटी अवस्था में वह अपनी रक्षा कैसे कर सका होगा? वन की ओर जाते देखा गया था, सो कदाचित् पहिली ही रात्रि को किसी वन्य पशु का शिकार बन बैठा होगा। उन्हें यह विश्वास न था कि जिसके हृदय में भगवान् के चरण-कमलों की अनन्य भक्ति विद्यमान है उसकी रक्षा की चिन्ता ही व्यर्थ है। कहावत है—मारने वाले से बचाने वाला बड़ा होता है।

इस तरह पुत्र के लिये कुढ़ते २ महाराज शरीर से क्षीण हो गये। उनका सब सुख-भोग स्वप्न-सुख की नाईं विलीन हो गया। एक दिन जब आप राज-सभा में बहुत ही उदास बैठे थे तो आपने एक अनोखी बात सुनी जिससे आप और भी व्यग्र हुए और सोचने लगे कि यह निरा भ्रम है, भला मेरे भाग्य ऐसे कहाँ हैं कि इतने वर्षों बाद मेरा ध्रुव मुझे मिले। "महाराज! कुमार ध्रुव आ रहे हैं-" ये वचन मेरे कानों ने नहीं सुने, यह केवल मेरे क्षुब्ध हृदय की गढ़न्त है। भला मरकर भी कोई लौटता है? कुछ ही क्षण बाद उन्हें स्मरण हुआ कि देवर्षि नारद भी तो उस दिन कह गये थे कि "तुम्हारा पुत्र शीघ्र ही लौट आवेगा।" बस, ऐसा कौन अविश्वासी है जो नारदजी के वचनों में भी विश्वास न करे? नारदजी के वचनों का स्मरण आते ही उन्होंने ऐसा सुखमय समाचार लाने वाले के गले में अपने गले से उतार एक बहुमूल्य हार पहिना दिया और अपना रथ तय्यार करा के पुत्र को गले से लगाने के लिये अपने राज-प्रासाद से निकल पड़े। पिता-पुत्र की इस भेंट का वर्णन करना मनुष्य की शक्ति से बाहर है।

कुमार ध्रुव ने आकर अपनी माताओं के चरणों पर सिर रख दिया और बड़े प्रेम से अपने छोटे भाई उत्तम को गले से लगाया। यह महानुभाव उनके सब दोष भूल गया। धन्य है ऐसी क्षमा-शीलता! महापुरुषों का तो वह स्वाभाविक भूषण है। श्रीराम ने भी तो विमाता के साथ ऐसा ही व्यवहार किया था।

कुछ समय बाद वृद्ध महाराज उत्तानपाद प्राचीन प्रथानुसार वनवासी हुए। सर्वसम्मति से ध्रुव को गद्दी मिली। उनका छोटा भाई उत्तम एक दिन आखेट करते २

यक्षों के हाथ से मारा गया जिस दुःख से उसकी माता सुरुचि का भी परलोक-वास हो गया। ध्रुव ने यक्षों को दंड दे उनके राजा कुबेर से वर प्राप्त किया और बहुत काल तक न्याय-पूर्व्वक राज्य करके आप वाणप्रस्थ हो गये। अन्त में विष्णु भगवान् के प्रतिज्ञानुसार उन्हें विष्णु-पद सदृश सर्व्वोपरि पद प्राप्त हुआ।

पाठ ७.

प्रह्लाद (१)

भक्तों को भी संसार में बड़ी २ आपत्तियों में पड़ना पड़ता है; पर वे उन्हें अपनी परीक्षा-मात्र मानते और कभी न्याय-पथ वा भक्ति से विमुख नहीं होते। दैत्य-कुल में जन्म लेने वाले प्रह्लाद भी एक अद्वितीय भक्त हो गये हैं।

हिरण्यकशिपु एक बड़ा पराक्रमी दैत्य था। इसके सारे आचरण अपने सजातियों के से ही थे। वह शिव को अपना इष्ट देव और विष्णु तथा उनके भक्त वैष्णवों को अपना परम शत्रु समझता था।

दैत्य-नाथ हिरण्यकशिपु एक दिन एक बड़ी दालान में अपनी रत्न-जटित स्वर्णमयी सिंहासन पर बैठा २ साम्हने के उपवन की शोभा देख रहा था। इतने में उसका परम प्रिय पुत्र प्रह्लाद खेलते २ वहीं आ पहुँचा। उसे पास बुलाकर पिता ने बड़े स्नेह से,उसे अपनी गोद में बिठा लिया और पूछाः—

हिरण्यकशिपु—बेटा ! तुम इस संसार में किस वस्तु को सब से अधिक श्रेष्ठ मानते हो?

प्रह्लाद—पिताजी, मेरी बाल-बुद्धि में तो श्रीनारायण के चरण-कमलों में अनन्य भक्ति से बढ़कर और कोई वस्तु नहीं दीखती।

अपने पुत्र के मुख से अपने शत्रु की इतनी प्रशंसा सुनकर पिता ने समझा कि "किसी वैष्णव ने इस बालक को ऐसा निंद्य उपदेश देकर अपने मत में लाने का उद्योग किया है और बाप-बेटा के बीच में विरोध उत्पन्न करने के विचार से बालक के हृदय को कलुषित किया है। यह बेचारा नहीं जानता कि यदि किसी दूसरे ने मेरे सन्मुख ऐसा कहा होता तो मैं उसे तुरन्त ही मार डालता। अब तो यही उत्तम होगा कि यह किसी विद्वान् गुरु के घर विद्योपार्जन के लिये भेज दिया जाय। मैं गुरु को बहुत सावधानी से काम करने को कह दूँगा और भली भाँति ताकीद कर दूँगा कि कोई कपट-वेश-धारी वैष्णव प्रह्लाद को ऐसा बुरा उपदेश देकर उसकी मति भ्रष्ट न करने पावे।" इस विचार के मन में आते ही कुमार प्रह्लाद गुरु-गृह भेज दिये गये और वहाँ अन्य बालकों के साथ रहने और शिक्षा पाने लगे। एक दिन जब वे पट्टी लेकर गुरुजी के सन्मुख पहुँचे तो उन्होंने कहा:—

गुरु—वत्स प्रह्लाद! देखो, तुम्हारे साथ जो इतने बालक पढ़ते हैं वे तो कभी अनर्गल वचन नहीं कहते; पर न जाने तुम कहाँ से नई २ बातें सीख आते और अपने सहपाठियों को सिखाते हो। सच कहना, तुम्हारी बुद्धि किसने बिगाड़ दी है, वह अपने आप तो बिगड़ी ही न होगी?

प्रह्लाद—(निडर होकर) गुरुजी! मुझे सिखानेवाला और कोई नहीं, वे ही दयामय नारायण हैं। उनकी

मुझपर असीम कृपा है। जिस तरह चुम्बक लोहे को खींचता है उसी तरह नारायण मेरी बुद्धि को अपनी ओर आकृष्ट कर रहे हैं जिससे मेरे भाव इस तरह नवीन होते जाते हैं।

ये वचन सुनते ही गुरुजी मारे क्रोध के आगबबूला हो गये और उन्होंने समझा कि बिना ताड़ना दिये यह दुष्ट नहीं मानने का। दानव-रूपी चन्दन-वन में यह अधम एक कण्टक-वृक्ष उत्पन्न हुआ है। इस वन को नष्ट करने के लिये नारायण मानो कुठार हैं और यह कपूत उस कुठार का बेंट है। यदि इसे दानव-वंश के परम शत्रु नारायण के पक्ष में जाने देता हूँ तो अवश्य ही मेरा अपमान होगा और आश्चर्य नहीं कि महाराज क्रोध में आकर मुझे प्राण-दण्ड दे दें। इस बात का स्मरण होते ही गुरुजी काँप उठे और राज-द्रोही तथा पितृ-द्रोही प्रह्लाद को जैसे बने वैसे शत्रु-पक्ष से फिर पितृ-पक्ष में लाना वे अपना कर्त्तव्य और अपनी रक्षा का एकमात्र साधन समझे।

इस अभिप्राय से प्रह्लाद के गुरु उन्हें काव्य, व्याकरण, शास्त्रादि विषयों की शिक्षा देने और भगवान् शिव की श्रेष्ठता का उपदेश करने लगे। थोड़े ही समय में राज-कुमार ने ये सब विषय सीख लिये और गुरुजी उन्हें महा-राज हिरण्यकशिपु के पास परीक्षार्थ ले गये। पिता के समीप पहुँच पितृ-भक्त प्रह्लाद ने बड़े विनीत भाव से उन्हें प्रणाम किया और उनकी चरण-रज अपने मस्तक पर रक्खी। पिता ने बड़े प्रेम से पुत्र को अपनी छाती से लगा लिया और अनेक बार आशीर्वाद देकर स्नेह-पूर्ण शब्दों में कहा:—

'हिरण्यकशिपु—बेटा! तुम्हारे गुरुजी कहते हैं कि तुमने

इतने थोड़े समय में बहुत कुछ पढ़ लिया है। बताओ, तो जो कुछ पढ़ा है उसमें कौनसी बात सर्व्व-श्रेष्ठ समझते हो?

प्रह्लाद—पिताजी! मैं आपसे कपट नहीं कर सक्ता। नारायण की कथा सुनना, मन में सदा उन्हींके कमल-स्वरूपी चरणों का ध्यान लगाये रहना, उनके गुण गाना, उनकी सेवा, अर्च्चन और वन्दना करना, अपने को उनका दास समझना, और उन्हींके स्मरण में सदा मग्न रहना—यह ९ लक्षण-युक्त भक्ति ही सर्व्व-श्रेष्ठ है। मैंने इतने दिनों में जो सीखा है उसमें यही भगवद्भक्ति सर्व्व-श्रेष्ठ है।

प्रह्लाद के ये वचन सुन हिरण्यकशिपु मारे क्रोध के दाँत पीसने लगा और काँपते हुए होठों से गुरु से बोलाः—

हिरण्यकशिपु—रे नीच! इसीलिये मैंने तेरा इतना भरोसा किया! तूने भी शत्रु का पक्ष गृहण कर मेरे अबोध बालक को ऐसी दुर्नीति की शिक्षा दी। तू बड़ा दुष्ट है। तेरे समान विश्वासघाती को कौन-सा दण्ड देना चाहिये सो मुझे नहीं सूझता। बतला, तूने अपने प्राणों का मोह छोड़ इस अबोध शिशु को ऐसी शिक्षा क्यों दी है?

गुरु—स्वामिन्! कहाँ मैं एक दरिद्र ब्राह्मण और कहाँ आप दैत्यपति! ऐसा क्रोध मुझपर न कीजिये। मैं तो एक दीन शिक्षक हूँ तथा पूर्ण राज-भक्त हूँ। निर्दोष पर निष्कारण क्रोध करना अन्याय है और आपको शोभा नहीं देता। प्रह्लाद का कथन किसीके उपदेश का फल नहीं है, वह स्वभाव से ही यह सीख बैठा है।

हि० क०—(पुत्र से) मूर्ख ! यह तेरा गुरु क्या कहता है ? क्या इसका कथन सत्य है ?

प्रह्लाद—पिताजी ! जो संसारी हैं, इन्द्रिय-सुख जिनके लिये जन्म-धारण करने का एकमात्र उद्देश्य है, वे इस रहस्य को समझ ही नहीं सके; उनके अन्धकार। मय हृदय में भगवद्भक्ति का प्रकाश पड़ता ही नहीं। वे साधु महात्माओं का उपदेश पाये बिना भगवान् के कमल-स्वरूपी चरणों की सेवा करने में असमर्थ हैं।

पाठ ८.

प्रह्लाद (२)

जिस प्रकार जलती हुई आग में घी, राल आदि पदार्थों की आहुति पड़ने पर वह और भी धधक उठती है उसी प्रकार हिरण्यकशिपु की क्रोधाग्नि भी पुत्र के इन वचनों से और भी धधक उठी। उसने प्रह्लाद को अपनी गोद से उतार दिया और अपने समीप खड़े हुए दासों से सरोष कहा:—

हि० क०—तुम लोग क्या देख रहे हो ? अपने पितृव्य के घातक विष्णु का दास बनकर यह पापी कुलाङ्गार बना है। यह दुष्ट शत्रु-पक्ष-रत है। यह शरीर में उत्पन्न हुए दुःखदायी व्रण (फोड़े) के समान है। इसके जीवित रहते यह दानव-वंश या तो समूल नष्ट हो जायगा या शत्रु का दास बन जायगा। इसके वध में ही कल्याण है, इसे जीता छोड़ने से बड़ा अनर्थ होगा। इसे अभी मार डालो।

आज्ञा पाते ही दुष्टों ने इस ५ व के बालक पर शस्त्राघात करना आरम्भ किया। शूलों से मर्म्म-स्थानों को छेदकर उनके प्राण लेने चाहे; पर वह गम्भीर मूर्ति धारण किये मन ही मन भगवान् का नाम लेने लगा और अपने प्रभु को क्षण भर भी नहीं भूला। मारने वाले से बचाने वाला जब समर्थ है तो उसके भक्त का बाल बाँका नहीं हो सका। दानवों के सारे प्रहार वैसे ही व्यर्थ गये जैसे; वज्र पर गिरे तृणों की चोट। यह चमत्कार देख दुष्ट पिता बड़ा भयभीत हुआ; पर इतने पर भी उसे सुबुद्धि न आई, वह भगवान् की महिमा को न समझ सका और उसका वैर-भाव और भी अधिक प्रबल हुआ।

वाह री मूर्खता ! तेरा वशवर्ती हो मनुष्य नितान्त विवेक-शून्य हो जाता और अपना ही अनिष्ट कर बैठता है। अब तो इस दुष्ट हिरण्यकशिपु ने स्वाभाविक सन्तति-प्रेम को एक बार ही तिलाञ्जलि दे दी। वह अपने कलेजे के टुकड़े प्रह्लाद को मार डालने के लिये तरह २ के उपाय करने लगा; कभी हाथियों के पैरों तले कुचलवाता कभी कुएं में ढकेलवाता; कभी विष खिलवाता; कभी अग्नि में भस्म कराने का उद्योग करता; और कभी पर्व्वत के शिखर से नीचे पटकवाता; पर जिसपर भगवान् की कृपा है उसे मारने की शक्ति किसीमें नहीं होती। इस प्रकार सब यत्नों में विफल हो हिरण्यकशिपु के भय का ठिकाना न रहा। इस पर गुरु-पुत्र षण्ड और अमर्क ने उसे इस तरह समझाया—

गुरु-पुत्र—हे दैत्य-कुल-शिरोमणे ! आपको ऐसी व्यर्थ चिन्ता करना शोभा नहीं देता। जिसकी भ्रकुटी की ओर देवतागण भय भीत हो देखते रहते हैं और इसी प्रयत्न में रहते हैं कि नेक भी अप्रसन्न न होने पावें

ऐसा अतुल पराक्रमी पुरुष एक निरे बालक के विषय में चिन्तित हो-यह कैसे आश्चर्य्य की बात है। यदि आप बहुत ही डरते हैं तो उसे वरुण-पाश से बाँध कर डाल दीजिये और अपने गुरुजी को शीघ्र बुलवा भेजिये। वे आते ही कुछ ऐसा उपाय करेंगे कि आप का सारा भय दूर हो जायगा और आपके शत्रुओं का नाश भी क्षण भर में हो सकेगा।

हिरण्यकशिपु के चित्त में यह सम्मति जम गई। उसने प्रह्लाद को बँधवाकर डाल दिया और अपने गुरु-पुत्रों को उसे गृहस्थ-धर्म्म की शिक्षा देने के लिये नियुक्त किया। पर, ऐसे विषयानुरक्त, चरित्र-भ्रष्ट उपदेशकों का उपदेश भी कभी सफल हुआ है? अंगरेज़ी की कहावत Example is better than precept अर्थात् "निरे मौखिक उपदेश से दृष्टान्त अधिक प्रभावोत्पादक होता है" बहुत ठीक है।

एक दिन गुरुजी को कार्य्य-वश कहीं बाहर जाना पड़ा। प्रह्लाद को अच्छी सन्धि मिल गई। वह गुरुजी का कार्य्य करने बैठा और सहपाठियों को उपदेश देने लगाः—

प्रह्लाद—मित्रो! मनुष्य की आयुष्य बहुत थोड़ी है; तिसपर भी निश्चय नहीं कि कौन कितने दिवस जीवित रहता है। जब से बुद्धि आवे तभी से भगवद्भक्ति का अनुष्ठान करना उचित है। यह कदापि न समझना चाहिये कि अभी तो बच्चे हैं; खेलने-कूदने, खाने-पीने का यह समय है; अभी भक्ति के झंझट में क्यों फँसे; इसके लिये तो सारा जन्म पड़ा है। नहीं, अभी से करुणामय नारायण के चरणों में स्नेह लगाओ और अपने कर्त्तव्य-पालन में किसीसे मत डरो। मोक्ष

ही इस नर-जीवन का परम पुरुषार्थ है और वह इन्द्रिय-सुख में लिप्त रहने वाले को कदापि नहीं मिल सकता। यह सुख तो पशु भी भोगा करते हैं, फिर मनुष्य भी यदि इसीमें जन्म भर पड़ा रहे तो उसमें और पशुओं में भेद ही क्या रहा? फिर भक्ति में जो अलौकिक सुख प्राप्त होता है उसकी तुलना में विषय-सुख पासंग भी नहीं है। जिन लोगों ने इस अनुपम सुख का अनुभव किया है वे ही उसके मर्म्म को समझते हैं। जब तक यह शरीर बना है तब तक इस सर्व्व-श्रेष्ठ और परम हितकारी सुख की प्राप्ति के लिये हमें सयत्न रहना उचित है।

पाठ ९.

प्रह्लाद (३)

इस अपूर्व्व सुधालय उपदेश का प्रभाव दैत्य-बालकों पर विलक्षण पड़ा और वे सबके सब अपना पढ़ना-लिखना त्याग और हरि-भजन की महिमा समझ उसीमें संलग्न हो गये। गुरुजी जब अपना कार्य्य करके लौटे तो उन्होंने देखा कि यह हरि-भजन-रूपी सांक्रामक रोग जिससे पहले राज-कुमार-मात्र आक्रान्त था अब सारी पाठशाला में भीषण रूप धारण कर चुका है। अब तो गुरु-जी सूख गये और दैत्य-नाथ हिरण्यकशिपु के पास दौड़े। उनके मुख से इस भयंकर दावानल के बढ़ने और दैत्य-बालक-रूपी वृक्षों को दग्ध करने का समाचार सुनते ही हिरण्यकशिपु के क्रोध का पारा उच्चतम कोटि को पहुँच गया और उसने अपने ही हाथों से प्रह्लाद-वध का दृढ़

संकल्प कर लिया। कुमार प्रह्लाद चुपचाप सब सुनते रहे।

हिरण्यकशिपु—रे अधम! जिसकी धीमी गर्जना से तीन लोक और १४ भुवन काँप उठते, जिसके तपोबल से भयभीत होकर इन्द्रादि देवगण सदा हाथ बाँधे खड़े रहते और आज्ञा मुँह से निकलते ही उसके पालन में विलम्ब नहीं करते, जिसके नाम से तेरा विष्णु भी थरथर काँपने लगता है उस पिता की आज्ञा का उल्लंघन करने से तू कैसे बच सक्ता है? रे वंश-कुठार! कुलाङ्गार! हे दैत्य-कुल-लाञ्छन! अधम! पामर! देख, मैं तेरी क्या गति करता हूँ। अभी तक मुझे आशा थी कि सदुपदेश पाकर तू चेत जायगा; पर तेरे सिर पर तो मौत नाच रही है। सत्य है "विनाश-काले विपरीत-बुद्धिः" अथवा "जाको विधि दारुण दुख देहीं, ताकी बुधि पहिले हर लेहीं।" कह, अब भी मेरी आज्ञा का अनादर करेगा? तू किसके बल पर इतनी धृष्टता करने लगा है?

प्रह्लाद—हे तात! वे ही सर्व्वशक्तिमान् मेरे, आपके, सारे सचराचर जगत् के बल हैं। अब आप भगवान् से शत्रु-भाव छोड़कर उनकी शरण लीजिये। जब तक आप अपने मन को न जीत लेंगे तब तक इसी प्रकार की भ्रांति में पड़े रहेंगे। आपने दशों दिशाओं को क्यों न जीत लिया हो, बड़े बड़े राजा-महाराजाओं, दैत्य-देवताओं को क्यों न वश में कर लिया हो; पर जब तक मन को नहीं जीता, भगवान् के चरणों में चित्त नहीं लगाया तब तक संसार में मानों कुछ नहीं किया। जिसने अपने को जीता है, जो सर्व्व प्राणियों

जो समान देखता है वही सच्चा विजेता है, कोई उसका शत्रु नहीं बन सकता, कोई उसका बाल बाँका नहीं कर सकता। वही परम बली है। पर उसे अपने बल का अभिमान नहीं रहता। वह उसे निर्बल बालकों तथा स्त्रियों पर अत्याचार करने में नहीं लगाता। उन्हीं परम तेजस्वी भगवान् की भक्ति का बल मुझमें है। वह कैसा बल है सो आप भली भाँति देख चुके हैं।

हि० क०—(दाँत पीसकर) रे मूढ़ ! नराधम ! पितृघाती ! तू अपने हाथ मौत बुला रहा है। तेरा अन्तकाल समीप होने से ही तेरी मति ऐसी भ्रष्ट हो रही है। रे पामर ! मेरे सिवा तेरा दूसरा ईश्वर कहाँ है ?

प्रह्लाद—पिताजी ! आपने यह क्यों न पूछा कि कौन सा ऐसा स्थान है जहाँ वह सर्व्व-व्यापक परमात्मा नहीं है ? पिताजी ! हमारे नारायण घट-घट-व्यापी हैं और आपकी दृष्टि भी यदि भक्ति द्वारा पवित्र हो जाय तो आप भी उन्हें सर्व्वत्र देखने लगें।

जले विष्णुस्स्थले विष्णुर्विष्णुः पर्वतमस्तके।
ज्वालामालाकुले विष्णुः सर्वं विष्णुमयं जगत् ॥

हि० क०—क्या वह इस खम्भे में भी बैठा है ?

प्रह्लाद—(खम्भे की ओर दृष्टि करके स्तुति करता हुआ) जी हाँ, इस खम्भे में भी वे विराजमान हैं और मुझे दीखते भी हैं।

हि० क०—(कुछ न देखकर) रे पाखण्डी ! तू मुझसे छल करता ही जाता है ? मुँह लगा ही जाता है ? (तलवार निकालकर) ले, मैं तेरा सिर काटता हूँ,

देखूँ तेरा खम्भे का नारायण बाहर निकलकर तेरी रक्षा कैसे करता है ?

इतना कह उस परम प्रतापी, महाबली दैत्य ने पूर्ण बलपूर्वक उस खम्भे में तानकर घूँसा मारा। प्रहार होते ही गगन-भेदी गर्जना हुई। हिरण्यकशिपु सारा क्रोध भूलकर मूर्ति के समान निस्तब्ध रह गया। क्षण ही भर में एक बड़ा चमत्कार हो गया। उसी खम्भे में से एक विचित्र तथा महा भयङ्कर मूर्ति प्रगट हुई जो न तो सिंह ही थी, न मनुष्य, वरन उसका कुछ भाग तो सिंह का सा था और कुछ मनुष्य का सा। उस महा अद्भुत नृसिंह मूर्ति को देख हिरण्यकशिपु बहुत विस्मित तो हुआ; पर शीघ्र ही सम्हलकर बोलाः—

हि० क०—वाह रे विचित्र प्राणी! कौतुकालय में पालने योग्य है। (प्रह्लाद की ओर मुड़कर) रे मूर्ख! तू मुझे इसी विचित्र पशु की धमकी देता था? इसे क्या मारूँ, यह तो मेरे चिड़ियाखाने में बाँधने के योग्य है।

उसके अभिमान और तिरस्कार-पूर्ण वचन सुनकर नृसिंह भगवान् ने उसपर पञ्जा उठाया। हिरण्यकशिपु ने भी तानकर उनपर गदा-प्रहार करने का प्रयत्न किया; पर नृसिंह-देव ने उसे ऐसा पकड़ लिया, जैसे बिल्ली चूहे को अनायास ही पकड़ लेती और फिर वह निस्तब्ध रह जाता है, हिलता-डुलता तक नहीं। आपने इस विशाल-काय महाबली दैत्य को खेल २ में दोनों जाँघों के बीच दबाकर अपने तीक्ष्ण नखों से उसका उदर विदीर्ण कर डाला। इतने वीर योद्धा दानव वहाँ उपस्थित थे; पर किसीको तनिक

भी उस क्रोध-पुञ्ज तेजोमय अद्भुत मूर्ति की ओर देखने तक का साहस न हुआ, अपने स्वामी की रक्षा करने की तो बात दूर थी।

पाठ १०.

प्रह्लाद (४)

भगवान् का यह भयङ्कर रूप देख किसीकी हिम्मत न हुई कि उनको शान्त करे। लक्ष्मीजी से भी यह कार्य्य न बन पड़ा। तब तो ब्रह्मा ने यह देख कि इस क्रोधानल से प्रलय होना चाहता है बालक प्रह्लाद को संकेत किया। भक्त-शिरोमणि प्रह्लाद, जिनके हृदय में अपने स्वामी के दर्शन पा भक्ति की तरंगें उठ रही थीं, भला अपने परम प्रिय आराध्य इष्ट-देव से काहे को डरने वाले थे। उन्होंने समीप जाकर अपने रक्षक नृसिंह भगवान् के चरणों पर अपना मस्तक रख सच्चे हृदय से, आनन्दाश्रु बहाते हुए, स्तुति करना आरम्भ कर दिया:—

प्रह्लाद—

"हे भगवन्! आपके अपार एवं अगाध गुणों का वर्णन जब शेष, शारदा, ब्रह्मा आदि देवतागण करने में असमर्थ हैं तो भला मैं निरा शिशु उनके वर्णन करने का क्या साहस कर सक्ता हूँ। धन, कुल, तप, विद्या, बल, पौरुष, योग, यज्ञादि के होने से मनुष्य आपको इतना प्रसन्न नहीं कर सक्ता जितना भक्ति से कर सक्ता है। मनुष्य में मन ही के सङ्कल्प-विकल्पों का खेल है। जिसने मनको वश किया है उसने मानो जग जीत लिया है। मन से ही विद्या की

उत्पत्ति होती है जिसके अभाव में मनुष्य संसार-पङ्क में फँसकर नाना प्रकार के दुःख भोगता है। आप इस मन के नियन्ता हैं और आपकी कृपा होने से ही जीव इस अपार संसार की असार खटपटों से निस्तार पाता है।

"हे परमात्मन्! इस अपार संसार का भार उतारने के लिये ही आपका अवतार होता है। आपने मेरे पिता दैत्य-राज का वध करने के लिये जो यह रूप धारण किया था उसे अब आप त्यागिये; क्योंकि जिस कार्य्य के लिये आपने यह अवतार धारण किया है वह हो चुका है। यद्यपि ये मेरे पिता थे तथापि इनसे आपके भक्तों को सदा भय में पड़े रहना पड़ता था; पर अब उनकी मृत्यु हो जाने से त्रिभुवन का भार उतर गया है। अब सबकी ओर से मेरी यही प्रार्थना है कि क्रोध त्यागकर आप शान्ति धारण कीजिये।

"हे भक्त-वत्सल! मैं अपने पिता के पश्चात् राजा बनना नहीं चाहता और न मुझे ऐश्वर्य्य ही अभीष्ट है। राज्य, सम्पत्ति, और ऐश्वर्य्य होने पर भी पिताजी की क्या दशा हुई? भगवन्! मुझे केवल एक वस्तु की वाञ्छना है और वह वस्तु है आपके चरणों में भक्ति। अपने दासों के बीच आप मुझे स्थान दें—यही मेरी विनीत प्रार्थना है।"

अहा! धन्य है इस भक्त-शिरोमणि दैत्य-बालक की भक्ति जिसके लिये वह सर्व्वस्व त्यागने को तत्पर था। धन्य है इस बालक की भक्ति-जनित-शक्ति जिसके द्वारा उसने वह काम कर डाला जिसके करने का साहस विष्णु भगवान् की परम प्रिया लक्ष्मीजी तथा जगज्जनक ब्रह्माजी को भी नहीं था। प्रह्लाद की तोतली वाणी में यह भाव-पूर्ण स्तोत्र सुनने से नृसिंह भगवान् का क्रोध दूर हो गया और आपने शान्त होकर बड़े गम्भीर भाव से कहा:—

नृसिंह भगवान्—वत्स प्रह्लाद ! मैं तुझसे बहुत प्रसन्न हूँ। तेरी दृढ़ता, श्रद्धा, साहस और निर्भीकता आदर्श हैं। संसारी जीवों के लिये तेरी भक्ति सदा दृष्टान्त-रूप मानी जायगी। माँग, और क्या वर माँगता है ?

प्रह्लाद—हे भक्त-वत्सल ! हे परमात्मन् ! आपने जो मुझे अपनाया है, अपने दास-वर्ग में स्थान दिया है, इस से बढ़कर अब क्या रहा जो आपसे माँगू। यदि आपकी ऐसी ही आज्ञा है तो यह वर दीजिये कि मेरा हृदय कदापि काम से कलुषित न हो। मेरी मन्द बुद्धि में अनियंत्रित काम ही मनुष्य-जाति का परम शत्रु है। इसके रहते जीव संसारी माया में लिप्त हुए बिना नहीं रह सकता। इसीसे इन्द्रिय, मन, प्रज्ञा, आत्मा, धर्म्म, धैर्य्य, बुद्धि, लज्जा, श्री तेज, स्मृति और सत्य का नाश एक साथ ही हो जाता है।

नृसिंह—वत्स प्रह्लाद ! तेरे सदृश मेरा अनन्य भक्त कोई दूसरा त्रिभुवन में नहीं है। यद्यपि तुझे भक्ति के अतिरिक्त इस संसार में कोई इच्छा नहीं है, तथापि मेरी आज्ञा है कि तू इस लोक में रहकर मन्वन्तर पर्य्यन्त अपने पिता के ऐश्वर्य्य-शाली सिंहासन पर बैठकर अपनी जाति का उद्धार कर। तुझे मेरी इस आज्ञा के पालन करने से बड़ा आनन्द होगा। देख, अपने कर्त्तव्य-पालन से जीव जिस सुख का भोग करता है उसके समान सुख स्वर्ग-वास में भी नहीं है।

प्रह्लाद—हे स्वामिन् ! धन्य है मेरा भाग्य जो मेरे हित तथा रक्षा के लिये आपने यह विलक्षण अवतार धारण

कर संसारी जीवों को अपनी भक्ति की महिमा का स्वरूप दिखला दिया। आपकी यह आज्ञा शिरोधार्य है। मुझे तो आपकी सेवा अधिक प्रिय है सो आपकी आज्ञा से राज्य करना भी मैं आप ही की सेवा समझूँगा। अपने २ पदानुसार अपने कर्त्तव्यों का सम्यक् पालन भी ईश्वराराधन के तुल्य है। अब एक वर मुझे यह दीजिये। मेरे पिता आपको अपने भाई का घातक समझ वैर और क्रोध के वश में पड़ गये थे जिससे उनमें विवेक आदि गुण बिलकुल न रह गये थे। उन्होंने जितने अपराध किये हैं वे वास्तव में क्षमा करने योग्य नहीं हैं; कोई भी ऐसे अपराधी को कदापि क्षमा न करेगा; पर भगवन्! आपकी दया भी तो अगाध है, आप ऐसे पापियों को सदा से क्षमा करते आये हैं; अतएव यह मेरा सानुनय निवेदन है कि आप मेरे अपराधी पिताजी को अपनी अगाध दयालुता का पात्र समझकर क्षमा-प्रदान करें। हे दीनबन्धो! इन अमार्जनीय अपराधों के भयङ्कर फल से आप मेरे पिता की रक्षा करें और इस दास के इस दुःख को दूर करें। यह कैसे शोक की बात है कि मेरे ही कारण ये सब घटनाएँ घटी हैं।

नृसिंह—हे वत्स! मेरे दर्शन पाकर भी कहीं कोई दुःख पाता है? तुम्हारे पिता ने तो मेरे दर्शन और स्पर्शन दोनों प्राप्त किये हैं; अतएव उनकी क्या, उनकी बीस पीढ़ियों की भी सद्गति हो चुकी। फिर, जिस कुल में तेरे समान आदर्श भक्त ने जन्म लिया है वह कुल पवित्र हो गया है; अतएव अपने पिता के विषय में

सोच मत कर। अपने प्रजा-शासन-रूपी कर्त्तव्य का पालन कर।

इतना कह श्रीभगवान् नृसिंहजी अन्तर्धान हो गये। धन्य है प्रह्लाद तुम्हारा अलौकिक चरित्र! दानव-वंश में उत्पन्न होकर भी तुमने भक्त-शिरोमणि की पदवी प्राप्त की। भारी भारी विपत्तियों में पड़कर भी तुमने अपना दृढ़ संकल्प नहीं त्यागा। धन्य है तुम्हारी निस्पृहता और इन्द्रिय-सुख का तिरस्कार और सबसे बढ़कर धन्य है तुम्हारी क्षमा-शीलता! ऐसा अवसर आने पर भी तुम स्वार्थ को बिलकुल भूल गये और अपने परम शत्रु पिता का ही हित तुम्हें सूझा। धन्य है तुम्हारी पितृ-भक्ति!

बालको! प्रह्लाद तो अपने संसारी लाभ की सारी बातें भूल ही गये थे। संसारी सुख का मूल काम अर्थात् सुख की इच्छा किस प्राणी को नहीं रहती और उसकी तृप्ति कौन नहीं चाहता। प्रह्लाद एक ऐसे पुरुष हुए हैं जिन्होंने उसे इतना तुच्छ समझकर यह वरदान माँगा कि वह उनके हृदय में रहने ही न पावे। यह भी कर्तव्य-पथ पर चलने वाले महानुभावों को आपसे आप, बिना माँगे, सर्व्व सुख मिलता ही है।

पाठ १०.

परम भक्त जाव (१)

भक्तों को—सज्जन एवं धर्म्म-भीरु पुरुषों को—संसार में बड़ी २ आपत्तियाँ झेलनी पड़ी हैं; पर ऐसी विप-

त्तियों में पड़कर वे उन्हें अपनी परीक्षा मात्र समझते और कभी न्याय तथा धर्म-पथ से विचलित नहीं होते; चाहे उनके प्राण ही क्यों जायँ।

बैबिल ईसाइयों का वेद है। उसमें जाब (Job) नामक एक भगवद्भक्त सज्जनका अच्छा आख्यान है जिससे सिद्ध होता है कि प्रत्येक देश, जाति और काल में भक्त जन एक से ही होते आये हैं। जाब अपने घर का अच्छा धनी था। उन दिनों में धनी लोगों के पास ज़मीन, पशु; आदि जो जो सम्पत्ति होनी चाहिये उसके पास सब था और बाल-बच्चों से भी उसका घर भरा था। इतना धनाढ्य होने पर भी वह आदर्श भक्त था और अपने ईश्वर के चरणों में समर्पण किये था।

ईश्वर ने उसे धर्म्म में और दृढ़ करने के लिये उसकी अत्यन्त भयङ्कर परीक्षा ली, अर्थात् उसपर बड़ी २ आपत्तियाँ आने लगीं। उसकी अवनति का आरम्भ इस प्रकार हुआः—एक दिन उसके एक नौकर ने आकर उसे ख़बर दी कि "डाकुओं के दल ने आकर हम लोगों को मारा और वे सब पशु हाँक ले गये। हम लोग उनके साथ जी-जान से लड़े; पर मेरे सिवा और सब मारे गये, मैं ही अकेला बचा हूँ।" वह नौकर यह सब कह ही रहा था कि एक दूसरे ने आकर और भी भयङ्कर समाचार सुनाये कि "अकस्मात् अग्नि-वर्षा होने से आपकी भेड़ों के झुन्ड और उनके रक्षक नष्ट हो गये। "तुरन्त ही तीसरा रोता आया और रो रोकर कहने लगा कि "हे स्वामिन्! सर्व्वनाश हो गया। आपका बड़ा पुत्र जेवनार में अपने मित्रों सहित बैठा जीम रहा था कि अति प्रचंड आँधी आने से वह घर बैठ

गया और सबके सब उसके नीचे दबकर मर गये, केवल मैं ही बचा हूँ।"

बालको! सोचो तो, इस सज्जन पुरुष पर एक बार ही कैसी २ आपत्तियाँ आ पड़ीं! वह क्षण भर में अपनी सब धन-सम्पत्ति और सन्तति खो बैठा। ऐसे बहुत कम लोग होंगे जिनपर अकस्मात् ऐसी भारी आपत्तियाँ पड़ी हों और इस प्रकार सर्व्वनाश हो गया हो; पर वे अपनी अटल भक्ति में रहे हों। थोड़ी सी आपत्ति पड़ने पर ही लोग घबड़ा उठते और अपना कर्त्तव्य भूलकर ईश्वर को दोष देते और नास्तिक से हो जाते हैं। धन्य है जाब की श्रद्धा और दृढ़ भक्ति! उसने ये समाचार सुनकर कहा कि "जब मैंने इस संसार में जन्म लिया था तब मैं ख़ाली हाथ आया था और संसार छोड़कर जब जाने लगूँगा तब भी ख़ाली हाथ ही जाऊँगा। यह सब सम्पत्ति और सन्तति जिसने दी थी उसीने ले ली। उसकी लीला वही जानता है। कौन जाने उसने इसीमें मेरा हित सोचा हो। वह भक्त-वत्सल जगत्-पिता निष्कारण ही किसी की हानि नहीं होने देता। स्वर्णकार जिस प्रकार अग्नि में तपाकर सोने की परीक्षा करता है उसी प्रकार विपत्तियों से संतप्त करके परमात्मा अपने भक्त की परीक्षा करता है।" फिर इस आदर्श भक्त ने ईश्वर की स्तुति करके उसे अनेक धन्यवाद दिये और अपने चित्त को तनिक भी विचलित नहीं होने दिया।

इतनी आपत्ति सहने पर भी जाब की इस भयङ्कर परीक्षा का अन्त नहीं हुआ। उसे एक भयङ्कर रोग ने आ दबाया और उसके शरीर भर में व्रण होजाने से उसे शैय्या पर लेटना भी दुष्कर हो गया। उसकी शरीर-वेदना का ठिकाना न रहा; पर वाहरे जाब! तूने यह कष्ट सहते हुए तनिक भी

व्याकुलता नहीं दिखलाई, इतने पर भी ईश्वर की भक्ति नहीं छोड़ी। वह शरीर-वेदना को ईश्वर-प्रसाद समझकर शांति-पूर्वक सहन करता था। उसकी स्त्री को तो इतनी शक्ति न थी कि वह अपने साधु पति की यह दुर्गति देख सके; अतएव वह सदा कहती थी कि "परमात्मा ने मेरे पति की भक्ति का तनिक भी विचार न किया। अब देखा कि ईश्वर भी अन्याय करता है, नहीं तो ऐसे सत्पुरुष पर इतनी निष्ठुरता कैसे करता? अपनी स्त्री का प्रलाप सुनकर जाब जब उसे सावधान करता तो वह और भी अधिक क्रोध करती और ईश्वर को कोसने लगती थी। उसकी यह दशा देख जाब को वह कष्ट होता था जो अपनी घोर विपत्ति से भी नहीं हुआ था। वह यही समझता था कि यह मेरे भाग्य ही का फेर है कि मेरी स्त्री भी मेरे विरुद्ध ऐसे कुत्सित विचार प्रकट करने लगी। उससे तो मुझे सांत्वना मिलनी चाहिये थी; पर वह उलटी मेरे विरुद्ध चल रही है। उसका इस प्रकार विरोध करना मेरी और सब विपत्तियों से भी अधिक दुःख देता है। मेरे ऊपर यह सबसे भारी विपत्ति पड़ी है। जब कभी जाब अपनी स्त्री को सावधान करता कि ईश्वर को दोष देना महापाप और भारी मूर्खता है तो वह और अधिक क्रोध में आकर कहती थी कि "देखो तुम्हारे दयालु ईश्वर की दयालुता। वह दयासागर नहीं, वज्र-हृदय और अन्यायी है। सर्व-नाश करके भी सन्तुष्ट नहीं हुआ और अब प्राणों पर ही रूठा है। तुम चाहे इतना सहकर भी मूर्ख बने रहो; पर अब मेरा विश्वास चला गया। ऐसे अन्यायी ईश्वर का भरोसा मुझे नहीं रहा और न उसकी भक्ति से ही मैं कोई लाभ देखती हूँ"।

उसके ये वचन सुनकर जाब उसे बहुत डाँटता

और कहा करता था कि "री मूर्खे ! तू निरी स्त्रियों की सी बातें करती है; ख़बरदार मेरे साम्हने ऐसे अपमान-सूचक शब्द मेरे इष्ट देव के प्रति अपने मुख से कभी मत निकालना। री दुष्टे ! तू ईश्वर की लीला क्या जाने, जब तक सुख मिला तब तक तो तू बड़ी भक्त बनी रही और कहती थी कि ईश्वरेच्छा पर अपने को छोड़ देना चाहिये; पर अब दुःख पड़ने पर अपने सिद्धान्तों को एकदम भूल गई ! तू जो धीरज छोड़ ऐसा कहती है यह तेरी बड़ी भूल है।"

घर बाहर जहाँ देखो तहाँ जाब को साहस देने वाला कोई न रहा। एक दिन उसके सैकड़ों मित्रों में से केवल ३ उसके यहाँ सम-वेदना प्रकट करने का ढकोसला दिखाने को आ पहुँचे। ये भी कदाचित् उसका दुःख देख-कर मन ही मन प्रसन्न होने को आये थे। संसार की यही रीति है। जब उन्होंने जाब को देखा तो पहले तो उसे पहचान न सके, फिर उसका अलौकिक धैर्य्य देखकर आश्च-र्य्य करने लगे कि यह "मनुष्य है या निरा पत्थर या विक्षिप्त ही हो गया है जो सर्व्वनाश हो जाने पर भी ऐसा शान्त बैठा है और अब भी ईश्वर २ रटा करता है। हो न हो इससे कोई भारी पाप हो गया है और इस दुःख को उसी अपराध का फल समझकर यह ऐसा चुपचाप बैठा है।" ऐसी झूठी कल्पना कर वे जाब को समझाने लगे।

पहला मित्र—भाई जाब ! जो हुआ सो हुआ, अब आगे को सावधान हो जाव; पाप का फल भोग लेने में ही कल्याण है; अब आगे को सचेत रहो जिसमें ऐसा भयङ्कर पाप तुमसे फिर न होने पावे।

दूसरा मित्र—भाई, ये सत्य कहते हैं। अब किये पर पछ-

ताते हुए ईश्वर से प्रार्थना करो कि "हे भगवन्! बहुत हुआ, अब क्षमा कीजिये"।

तीसरा मित्र—बहुत ठीक कहा, परमात्मा न्यायी भी है और दयालु भी है। तुम्हें ऐसा घोर दण्ड देकर उसने न्याय तो किया है; पर अब दया भी अवश्य करेगा।

पाठ १२.

परम भक्त जाब (२)

यह सब सुन जाब ने उत्तर दिया कि "मित्रो! किसी महापापी को भी पापी कहने और उसके कष्ट को उसके पाप का फल बताने से उसे धीरज नहीं होता। आप जो मुझे धीरज बँधाने आये हैं उसका साधन यह नहीं है। न तो मैंने कोई विशेष पाप ही किया है और न मैं इस कष्ट का कोई कारण ही जानता हूँ; पर इतना विश्वास है कि उसने जो किया है वह मेरी भलाई ही सोचकर किया होगा। हाँ, मानव-हृदय अत्यन्त दुर्बल होता है सो मैं यही प्रार्थना किया करता हूँ कि "हे ईश्वर! मेरी मृत्यु हो जाय तो अच्छा हो; पर यदि तुझे यह स्वीकृत न हो तो तेरी इच्छा।"

ये छद्मवेशी मित्र भला उस बेचारे की सत्य बातें कब मानने चले थे। वे कहते ही गये कि "बिना पाप के दुःख नहीं होता। तुम भूल करते हो, पाप को स्वीकार कर लेना ही अच्छा होता है।"

यह सुन जाब से न रहा गया और अधीर हो

उसने उत्तर दिया कि "परमेश्वर की यह बड़ी निर्दयता है जो तुम सरीखे शठों को इस प्रकार असत्य दोषारोपण करने का अवसर मिला है। यदि वह मेरी बात इतनी न बिगाड़ता तो तुम क्यों मुझे महापापी कह सकते।" निदान बेचारा जाब दुर्बल-हृदय मनुष्य ही तो था, इतनी विपत्ति और शारीरिक कष्ट सहते हुए उसने कभी ईश्वर को दोष नहीं दिया था; पर इन लोगों के लाञ्छनों और उपालंभों को सुन उसका जी भर आया और वह अपने को न सम्हाल सका।

इतने में एक बड़ी आँधी आई और यह आकाश-वाणी सुनाई दी कि "हे जाब! क्या तू अपने इष्ट देव ईश्वर की महिमा भूल गया? क्या तू यह नहीं जानता कि संसार की सभी उत्तम २ वस्तुएँ उसीकी रची हुई हैं? तुझे इतना साहस कैसे हुआ कि तू ईश्वर के कृत्यों की समालोचना करने बैठा है? रे अल्पज्ञ! ईश्वर की लीलाओं के रहस्य को तू क्या समझे? तू भी तो यही कहा करता और दूसरों को उपदेश दिया करता था कि "परमात्मा के सब कार्य हमारी ही भलाई के लिये हुआ करते हैं; पर हम अल्पज्ञ हैं; अतएव उसके प्रबन्ध का पार नहीं पा सकते, इससे हमारा यही धर्म है कि चाहे जैसा कष्ट क्यों न हो हमें उसे श्रद्धापूर्वक सह लेना चाहिये और धैर्य्य कभी न छोड़ना चाहिये उसकी स्तुति करने में ही हमारा कल्याण है। आज आपत्ति पड़ने से तू यह सब भूल गया?"

फिर उन सहानुभूति-शून्य मित्रों के प्रति यह आकाश-वाणी सुन पड़ी—"रे मूर्खो! तुम लोगों ने मेरे सेवक जाब को जो पापी समझा यह तुम्हारी बड़ी भूल है। मनुष्य का यह परम कर्त्तव्य है कि दुखी जीवों के साथ सहानु-

भूति दिखावे, उनके कष्ट को दूर करे और यदि यह न हो सके तो धैर्य्य और शान्त देने की चेष्टा करे। तुम्हारा धर्म था कि तुम लोग मेरे इस सच्चे भक्त को समझा-बुझाकर धीरज दिलाते, सो तो नहीं, उलटे उसे पापी बनाने लगे। क्या धर्म्मात्मा पुरुष कभी कष्ट नहीं भोगते? मनुष्य मनुष्य के कार्य्यों का निर्णय नहीं कर सक्ता, पाप पुण्य का निर्णय करना और उसका फल देना मेरे हाथ में है, मनुष्य के नहीं। सावधान! फिर ऐसे शब्द मुँह से न निकालना। जाकर प्रायश्चित्त करो और फिर आकर मेरे इस सच्चे भक्त से क्षमा-प्रार्थना करो।"

इसी क्षण जाब की इस भीषण परीक्षा का अन्त भी हो गया। उसके दिन फिर से पलटे और धन-धान्य तथा बाल-बच्चों से उस परम भक्त का घर फिर से भर गया। इसके बाद जाब मनुष्य की पूर्ण आयु भोगकर अन्त में स्वर्गवासी हुआ।

पाठ १३.

ईश्वर-द्रोह वा नास्तिकता।

ईश्वर-भक्तों का तो यह हाल है; पर जो लोग नास्तिक हैं, अनीश्वर-वादी हैं अथवा मूर्खता-वश अपने को ही सबसे बड़ा समझकर दूसरों पर मनमाना अत्याचार करते हैं उनकी दशा कैसी होती है?

रामायण पढ़ने-वालों को रावण की शक्ति एवं सामर्थ्य का हाल पूरी २ तरह मालूम है। किसी दिन वह तीनों लोकों का चक्रवर्ती राजा समझा जाता था। कहते

हैं कि देवता-गण उसकी सेवा करते थे। त्रिलोकों में किस की शक्ति थी जो उसके सन्मुख आँख उठाकर देख सके? पर राज-मद में उन्मत्त होकर वह विद्वान् तपस्वी ब्राह्मण-पुत्र राक्षस बन गया और जगत्पिता परमेश्वर से भी वैर बाँध लिया। ऋषि, मुनि आदि धर्म्मात्मा पुरुषों को अपने धर्म्म-कार्य्यों का अनुष्ठान करने में वह नाना प्रकार की बाधाएँ डालने लगा। उसके आश्रित राक्षस-गण इनके नित्य-नियम में बाधक बनने लगे। ऐसे परमैश्वर्य्यवान्, पराक्रमी, त्रिभुवन-नाथ रावण को भी ईश्वर-द्रोही बनने के कारण सर्व्वनाश सहना पड़ा। उसकी स्वर्णमयी लङ्का भस्म कर दी गई। मेघनाद सरीखे पराक्रमी पुत्र एक एक करके मार डाले गये। अंत में उसके भी प्राण गये।

हिरण्यकशिपु का हाल तो प्रह्लाद के आख्यान में है ही। इसी प्रकार जरासंध और शिशुपाल भी नष्ट हुए। तृण की आग जिस तरह क्षण भर धधककर फिर शान्त हो हो जाती है, वही हाल पापियों की शक्ति और ऐश्वर्य्य का होता है। पापी कुछ दिन चमक-दमक दिखलाकर अन्त में नष्ट होते ही हैं।

सच्चे ईश्वर-भक्त अपने इष्टदेव के चरणों में तन, मन और धन अर्पण कर देते हैं और भयङ्कर आपत्तियों का सामना करते हुए अपने धर्म्म में दृढ़ रहते हैं। प्रत्येक देश के इतिहास में ऐसे कई स्त्री-पुरुषों के दृष्टान्त मिलते हैं जिन्होंने असह्य कष्ट सहकर अन्त में प्राण दे दिये; पर अपने धर्म्म तथा इष्ट देव से विमुख नहीं हुए। कई जीते जी जला दिये गये, कई हाथी के पैरों तले दबाये गये, और कई सूली पर लटकाये गये; पर अपने आराध्य देव को नहीं भूले।

धन्य है श्रीगुरु गोविन्दसिंह के अबोध बालकों को जिन्होंने दीवाल में चुनवा दिया जाना स्वीकार किया और धर्म्म-रक्षा में प्राण दे डाले। इङ्गलैंड की रानी मेरी के राजत्व-काल में सर टामस मोर प्रभृति ५०० के लगभग प्राटिस्टेंट मत के मानने वाले धर्म्म-वीरों ने जीते जी भस्म हो जाना स्वीकार किया; पर रोमन काथलिक सम्प्रदाय में दीक्षित होना स्वीकार नहीं किया।

पाठ १४.

राज-भक्ति (१)

[अपने राजा के प्रति कर्त्तव्याकर्त्तव्य।]

प्राचीन काल में हिन्दू जाति अपने राजा को निरा मनुष्य नहीं मानती थी। धर्म्म-शास्त्रों में राजा कई देवताओं के अंशों से मिलकर बना है ऐसा लेख पाया जाता है:—

इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च।
चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः॥

[मनु०, अ० ...

इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, ...ल हैं; पर जो लोग
कुवेर देवताओं के कभी नाश न होने वा...मूर्खता-वश अपने को
विधाता ने राजा की सृष्टि की है। इंगिल... मनमाना अत्याचार
सौ वर्ष पूर्व यही माना जाता था कि...
(Rights) ईश्वर-प्रदत्त हैं। अङ्गरेजों ...रावण की शक्ति एवं
वाले राजा के ईश्वर-प्रदत्त स्वत्व (D... । किसी दिन वह
Kings) के अर्थ को भली भाँति समझ... जाता था। कहते

रेज लोग भी यह मानते थे कि विधि-पूर्वक राज्याभिषे होते ही राजा को कई दैवी शक्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं जिन द्वारा वह स्पर्श-मात्र से कई रोग दूर कर सक्ता है। अब भ अङ्गरेज जाति साधारणतः राजा को बहुत मानती औ उसका आदर-सत्कार करती है; पर ईश्वरीय स्वत्व में अ उसका विश्वास नहीं रहा। हमारे शास्त्रों में भी राजा विषय में जो कहा गया है उसका अर्थ यह है कि कर्त्तव्यनि राजा में उन देवताओं के गुण पाये जाते हैं।

धर्म्म के अतिरिक्त नीति की दृष्टि से देखो तो भ यही मालूम पड़ता है कि राजा वा शासक के बिना संसार नहीं चल सक्ता। जन-समाज में नियम-बद्ध कार्य्य होना और सर्वत्र शान्ति फैली रहना राजा के उत्तम शासन का ही फल है। सुसङ्गठित शासन के अभाव में अराजकता फैल जाती और सबल निर्व्बलों को मनमाना सताने लगते हैं:—

अराजके हि लोकेऽस्मिन् सर्व्वतो विद्रुते भयात्।
रक्षार्थमस्य सर्वत्र राजानमसृजत्प्रभुः ॥

[मनु०, अ० ७, श्लो० ३]

अर्थात् इस लोक में राजा के न रहने से जो उप-न्व होते हैं उनसे मनुष्य की रक्षा करने के लिये प्रभु ने मन और धन अ की है। श्रीगुसाईं तुलसीदासजी ने भी का सामना करते ह

देश के इतिहास में कृपाला। ईश-अंश-भव परम कृपाला॥ जिन्होंने असह्य इस साक्षी है कि जब २ राज-शक्ति का ह्रास धर्म्म तथा इष्ट देवागण घोर कष्ट में पड़े हैं और डाकू, ठग, दिये गये, कई हा चोर आदि दुष्ट जीवों ने मनमाने अत्या-पर लटकाये गये देश में हाहाकार मचा दिया है। मुग़ल

बादशाहत के निर्बल पड़ते ही हमारे देश का क्या हाल हुआ था सो इतिहास से प्रगट होता है। उस भयङ्कर नव्वाबी, घोसली, ठगी और पिंडारगीरी का नाम सुनते ही शरीर काँप उठता था। यह सब राज-शक्ति के निर्बल पड़ जाने का परिणाम था, जिसके कारण सारे देश में अराजकता का अन्धकार छा गया था; पर अङ्गरेज़ी सुशासन-रूपी सूर्य्य का उदय होते ही यह सब अन्धकार बात कहते छिन्न-भिन्न होकर विलीन हो गया और ५० वर्ष के भीतर उसी कष्ट-मयी भूमि में जहाँ अराजकता ने ऐसा विकट रूप धारण किया था सुशासन विराजने लगा, जिससे प्रजा का जीवन सुख-मय होकर प्रत्येक दिशा में उन्नति के चिह्न दिखाई देने लगे। यह वही भारतवर्ष है जहाँ उस समय अकेले मनुष्य के लिये एक गाँव से दूसरे गाँव जाना जान-जोखिम से खाली नहीं था; जहाँ जो किसान फ़सल बोता उसे उसके काटने में सन्देह रहता था; जहाँ लोगों का सारा समय जान-माल की रक्षा के उपायों में ही व्यतीत होता था; जहाँ शहरों के चहुँ ओर शहर-पनाह बनायी जाती थी; और जहाँ तरुण कन्याओं के सतीत्व-नाश के भय से माता-पिता बाल-विवाह करने लगे थे। ऐसी दशा में शिक्षा, व्यापार, वाणिज्य आदि कार्य्य असम्भव हो गये थे। उसी देश में अब शांति अटल होकर विराज रही है, जिसके आश्रय में रहकर हम लोग प्रतिवर्ष अधिक २ शिक्षित होते जाते हैं और व्यापारादि अनेक व्यवसायों में उन्नति कर रहे हैं। "बाघ और बकरी के एक घाट पानी पीने" की उक्ति आजकल चरितार्थ हो रही है। क़ानून की दृष्टि में राव और रङ्क—सब बराबर हैं। हमारे राजा और रानी हमारे सुख में अपना सुख और हमारे दुःख में अपना दुःख मानते हैं जैसा कि महारानी

विक्टोरिया ने अपने अमूल्य घोषणा-पत्र में स्पष्ट कहा है। जब २ इस देश पर दैवी चक्र चला है और जनता दुर्भिक्षादि घोर विपत्तियों में पड़ी है तब २ सम्राट् ने अपनी सच्ची सहानुभूति प्रदर्शित करने में विलम्ब नहीं किया। महामारी, अकाल आदि विपत्तियों से हमारी रक्षा करने के लिये सरकार पूर्ण प्रयत्न करती है। जहाँ अकाल पड़ने से लाखों स्त्री-पुरुष तथा बच्चे भूख की ज्वाला से दग्ध होकर प्राण खो बैठते थे वहाँ अब ऐसा प्रबन्ध किया जाता है कि एक भी मनुष्य भूख से न मरने पावे।

पाठ १५.

राज-भक्ति (२)

हम भारतवासियों को अपना धर्म्म प्राणों से भी अधिक प्यारा है। धर्म्म-नाश की शंका-मात्र से हम लोग उसकी रक्षा के लिये उन्मत्त से हो जाते और बकरी की जगह बाघ बन जाते हैं। अपनी धर्म्म-रक्षा के लिये हम लोगों ने बड़ी २ आपत्तियाँ सहन की हैं और सहस्रों वीर पुरुषों ने अपने प्यारे प्राण खो दिये हैं। ऐसी अमूल्य वस्तु की रक्षा जिस प्रकार हम अँगरेजी शासन में रहकर कर सके हैं वैसी पहले कभी न कर सके होंगे। एक वह समय था जब गुरु तेगबहादुर तथा गुरुगोविन्दसिंह के दो अबोध बालक इसलिये क़तल किये गये थे कि वे अपना धर्म छोड़ने को तय्यार न थे। राम-राज्य के समय भी राक्षसों के उपद्रवों से हमारे ऋषि-मुनियों को अपना धर्मानुष्ठान कठिन हो रहा था और उन्हें वार २ क्षत्रिय राजाओं का आश्रय लेना पड़ता

था। ताड़कादि के उपद्रवों से ऋषि-मुनियों के हेतु श्रीरामचन्द्रजीको स्वयं जाना पड़ा था और वामाचारी रावण ने तो देवताओं तक को अपने अत्याचारों से व्याकुल कर रक्खा था। ये क्या, लाखों को या तो अपना धर्म्म खोना पड़ा था या प्राण। पर, आज कल हम अपना जो सच्चा धर्मानुष्ठान करना चाहें निर्भय होकर कर सक्ते हैं।

दुर्योधनादि दुष्ट कौरवों ने महाराज युधिष्ठिर के साथ जुवा खेलकर धूर्तता के बल उनकी सब धन-सम्पत्ति अपहरण कर पाण्डवों को देश-निकाला दिया। उस समय जब वे अपना राज्य छोड़ वन को जाने लगे तो सारी प्रजा दुःख से व्याकुल हो कौरवों को धिक्कारती हुई स्वदेश-त्याग के लिये सन्नद्ध हो गई। कई प्रधान २ पुरुषों ने महाराज युधिष्ठिर से निवेदन किया कि यदि आप आज्ञा दें अथवा हम लोगों पर असन्तुष्ट न होने का वचन ही दें तो हम क्षण भर में धृतराष्ट्र और उसके वंशजों को पदच्युत कर खाली गद्दी पर आपको बैठा दें। आपके विरुद्ध षड़यंत्र रचा गया और कपट-नीति का प्रयोग किया गया है। हम लोग आपके सदृश न्यायी तथा प्रजानुरञ्जन में तत्पर राजा को छोड़ एक क्षण भी दुष्ट दुर्योधन की प्रजा नहीं बनना चाहते।

इसमें तो सन्देह नहीं कि महाराज युधिष्ठिर के "हाँ" कहने भर की देरी थी कि प्रजा महाराज धृतराष्ट्र को निकाल युधिष्ठिर को राज-सिंहासन पर बैठा देती; पर धन्य है उनकी कर्त्तव्यनिष्ठा और धर्म्म-भीरुता! उन्होंने देखा कि बात तो सत्य है, इतने वीर पुरुष जब एक मत हैं तो धृतराष्ट्र एक क्षण भी राज्य नहीं कर सक्ते; पर क्या मैं धर्म्म-पूर्वक ऐसी आज्ञा दे सक्ता हूँ और देने से क्या कुछ

अच्छा परिणाम हो सक्ता है? लाखों वीर कट जायँगे और मैं जुवा सरीखे पाप का फल न भोग सकूँगा। क्या धर्म्म इसीका नाम है? अपने किये का फल भोगने के डर से मैं यह राज-द्रोह-रूपी दूसरा घोर पाप अपने सिर न लूँगा। प्रजा को अपने राजा के विरुद्ध उत्तेजित करना धर्म्म-मर्य्यादा का उल्लंघन करना है। ऐसा करने से मैं पाप में पड़ूँगा और अपने इन भक्त श्रद्धालु जनों को डालूँगा। इतना सब सोच-विचारकर महाराज युधिष्ठिर ने प्रजागण को यही उपदेश दिया कि "राज-भक्ति से विमुख होना प्रजा के लिये बड़ा पाप है। जब मैंने ही राज त्याग वन-वास स्वीकार कर लिया है तो आप लोगों को उचित है कि मुझे धर्म्म-भ्रष्ट होने की उत्तेजना न दें और हाल में कौरवों को ही अपना राजा समझ उनका आदेश मानें। हम जो अपना राज्य जुवा में हार गये यह हमारा ही दोष है; अतएव इसका परिणाम भी हमें ही भोगना उचित है। हमने जान बूझ-कर पाप किया है, कौरवों को इसमें दोष दें तो क्या दें। जो अपना राजा बन गया है और राज में शान्ति स्थापित हो गई है उसका नाश हिंसा-पूर्व्वक करना और देश में अरा-जकता फैलाना प्रजा का धर्म्म नहीं है। जो लोग किसी सच्चे वा कपोल-कल्पित कारण को लेकर स्थापित शासन के विध्वंस करने का प्रयत्न हिंसा-पूर्व्वक करते हैं वे अपने सिर पर राज-विद्रोह-रूपी अधर्म्म लेते हैं।"

महाराज भीष्म, द्रोणादि कौरव नेता भली भाँति जानते थे कि दुर्य्योधन बेचारे पाण्डव-भ्राताओं के साथ छल-कपट-पूर्ण व्यवहार कर उनका राज्य छीन लिया है। वे स्पष्ट कहते थे कि महाभारत में पाण्डवों का पक्ष धर्म्म-पूर्ण होने से उन्हींकी विजय होगी—यतो धर्म्मस्ततो जयः—और

हम लोग अधर्मी कौरवों के पक्ष में रहने से अवश्य मारे जायँगे; पर वे अपने को धृतराष्ट्र की ही प्रजा मानते थे; अतएव कौरवों का पक्ष छोड़ पाण्डवों के पक्ष में चला जाना राज-भक्ति के विरुद्ध समझते थे। कौरवों के पक्ष को अधर्म्म जानते हुए भी भीष्म, द्रोणादि ने राज-भक्ति को ही अपना परम धर्म्म माना।

तस्यार्थे सर्व्वभूतानां गोप्तारं धर्म्ममात्मजम्।
ब्रह्मतेजोमयं दंडमसृजत्पूर्व्वमीश्वरः॥
दण्डः शास्ति प्रजाःसर्व्वा दण्ड एवाभिरक्षति।
दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्म्मं विदुर्बुधाः॥

जिस प्रकार सहस्रों नर-नारियों ने ईश्वर-भक्ति में अपने प्राणों की आहुति दे दी है उसी प्रकार लाखों मनुष्यों ने राज-भक्ति के पीछे प्राणोत्सर्ग किया है। यही सच्ची राज-भक्ति है। भीष्म, द्रोणादि की अटल राज-भक्ति का उल्लेख हम ऊपर कर ही चुके हैं, अब यहाँ सहस्रों राजभक्त नर-नारियों के उज्ज्वल दृष्टान्तों में से कुछ दृष्टान्त नीचे देते हैं।

पाठ १६.

राज-भक्ति के दृष्टान्त।

भामाशाह की आदर्श राजभक्ति।

महाराणा प्रतापसिंह का नाम राज-स्थान (राजपूताना) के नहीं, समूचे भारत के इतिहास में सदा के लिये स्वर्णाक्षरों में अङ्कित रहने के योग्य है। जिस समय शेष सब राजपूत राजाओं ने मुग़ल सम्राट् अकबर की

स्वाधीनता स्वीकार कर ली थी और वे अपने राज-कुटुम्ब की राजकुमारियों को मुग़ल राज-वंश में व्याहने लगे थे उस समय चित्तौर के राणा उदयसिंह और उनके परम प्रतापी पुत्र प्रतापसिंह ने बड़ी २ कठिनाइयाँ झेलते और जङ्गल जङ्गल मारे मारे फिरते हुए अपना सारा जीवन-काल मुग़ल-सेना से युद्ध करने में ही बिताया और इस प्रकार वे क्षत्रिय-जाति की अतुल वीरता तथा स्व-धर्म्म-प्रेम का अच्छा उदाहरण संसार में छोड़ गये।

अर्व्वली पर्व्वत में मुग़ल-सेना से लड़ते २ महाराणा प्रताप को २५ वर्ष बीत गये। इनके साथियों में से अधिकांश वीर लड़ाइयों में मारे जाने से इनकी सेना धीरे २ बहुत क्षीण हो गई। मुसलमानों के भी असंख्य वीर खेत आये; पर इससे उनको युद्ध चलाने में कोई विशेष बाधा नहीं पड़ी; क्योंकि मध्य एशिया से झुन्ड के झुन्ड मुसलमान वीर आ आकर मुग़ल सम्राट् की सेना में भर्ती हुआ करते थे, जिससे उनकी सेना का ह्रास असम्भव था। इन बातों का विचार कर और अपनी रानियों तथा बाल-बच्चों को महाकष्ट सहते देख प्रताप सरीखा वीर राजपूत भी एक बार निराश हो गया और युद्ध त्याग बैठ रहने का विचार उसके मन में आया। इतने में पृथ्वीराज ने उन्हें एक प्रभावशाली पत्र लिखकर उनकी नस नस में वीर-रस का पुनः संचार कर दिया। राणा ने एक और लड़ाई में मुसलमानों को परास्त किया, पर इस युद्ध में उनकी सेना और भी कम होगई। इतने में अपने बाल-बच्चों को भूखों से तड़फते देख उनकी हिम्मत फिर टूट गई और उन्होंने सहकुटुम्ब अपने सहायकों को ले सिन्ध देश में नवीन राज्य स्थापित करने का विचार बाँधा।

यात्रा की सारी तय्यारी हो गई। सुख-दुःख के साथी राजपूत सरदार राणा का साथ देने को तय्यार हुए। सर्व्वदा के लिये जन्मभूमि त्यागने के पूर्व्व उन सबकी इच्छा हुई कि अर्व्वली पर्वत के शिखर पर चढ़कर एक बार दृष्टि भर मातृभूमि के दर्शन तो कर लें। वे सब पर्व्वत के उच्चतम शिखर पर चढ़कर अश्रु-पूर्ण सतृष्ण नेत्रों से मेवाड़ की पवित्र भूमि की ओर टकटकी लगा देखने लगे। राणा ने भर नज़र चित्तौर की ओर देखकर गहरी साँस ली और उनके नेत्रों से टप २ आँसू गिरने लगे। उन्होंने स्वर्ग से भी अधिक प्रिय अपनी जननी जन्मभूमि से इस प्रकार अन्तिम विदा माँगी।

महाराज के जन्म-भूमि-त्याग का यह समाचार देशभर में फैल गया। राणा के पुराने सेवक दूर २ से उनसे विदा होने आये। उनमें भामाशाह नाम के एक वृद्ध सज्जन राणा-वंश के एक पुराने मन्त्री भी थे और यह पद उनके वंश में परम्परा से चला आता था। अब भामाशाह बहुत वृद्ध तो हो गये थे; पर अपने स्वामी के पूर्ण हितचिन्तक थे। आपके पूर्व्वजों ने जितना धन मेवाड़ के मंत्रि-पद पर रहकर कमाया था वह सब आपने अपने विपद्ग्रस्त स्वामी को प्रदान कर मेवाड़ देश का उद्धार किया। यह धन भी इतना था कि उससे २५ सहस्र सेना का ख़र्च १२ वर्ष तक भली भाँति चल सकता था।

धन्य हो भामाशाह, धन्य हो! इसीका नाम राज-भक्ति है, यही स्वदेश-भक्ति भी है! स्वामि-भक्ति का भी यह अपूर्व्व दृष्टान्त है। इसी धन के प्राप्त होने से महाराणा प्रताप के सिर का शनि उतर गया। हाँ, कष्ट तो अब भी उठाने पड़े; पर अन्त में मेवाड़ का उद्धार हो गया।

पाठ १७.

कुमार अजित और दुर्गादास की राजभक्ति।

महाराज यशवन्तसिंह राठौर की मृत्यु के बाद उनकी सब रानियाँ तो सती हो गईं: पर गर्भवती बड़ी रानी को राजपूत सरदारों ने सती होने से रोका। समय पाकर इसी रानी से कुमार अजित का जन्म हुआ। इसके बाद महारानी और शिशु कुमार को लेकर राजपूत सरदार मारवाड़ को रवाना हुए। मार्ग में दिल्ली पड़ती थी। जब वे वहाँ पहुँचे तो बादशाह औरङ्गज़ेब ने उन्हें रोककर दरबार में बुलाया। जब वे वहाँ उपस्थित हुए तो उनसे बादशाह ने कहा कि "कुमार को हमारे हवाले करो।" यह सुनकर राजपूत सरदार चुपचाप खड़े रहे। इस पर औरङ्गज़ेब ने उन्हें यह लालच दिया कि मेरी आज्ञा का पालन करोगे तो मैं तुम्हें मारवाड़ का सारा राज्य बाँट दूँगा। बादशाह की यह धृष्टता देख राज-भक्त राजपूत सरदारों को बड़ा क्रोध आया और वे चुपचाप अपने डेरों को चले गये। वहाँ पहुँचते ही उन लोगों ने अपने राजकुमार की रक्षा का प्रबन्ध किया, फिर बहुत सी लकड़ी एकत्र कर चिता बनाई और उसमें सब राजपूत स्त्रियाँ भस्म हो गईं। यह उनकी प्राचीन प्रथा थी और जौहर कहलाती थी। किसी महान् सङ्कट के समय जब स्त्रियों के सतीत्व-नाश का भय होता था तो वीर राजपूत ऐसा लोमहर्षण कांड किया करते थे।

स्त्रियों की ओर से इस प्रकार निश्चिन्त हो वे लोग युद्ध की तैयारी करने लगे। धन्य हो स्वामिभक्त

राजपूतो ! धन्य है तुम्हारी राजभक्ति जिसके कारण तुम सिंह की माद में घुसे हुए उसकी दाढ़ी हिलाने का साहस करते हो ! इस समय तुम्हें जीत-हार, जीवन-मरण आदि की तनिक भी परवाह नहीं। तुम्हें अपने मृत स्वामी के पुत्र की रक्षा करना अथवा उस कार्य्य में प्राण देना ही उचित दीख रहा है। बस, घमासान युद्ध ठन गया। मुट्ठी भर राजपूत वीरों ने सारी मुग़ल-सेना के दाँत खट्टे किये। वीर सरदार दुर्गादास और कुछ थोड़े सरदार बच गये। इन लोगों ने मुग़ल-सेना को बेधकर अपने कुमार सहित मारवाड़ का रास्ता लिया।

अपने स्वामि-भक्त सरदारों की इस वीरता से तो अजित की रक्षा हुई; पर औरङ्गज़ेब ने उसका पीछा न छोड़ा। यह उपद्रव मुहम्मदशाह के समय तक चला; पर मुग़ल सम्राट् महाराज अजित का कुछ भी अहित न कर सका। इन राजपूत वीरों के नेता दुर्गादास की कीर्ति मारवाड़ में क्या सारे भारतवर्ष में अटल रहेगी। इनकी आदर्श राज-भक्ति की कविताएँ मारवाड़ में प्रसिद्ध हैं। ऐसा कौन राजपूत है जो यह दोहा नहीं कहा करता:—

जननी सुत ऐसो जने, जैसो दुर्गादास।
बाँधि मुड़ासा राखिये, बिन खम्भे आकास॥

पाठ १८.

पन्ना दाई की स्वामि-भक्ति।

फतहपुर सिकरी की लड़ाई में चित्तौर के प्रसिद्ध राणा साँगा (शङ्करसिंह) के मारे जाने पर उनके पुत्र उदय-

सिंह की अवस्था केवल ६ वर्ष की थी। राजपूत सरदार इसी कुमार को आगे राणा बनाना चाहते थे; पर जब तक उदयसिंह प्राप्त-वयस्क नहीं हुए तब तक के लिये विक्रमाजीत के ही हाथों में राज्य-प्रबन्ध रक्खा गया। यह बड़ा दुष्ट और क्रूर था और इसके अत्याचारों से क्रुद्ध होकर सरदारों ने उसे पदच्युत कर दिया और उसके स्थान में दासी-पुत्र बनवीर को ही अधिकार देना उचित समझा। कुछ ही दिन राज-लक्ष्मी का अनुपम सुख भोगने से बनवीर की मति इकाइक भ्रष्ट हो गई और आजन्म राणा बने रहने के लालच से उसने अपने मार्ग के कण्टक-रूप कुमार उदयसिंह और विक्रमाजीत के वध करने का दृढ़ संकल्प कर लिया।

बेचारे उदयसिंह की माता पहले ही मर चुकी थी और वह पन्ना नाम की एक दाई की रक्षा में रक्खा गया था। इस दाई के भी एक पुत्र था जो अवस्थादि कई बातों में कुमार उदयसिंह के ही समान था। पन्ना थी तो दरिद्रा, पर निदान राजपूत-वंश ही की तो थी। दाइयों को अपनी गोद में रहने वाले बच्चों पर स्वाभाविक प्रेम हो ही जाता है जैसा इस दाई का कुमार उदयसिंह पर हो गया था, दूसरे वह उसे अपने देश का भावी राणा मानकर प्राण-पण से उसकी रक्षा करना अपना धर्म्म समझती थी।

रात होते ही हाथ में तलवार लेकर दुष्ट बनवीर विक्रमाजीत के कमरे में जा पहुँचा और उसे लेटा देख उसको एक हाथ ऐसा मारा कि काम ही तमाम हो गया। इससे महल में भीषण कोलाहल उठा और स्त्रियाँ डाँढ़ मार २ कर रोने-कलपने लगीं। इतने में एक बारी पन्ना के कोठे में जूठन उठाने आया और उससे इस स्वामि-भक्त राजपूतनी ने बन-

वीर के उस दुष्ट कर्म्म का हाल सुना। वह तुरन्त समझ गई कि यह दुष्ट कुमार के प्राण लेने को आता ही होगा, अतएव बड़ी फुर्ती से बालक उदयसिंह को एक बड़ी टोकनी में रख-कर उस ईमानदार बारी के सुपुर्द किया और कहा कि "तू इसे ले नदी के घाट पर चल, मैं शीघ्र ही आती हूँ"। बारी के जाते ही अपने कलेजे के टुकड़े के समान इकलौते पुत्र को काँपते हुए हाथों से कुमार की खाट पर लिटाकर वह समीप ही बैठ गई। इतने में वह हत्यारा पहुँच ही तो गया और गर्जकर पन्ना से कहने लगा—"बता, उदयसिंह कहाँ सोया है?" बेचारी स्त्री मारे भय के काँप रही थी, गला सूख गया था, इसलिये कुछ उत्तर तो न दे सकी; पर उस खाट की ओर उँगली से इशारा कर दिया। हा हन्त! अपनी राज-भक्ति की वेदी पर उसने कैसा भयङ्कर बलिदान दिया! लोभान्ध बनवीर ने एक ही हाथ में उस बेचारे बालक का सिर धड़ से अलग कर चल दिया। महलों में उदयसिंह की मृत्यु का सम्वाद फैलने से स्त्रियों ने हाहा-कार मचा दिया। इसी गड़बड़ में अपने प्यारे पुत्र की लोथ लेकर यह वीर राजपूतनी नदी की ओर चली और वहाँ पहुँचकर उसने अपने पुत्र के शव को जल-मग्न कर दिया। उसका कलेजा तो टूक २ हुआ जाता था; पर वहाँ बैठकर रोने-कलपने का अवसर न देख वह उदयसिंह को लेकर देवल और डूँगर के सामन्तों की शरण में गई; पर बनवीर के भय से इन लोगों को इन असहाय शरणागतों को शरण देने का साहस न हुआ। भय के मारे वे अपना राजपूत-धर्म्म बिल-कुल भूल गये। यह देख वह कुमार को ले आगे बढ़ी और कमलमेर पहुँचकर उसने वहाँ के जैन राजा आशाशाह की गोद में कुमार को रखकर अति नम्र भावसे निवेदन किया

कि आप अपने राजकुमार की रक्षा कीजिये जिससे एक दिन इस मेवाड़ देश का उद्धार होगा और आपका यश सदा के लिये अटल हो जायगा।

यह सुन आशाशाह ने मारे डर के काँपते हुए कुमार को ऐसा हटा दिया मानों वह कोई प्राण-घातक वस्तु हो। उसने कहा कि बनवीर सुनते ही मेरी भी वैसी ही दुर्दशा कर डालेगा जैसी उसने विक्रमाजीत की की है। उसे ऐसा भयातुर देख उसकी वीर माता ने उसे अनेक बार धिक्कारते हुए कहाः—

माता—अरे डरपोंक! भाग्य सराह कि तुझे राज-सेवा करने का सुअवसर हाथ लगा है। तुझसे तो यह दाई पन्ना ही सहस्र बार अच्छी है, जिसने स्त्री होकर भी साहस करने में ऐसे सहस्र पुरुषों के कान काटे हैं। इस अतुल साहस के कारण इसका नाम जैसा अजर और अमर रहेगा वैसा ही तेरा भीरुता के लिये रहेगा। देख, स्वामि-भक्त पुरुष स्वामी के हित के लिये तन, मन और धन की आहुति देने को तत्पर रहते हैं और प्राण देने का संयोग आ जाने पर भी पीछे नहीं हटते। राणा समरसिंह का पुत्र उदयसिंह तेरी शरण में आया है। इसे आश्रय न देने से तू अपना सारा गौरव खोकर घोर पाप का भागी होगा। सम्हल जा, भगवान् तेरा भला करेंगे। कर्त्तव्य करते हुए यदि प्राण भी गये तो क्या चिंता? एक दिन तो मरना ही है।

माता के ऐसे उपदेशमय वचनों ने आशाशाह के हृदय का भय दूर कर दिया। उन्होंने कुमार को अपने पास

रखने का वचन दिया और लोगों से कह दिया कि यह बालक मेरा भतीजा है। पन्ना ने इस डर से कि मेरे यहाँ रहने से कहीं भेद न खुल जाय अपने स्वामि-पुत्र को इस राज-भक्त जैन राजा के आश्रय में छोड़ कहीं अन्यत्र चल दिया।

कुमार उदयसिंह आशाशाह के यहाँ जब ७ वर्ष रह चुके तो एक बार झालौर के सोनगढ़े सरदार उनके यहाँ किसी कार्य्यसे आये और कुमार उदयसिंह ही उनका अतिथि-सत्कार करने को नियुक्त किये गये। ये सरदार महाशय बड़े अनुभवी सज्जन थे। वे तुरन्त ताड़ गये कि यह युवक आशाशाह का भतीजा नहीं है। अन्त में आशाशाह से जब बातचीत हुई तो सरदार ने उसके दिल का सारा हाल मालूम कर लिया। बस, बात २ में यह भेद सारे मेवाड़ देश पर प्रगट हो गया और कुमार उदयसिंह के दर्शन करने को सरदार लोग दूर २ से आने लगे। अपने राज-कुमार को पाकर प्रजा की राज-भक्ति का मुरझाया हुआ पुष्प फिर से हरा-भरा हो गया। पन्ना ने राज-भक्ति की वेदिका पर अपने पुत्र का बलिदान करके अटल यश प्राप्त किया।

पाठ १९.

केथरायन डलगज़ की राज-भक्ति।

१५ वीं शताब्दि के आरम्भ में स्काटलेण्ड के ज़मीदार बड़े उपद्रवी हो गये थे और यदि राजा उनका ठीक शासन करता तो उससे ही लड़ने को तैयार हो जाते थे। सन् १४३५ के दिसम्बर मास में स्काटलेण्ड-पति महाराज

जेम्स ने पर्थ नगर के मठ में त्यौहार मनाया और फ़रवरी तक उसी मठ में उनका दरबार रहा। जेम्स को राज्य करते ११ वर्ष हो चुके थे और इस काल में उन्होंने ज़मींदारों का अन्याय और अत्याचार बहुत कुछ रोक दिया था; इसीसे वे लोग महाराज से चिढ़ गये थे और उनमें से एक सर रावर्ट ग्रेहेम नामक ज़मींदार राजा जेम्स का बड़ा विरोधी शत्रु बन गया था। वह जाकर स्काटलेण्ड के उत्तरीय पहाड़ी प्रान्त "हाईलेंड" में रहने और जेम्स का सर्व्वनाश करने के प्रयत्न में लगा।

यहाँ राजा जेम्स पर्थ में आनन्द मनाते और बीच २ में जब कोई राज-भक्त आकर उन्हें सावधान करता तो आप उसके कथन में विश्वास ही न करते थे। जेम्स के दरबार में ही कई विश्वासघाती थे जो या तो राज-भक्त पुरुषों को आपके पास पहुँचने ही न देते या उनके सावधान करने पर वे राजा को समझाकर उनकी शंका का समाधान कर देते थे।

एक बार सारे दिन तरह २ के उत्सव होते रहे। रात्रि को राजा अपने भवन में रानी से वार्तालाप कर रहे थे। रानी की सहचरियाँ उनके वस्त्राभूषण उतार उनके शयन की तय्यारी कर रही थीं। उन्हें क्या मालूम था कि उसी समय उन्हींके विश्वासघाती सेवकों की सहायता से राज-विरोधि-दल क़िले की खाई पर बड़े २ पटिये बिछाकर मार्ग तय्यार कर रहा है एवं किवाड़ों और खिड़कियों की चिटकनी तथा पचड़े निकाले जा रहे हैं। यह सब कार्य्य छिपे २ हो रहा था। राजा बैठे २ आनन्द से बातचीत कर रहे थे कि इतने में एक बुढ़िया ने आकर उनको सचेत करना चाहा। वह जानती थी कि शत्रुओं को मेरा हाल मालूम

हुए विना न रहेगा, और वे मेरी दुर्गति करके मेरे प्राण लेंगे; पर जान-बूझकर अपने राजा को सावधान न करना भी बड़ा पाप समझती थी; अतएव उसने प्रतिज्ञा की कि मैं प्राणों का मोह त्याग अपना कर्त्तव्य अवश्य पालूँगी। निदान उस बुढ़िया ने जैसे-तैसे महाराज के समीप सन्देश भेजा कि "मैं एक बड़े काम से क्षण भर के लिये आपसे एकांत में मिलना चाहती हूँ।" इसपर जेम्स ने आज्ञा दी कि आज इतनी रात को मुलाक़ात नहीं हो सक्ती, कल देखी जायगी।" यह सुन वह बेचारी निराश हो रोती २ चली गई।

महाराज हँस २ कर महारानी तथा उनकी सहेलियों से बातचीत कर रहे थे कि अकस्मात् नीचे चौक में हथियारों का शब्द सुनाई तथा मशालों का प्रकाश दिखाई दिया। महारानी की सहेलियाँ दरवाज़ा बन्द करने को दौड़ीं; पर हाय! उन्हें एक भी पचड़ा या चटकनी न मिली। यह देख राजा को सब पिछली चेतावनियाँ याद आईं; पर अब क्या हो सक्ता था। भागने के लिये मार्ग नहीं था। पास ही एक बड़ा सा चमीटा पड़ा था, उसीसे आपने लकड़ी के फर्श से एक पटिया निकाला और उस मार्ग से पटाव के नीचे उतर गये। इसी समय शत्रुओं का दल हाथ में नङ्गी तलवारें लिये आ पहुँचा। बीच में एक तरुण नौकर को पा उन दुष्टों ने उसको बड़ी निष्ठुरता से काट डाला।

केथरायन डलगज़ नाम की एक युवती ने देखा कि यदि शत्रु भीतर घुस आये तो राजा को भागने या छिपने का अवसर कदापि नहीं मिलेगा; अतएव वह दरवाज़ा बन्द करने को दौड़ी; पर उसमें की चिटकनी निकाल ली गई थी;

इसलिये उससे कुछ न बन पड़ा। इस युवती के हृदय में राज-भक्ति इतनी प्रबल थी कि वह अपने को बिलकुल भूल गई। उसे शारीरिक कष्ट का तनिक भी अनुभव न रहा। पचड़े के स्थान में उसने अपनी कोमल भुजा ही डाल दी। हाय! उस अबला की राज-भक्ति तो बहुत दृढ़ थी; पर भुजा तो अन्त में अस्थि-मांस की ही थी, सो भी एक सुकोमल अबला की। बाहर से वे घोर पापी दरवाजे पर धक्के देने लगे। एक ही दो धक्कों में वह भुजा टूटकर टुकड़े २ हो गई। वह कोमलाङ्गिनी भी अचेत हो भूमि पर गिर पड़ी। शत्रु भीतर आये और उस युवती की आदर्श राज-भक्ति का यह अभिनय देख ये चाण्डाल उसपर आघात करने लगे। ग्रेहेम ने गर्ज कर कहा कि "तुम लोग यह क्या करते हो, इस तरह समय नष्ट मत करो। राजा का पता लगाओ।"

इसके बाद उन दुष्टों ने किस तरह राजा का वध किया और किस तरह इस घोर पाप का भयङ्कर फल भोगा—इन सब बातों का उल्लेख करना व्यर्थ है। हमें तो केथराइन डगलस की आदर्श राज-भक्ति प्रकट करनी थी, सो कर चुके।

पाठ २०.

फ्लोरा मेकडानेल्ड।

स्काटलैंड के महाराज छठवें जेम्स इँगलैंड के भी राजा हुए और प्रथम जेम्स कहलाये। उनके स्टुअर्ट राज-वंश में बहुत दिन तक राज्य रहा। उनके वंशज द्वितीय

जेम्स अनेक कारणों से अपना राज्य त्याग फ्रांस भाग गये और उनके स्थान में उनके जामाता तृतीय विलियम इंगलैंड की गद्दी पर बैठे। इस समय में इँगलैंड में दो पक्ष हो गये और बहुत से अँगरेज़, स्काच और आयरिश प्रजागण द्वितीय जेम्स तथा उनके वंशजों को फिर से राज्याधिकार दिलाने के लिये सयत्न रहने लगे। यह आन्दोलन कई पीढ़ियों तक चला और सैकड़ों राज-भक्त प्रजागण इस पदच्युत राजवंश के प्रतिनिधियों को फिर से राज्य दिलाने के प्रयत्न में अपना सर्व्वस्व खो बैठे। निदान १७४५ में द्वितीय जार्ज के राजत्व-काल में पदच्युत परलोकवासी द्वितीय जेम्स के पोते राज-कुमार चार्ली (चार्ल्स एडवर्ड) छिपकर स्काटलैंड पहुँचे और उनके रूप, शीलादि ने लोगों पर और विशेषकर स्त्रियों पर ऐसा मोहिनी मन्त्र डाला कि बात की बात में उनके झण्डे के नीचे सैकड़ों स्काच सैनिकों तथा उच्चवंशीय नेताओं की भीड़ लग गई और उनके शुद्ध हृदयों में राज-कुमार के प्रति राज-भक्ति का स्रोत बहने लगा। राज-भक्ति के नशे में उन्मत्त हो स्काच सैनिकों ने पहले तो सर-कारी सेना को अनायास ही परास्त कर डाला और इँगलैंड में प्रवेश कर डर्बी तक पहुँच गये; पर जिन अँगरेज़ों के मिल जाने की उन्हें आशा थी वे इस विद्रोह में शामिल न हुए, साथ ही इनके पास तोपें भी न थीं। इन्हीं दो कारणों से राज-भक्त स्काच वीरों को हारना पड़ा।

अब तो राज-कुमार चार्ली के अभ्युदय का तारा एकाएक अस्त हो गया। उनके राज-भक्त सहायक महा विपत्ति में पड़ गये। अँगरेज़ सरकार ने राज-कुमार को पकड़कर अथवा उनका सिर काटकर लाने वाले को ३० सहस्र पौंड अर्थात् ४ लाख ५० हज़ार रुपया इनाम देने

का विज्ञापन निकाला और इसकी घोषणा देश भर में कर दी गई। यहाँ तो सरकारी राज-सैनिक कुमार की खोज में गाँव, नदी, जंगल, पहाड़ आदि स्थान छानने लगे, और यहाँ उन्हें पकड़ने के लिये साधारण स्त्री-पुरुषों को इतने बड़े धन का लालच दिया गया। ऐसी दशा में एक निस्स-हाय विदेशी का बचना बड़ा कठिन था; पर नहीं, देश का देश राज-भक्त था। धन के लोभ में पड़कर अपने भूत-पूर्व स्वामी की सन्तान को भयङ्कर शत्रुओं के हाथ में सौंपना इन स्वामि-भक्त स्काचों से नहीं बन सकता था। जो लोग राज-भक्ति के हवन-कुण्ड में अपने प्राणों तक की आहुति देने को तत्पर थे वे भला लोभ में पड़कर अपना धर्म्म छोड़ बैठें यह कैसे सम्भव था।

कई महीनों तक कुमार चार्ल्स जंगल-पहाड़ों में छिपे २ फिरे। उनके साथ थोड़े बहुत भक्त उनकी सेवा एवं रक्षा के लिये बराबर रहे। कभी तो इन लोगों को किसी गरीब लकड़हारे की कुटी में रात्रि के समय आश्रय मिलता और कभी खुले आकाश के नीचे स्काटलैंड की भयङ्कर शीत में शयन करना पड़ता था। ऐसे कष्ट और प्राण-संकट के समय में अपने निर्बल स्वामी को साथ देना कोई छोटा-मोटा कार्य्य नहीं था।

एक बार कुमार और उनके साथी जाकर एक द्वीप में छिपे। सरकारी सेना को यह भेद मालूम हो गया और उसने इस द्वीप को घेर कर यह आज्ञा दे दी कि कोई भी द्वीपवासी आज्ञा-पत्र पाये बिना वहाँ से बाहर न होने पावे। राज-कर्म्मचारियों को पूर्ण विश्वास हो गया कि अब शिकार हाथ से नहीं जा सकता। वास्तव में

प्रसंग बहुत कठिन था। ऐसे जाल में फँसकर निकल भागना असम्भव सा प्रतीत होता था; पर नहीं, पराक्रमी जीवों के शब्द-कोष में " असम्भव " शब्द ही नहीं पाया जाता।

मनस्वी कार्य्यार्थी गणयति न दुःखं न च सुखम्।

फिर, स्त्री—कोमलाङ्गिनी स्त्री—जिस बात को मन में धरती है उसे पूरा ही करके छोड़ती है। तभी तो कहा है—

"कहा न अबला कर सके, कहा न सिन्धु समाय।
कहा न पावक में जरै, काल काह नहिं खाय॥"

इस असहाय कुमार की यह शोचनीय दशा देख लेडी फ़्लोरा मेकडानेल्ड नाम की एक कुलवती ललना का कोमल हृदय दया से द्रवीभूत हो उठा। उसके हृदय में राज-भक्ति का स्रोत उमड़ आया। वह कुमार को सुरक्षित फ्रांस भेज देने के उपाय में प्राण-पण से लग गई।

"कार्य्यं वा साधयेयम्, शरीरं वा पातयेयम्"—ऐसी दृढ़ प्रतिज्ञा करके वह अपने अभीष्ट की सिद्धि के उद्योग में संलग्न रहने लगी। कुमार को स्त्री-वेश में रख उसने उन्हें अपनी दासी प्रसिद्ध किया और उसका नाम "बैटीबर्क" रख लिया। इसके बाद वह निडर होकर सरकारी दफ़्तर को गई और अपने तथा अपने एक दास और एक दासी, बैटीबर्क के नाम बाहर जाने के लिये आज्ञापत्र ले आई और नाव पर सवार हो स्काई नामक एक दूसरे द्वीप में अपने मकान को चली। कुमार का भेद खुल जाने का डर बहुत था, क्योंकि एक तो आप अच्छे ऊँचे-पूरे युवा थे, दूसरे आपकी चाल-ढाल सिपाहिआना थी। स्त्री-वेश में ऐसे पुरुष का छिपना बहुत ही कठिन था। कई बार लोगों

को सन्देह हुआ; पर लेडी मेकडानेल्ड ने बात बनाकर उसका समाधान कर दिया।

इस तरह राज-पुरुषों से घिरे हुए उस द्वीप से कुमार को अपने बुद्धि-कौशल द्वारा निकालकर उसने उन्हें एक डाकुओं के दल में मिला दिया और कई सप्ताह वे इनके साथ एक गुफा में रहे। कलोडन की लड़ाई से ठीक ५ मास बाद कुमार के मित्र एक जहाज़ लाकर उन्हें फ्रांस भेज आये और सबसे पीछे इसी लेडी मेकडानेल्ड ने उनके साथ भेंट कर उन्हें विदा किया। ऐसे तो उन निस्पृह स्काच राज-भक्तों में से प्रायः सभों ने अपनी अटल राज-भक्ति प्रदर्शित की; पर इस निरी अबला ने अपने को उन सबमें प्रधान सिद्ध कर दिखाया।

पाठ २१.

राजभक्ति में देशभक्ति।

हमारी समझ में तो राजभक्ति के साथ २ थोड़ी बहुत देशभक्ति भी हो सकती है। एक प्रजावत्सल राजा वा शासक को पाकर उसके आश्रय में रहने से देश को जो लाभ हो सकता है वह अन्यथा नहीं हो सक्ता।

पर्ज्जन्य इव भूतानामाधारः पृथिवीपतिः।
विकलेऽपि हि पर्ज्जन्ये जीव्यते न तु भूपतौ॥

संसार में आज तक ऐसा कोई राज्य नहीं हुआ जिसमें सारी प्रजा एकसी सुखी रहे और किसीको भी किसी प्रकार की शिकायत न रहने पावे। राज-शासन की परीक्षा करने के निमित्त यह देखना चाहिये कि (१) राजा और

उसके कर्म्मचारी प्रजाहित और प्रजा-मन-रञ्जन में दत्तचित्त रहते हैं अथवा नहीं? वे अपने स्वार्थ को गौण समझ प्रजा के स्वार्थ को प्रधान समझते हैं अथवा नहीं। प्रजागण की आर्थिक, नैतिक, राजनैतिक, शैक्षिक उन्नति के लिये शासक-गण कैसा प्रयत्न करते हैं? (२) अमुक राजा के शासन में न्याय तो अच्छा होता है? (३) किसीको अपने धर्म्म-कार्य्य करने में बाधा तो नहीं पड़ती है? हाँ, जिन लोगों ने अधर्म्म को धर्म्म समझ लिया है उन्हें तो शासक अवश्य ही रोकेगा और ऐसा अधर्म्माचारण न करने देगा; पर इस तरह प्रजा के किसी विशेष समुदाय के कल्पित धर्म्माचरणों में बाधा डालने से शासक दोषी नहीं समझा जा सक्ता। हमारे देश में ऐसे कई सम्प्रदाय हैं जिनको अपने धर्म्मा-चरण की पूर्ण स्वतंत्रता देने से धर्म्म के बदले अधर्म्म होगा। पुराने ठग अपने क्रूर व्यवसाय को धर्म्माचरण मानते और और समझते थे कि हम देवी के सच्चे भक्त हैं और जो लोग हमारे सदृश ठग नहीं हैं वे शक्ति-माता के वैरी हैं; अतएव उनको मारकर उनका धन छीन लेना मानो देवी को बलिदान चढ़ाकर तृप्त करना है। एक प्रकार से ठग जो संख्या में सहस्रों थे अपने को एक धार्म्मिक सम्प्रदाय समझते थे। अब देखना चाहिये कि क्या राजा ऐसे अधर्म्म-कार्य्य को धर्म्म समझ सक्ता है? क्या ठगों की इस हत्या की गणना धर्म्माचरण में हो सक्ती है? कदापि नहीं। जो राजा ऐसे दुष्कर्म्मों को धर्म्म मानकर उनके रोकने से हाथ खींचेगा वह अवश्य ही अपने कर्त्तव्य से विमुख ठहरेगा।

विधवा स्त्रियों को अपने मृत पति के साथ सती न होने देना हमारे धर्म्म में अत्याचार-पूर्ण हस्तक्षेप नहीं कहा जा सक्ता। कहावत है:—सौ में सती, लाख में जती—

सो जहाँ एक स्त्री समझ-बूझकर सती होती थी वहाँ ९९ के साथ बलप्रयोग किया जाता और वे "घर-मार सती" की जाती थीं। ऐसी दशा में यह भी निरी हत्या या आत्म-घात था। उसे रोकना अत्याचार कैसा?

इसी प्रकार के और कई कार्य्य थे जो धर्म्म-कार्य्य कहलाते; पर वास्तव में अधर्म्म-कार्य्य थे। बङ्गाल प्रान्त में जिस स्त्री के सन्तान नहीं होती थी वह यह मानता मानती थी कि यदि गङ्गा माता मुझे सन्तान का मुख दिखाने की कृपा करेगी तो मैं पहिला बालक उन्हें अर्पण करूँगी। इस मानता के अनुसार प्रति वर्ष अनेक बालक गङ्गासागर में फेंक दिये जाते थे। क्षत्रिय वा राजपूत लोग अपनी कन्याओं का वध करना धर्म्म नहीं तो अधर्म्म भी नहीं समझते थे।

एक दूसरी भयङ्कर प्रथा "करोहला" बनने की थी। किसी स्त्री को जब सन्तान नहीं होती थी तो वह मानता मानती थी कि प्रथम बालक होने पर मैं उसे "करोहला" बनाऊँगी। वह बालक जब इतना बड़ा होता था कि उसके विवाह का समय आता और वह सजकर दूल्हा बनता था तो उसकी माता रोते २ उसको सूचित करती थी कि "तू तो करोहला है।" बस, इसी दम वह घर से निकल जाता और वर्ष भर भ्रमण करते करते महादेव के पहाड़ पर चढ़ता और वहाँ से कूदकर अपने प्राण दे देता था। यद्यपि यह कार्य्य अच्छा नहीं कहा जा सकता; तथापि हम उस युवक की मातृ-भक्ति तथा मूर्खता-पूर्ण धर्म्म-निष्ठा की प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकते। इस देश में कभी ऐसे भी सुपुत्र होते थे जो अपनी माता के वचन-पालन में

आत्मोत्सर्ग करने से भी नहीं हिचकते थे। अब ऐसे आज्ञाकारी पुत्र तो शायद ही निकलें, पर ऐसे बहुत निकलेंगे जो तनिक सी तकलीफ़ होने पर माता-पिता को त्यागने में लेशमात्र सङ्कोच नहीं करते। वास्तव में करोहला होने की प्रथा अत्यन्त हेय और मूर्खता का एक ज्वलन्त दृष्टान्त थी। धर्म्म के नाम से मनुष्य-जाति ने कौन कौन से अधर्म्म नहीं किये? पर, धार्म्मिक तथा नीतिवान् राजा ऐसे मिथ्या विश्वासों को धर्म्म मान उनसे उत्पन्न होनेवाले अमानुषीय पैशाचिक कार्य्यों को रोके बिना नहीं रह सकता।

सारांश यह कि जो कार्य्य साधारण आचार-नीति के विरुद्ध हैं और जिनके थोड़े से उदाहरण हम ऊपर लिख चुके हैं उन्हें लोग अपना धर्म्म-कार्य्य ही क्यों न समझें; पर शासकगण उन्हें अवश्य रोकेंगे। हाँ, ऐसे धर्म्म-कार्य्य जिनसे किसी दूसरे को विशेष हानि नहीं उठानी पड़ती शासकों को नहीं रोकने चाहिये। जिस राजा के राज्य में अपने २ धर्म्म-कार्य्य करने की पूरी स्वतंत्रता है वह प्रजा की राज-भक्ति का पात्र अवश्य है।

प्रजा को यह भी देखना चाहिये कि विदेश से आने वाले शत्रु से तथा देश में ही उपद्रव-शील दुष्टों से, हमारी रक्षा करने में हमारा राजा या उसकी सरकार समर्थ है अथवा नहीं, और उसका दण्ड तथा शासन कैसा है। यदि यह उत्तम है और प्रजा के हित-साधन में वह तत्पर रहा है तो प्रजा का धर्म्म है कि वह राज-भक्त हो। वास्तव में विदेशी शत्रुओं तथा स्वदेशी दुष्टों के उपद्रवों से बचानेवाला राजा हमारा पूर्ण रक्षक होने से पिता के तुल्य है। उसका हिंसा-पूर्ण विरोध करने वाले अवश्य ही कृतघ्न

हैं। इस प्रकार की रक्षा करने वाले राजा के शासन में रहकर प्रजा बड़े सुख से अपना समय व्यतीत करती, उसकी दिनोंदिन सम्मृद्धि होती और वह अपनी योग्यता के अनुसार अवश्य ही उन्नति करती जाती है। शांति अर्थात् अमन-चैन सब प्रकार की उन्नति का मूल आधार है।

राज-भक्ति का यह अर्थ नहीं है कि हम निरे चापलूस बन जायँ और अपनी राजनैतिक तथा आर्थिक दशा के सुधारने का तनिक भी प्रयत्न न करें। सच्चे अङ्गरेज़ अधिकारी उन्हींका आदर भी करते हैं जो अवसर आने पर शिष्टाचार-पूर्व्वक अपनी सम्मति निडर हो प्रगट किया करते हैं। शिष्टाचार और बात है और निरी चापलूसी और। सरकार की इच्छा कदापि नहीं हो सकती कि हम लोग मन में तो कुछ और रक्खें और ऊपर से कुछ और कहें तथा जहाँ शुद्ध हृदय से सच सच सम्मति प्रगट करने की आवश्यकता हो वहाँ भी किसी शासक की हाँ में हाँ मिलाते जायँ।

सरकार ने जो हमें स्वत्व दिये हैं और धीरे २ हमारे योग्यतानुसार अन्त में उत्तर-दायित्व-पूर्ण शासन या स्वराज्य का वचन दिया है उसके अनुसार हम म्युनिसिपल कमिटियों, डिस्ट्रिक्ट कौन्सिलों, प्रादेशिक कौन्सिलों तथा व्यवस्थापिका सभा और राष्ट्र-परिषद् में अपने चुने हुए प्रतिनिधि जो भेजते हैं उसका मतलब यही है कि हमारे प्रतिनिधि सरकार के सन्मुख हमारे पूजनीय सम्राट् की भारतीय प्रजा के सच्चे वकील बनें और सरकार को निर्भय हो वही सम्मति निरी दलबन्दी को छोड़कर दें जिसे वे वास्तव में प्रजा के हित के लिये समझते हैं। सरकार ऐसे सच्चे वक्ताओं के कथन से अप्रसन्न नहीं हो सकती; क्योंकि उसे भी तो प्रजा-

हित ही प्रिय है। यदि कोई प्रतिनिधि, व्याख्यान-दाता वा पत्र-सम्पादक सरकारी कार्य्यों की समालोचना तीव्र से तीव्र शब्दों में करे, शिष्टाचार के नियमों का पालन करते हुए और सरकार की नेकनियती पर आक्रमण न करते हुए कुछ कहे तो सरकार उससे अप्रसन्न नहीं होती। स्वर्गीय गोखले, सर फीरोजशाह मेहता प्रभृति नेतागण सरकारी कार्य्यों की तीव्र समालोचना किये विना नहीं रहते थे; पर उसके कारण सरकार उनसे अप्रसन्न नहीं थी, प्रत्युत उनका पूर्ण सत्कार करती थी। पूर्ण राज-भक्ति-पूर्व्वक प्रजा-हित के लिये अपनी बुद्धि के अनुसार सार्व्वजनिक विषयों में निष्पक्ष सम्मति देना कोई बुरी बात नहीं है। यह भर सिद्ध होना चाहिये कि समालोचक ने जो कुछ कहा है वह राजा और प्रजा दोनों का हित समझकर कहा है।

हमने राज-भक्ति के विषय में यहाँ तक जो लिखा है वह सब प्राचीन आर्य्य सद्ग्रन्थों से लेकर ही लिखा है। तब का राज-प्रबन्ध जिस प्रकार का होता था अब का वैसा नहीं होता। आगे न तो प्रजा-प्रतिनिधियों को चुनकर कौंसिल ही बनाई जाती थीं और न उनमें क़ानून ही बनते थे। राजा अपने मंत्रियों तथा अमात्यों की सम्मति लेता तो था; पर तब आधुनिक रूप का प्रजातंत्र न था। अब वर्तमान काल में राजा को ईश्वरीय स्वत्व प्राप्त होना नहीं माना जाता। अब तो उसे भी क़ानून के अनुसार राज्य करना पड़ता है, वह निरंकुश नहीं होता। कई देशों में राजा नहीं होते, प्रजा-तंत्र होता है और किसी योग्य नेता को कुछ काल के लिये राष्ट्र-पति चुनकर काम निकाला जाता है। क़ानून के अनुसार शासन करनेवाले अच्छे राजा या राष्ट्र-पति का मान अब भी होता है; पर उनका अधिकार नियंत्रित रहता है। उनके

भी कई कर्त्तव्य माने गये हैं जिनको करते हुए वे जनता के सम्मान-भाजन हुआ करते हैं। अच्छे राजाओं के प्रति अब भी राज-भक्ति प्रदर्शित करना हमारा कर्त्तव्य है। अमेरिका, फ्रांस आदि देशों में जहाँ राजा नहीं होते वहाँ राष्ट्र-पति ही इस भक्ति का पात्र माना जाता है।

पाठ २२.

नागरिक-कर्त्तव्य।

हम अँगरेज़ी साम्राज्य के नागरिक हैं। अभी तक हम लोग देश-रक्षा का सारा भार सरकार पर ही छोड़े बैठे थे और सरकार भी इस कार्य्य को सहर्ष करती थी; पर गत महायुद्ध से हमको कई शिक्षाएँ मिली हैं जिनमें से स्वदेश-रक्षा के लिये सैनिक बनकर युद्ध-कला सीखना एक महत्व-पूर्ण शिक्षा है। सरकार ने भी इस बात को स्वीकार कर लिया है कि हम लोग अधिक २ संख्या में टेरिटोरियल सेना में भर्ती हों और सैनिक-शिक्षा प्राप्त करें। हमीं लोगों के आग्रह से सरकार ने यह क़ानून बनाया है। स्वयं-सेवक बनकर भारत-रक्षिणी सेना में भर्ती होकर स्वदेश-रक्षा के लिये रण-विद्या सीखना प्रत्येक भारतीय युवा का कर्त्तव्य है।

हमारे राजनैतिक नेता इस बात के महत्व को पहिले से ही समझे बैठे थे और सरकार से सदा यह स्वत्व माँगा करते थे। अब यह अधिकार सरकार ने हमें परिमित रूप में दिया है। विश्वविद्यालयों में यूनिवर्सिटी कोर या सैनिक-दल स्थापित हुआ है। जो मनुष्य देश-रक्षा सदृश

महत्वपूर्ण कर्त्तव्य से मुँह मोड़ेगा वह सच्चा नागरिक होने का दावा नहीं कर सकता और न अधिकार पाने का पात्र ही समझा जा सकता। बालको! तुम लोग इस सिद्धान्त को भलीभाँति समझ लो कि नागरिक बनने के लिये तुम्हें कई कर्त्तव्य करने पड़ेंगे और इन कर्त्तव्यों के पालन में स्वार्थ-त्याग किये बिना काम न चलेगा। देश-हित, स्वदेश-प्रेम आदि शब्दों का उच्चारण-मात्र कर लेने से और व्याख्यान देने से हम सच्चे देश-भक्त नहीं हो जाते; होंगे तभी जब अपने कर्त्तव्यों के पालन में स्वार्थ-त्याग करने के लिये कटिबद्ध रहेंगे। जिस तरह मनुष्य अपने आत्मीयों के हितार्थ जिनके साथ उसका प्रेमभाव रहता है, सब तरह के कष्ट सहने, उनकी सेवा में तन, मन और धन लगाने तथा अपना समय व्यतीत करने में सङ्कोच नहीं करता, उसी तरह समाज के हितार्थ त्याग करना भी उसका कर्त्तव्य है।

जिस तरह बाह्य शत्रु से स्वदेश-रक्षा करना प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है उसी तरह देश के भीतर शान्ति स्थापित रखने में सहायता देना भी कर्त्तव्य है। शान्ति भङ्ग करने का प्रयत्न करने तथा क़ानून के विरुद्ध कार्य्य करने वालों को दंड दिलाने में हमें कभी पीछे न हटना चाहिये। इङ्गलैंड आदि सभ्य देशों में सर्वसाधारण पुलिसवालों को अपना हितचिन्तक मित्र समझते हैं। ऐसा ही हमारे देश में भी होना चाहिये। पुलिस को समझना चाहिये कि हम जनता की रक्षा के लिये हैं, इसी कार्य्य का नमक खाते हैं और जनता को उनकी पूर्ण सहायता करनी चाहिये। किसी अपराध के विषय में हम जितना जानते हैं उतना पुलिस से कदापि न छिपावें और यदि हम अदालत में साक्षी देने के लिये बुलाये जायँ तो हमारा धर्म्म है कि वहाँ जाकर सत्य

होवें। पुलिस भी हमारी मित्र बनकर काम करे और सर्व-साधारण की विश्वास-भाजन बने।

पाठ २३.

समाज-सेवा।

हमारा जैसा सम्बन्ध सरकार से है वैसा ही समाज से भी है। दोनों से हम लाभ उठाते हैं; अतएव दोनों की यथाशक्ति सेवा करना हमारा कर्तव्य है। समाज-सेवा कई प्रकार से हो सकती है। हम यहाँ थोड़े से उदाहरण देकर दिग्दर्शन-मात्र कराते हैं।

शिक्षा-प्रचार।

हम देखते हैं कि जिन २ देशों में शिक्षा-प्रचार है वे देश उन्नति-शील हैं और उनके निवासी बहुत कुछ सुखी रहते हैं। अपने देश-भ्राताओं को शिक्षित बनाकर उन्हें सुख से समय व्यतीत करने के योग्य बनाना हमारा सबसे प्रथम कर्तव्य है। हमें शक्ति के अनुसार तन, मन और धन से शिक्षा-प्रचार में पूर्ण सहायता देनी चाहिये। बहुतेरे शायद यह समझते हैं कि यह कार्य्य सरकार का है, हम इसे क्यों करें। इसका उत्तर यह है कि सर्वसाधारण की सहकारिता रहने से ही सरकार इस कार्य्य को नियमित रूप से कर सकती है, अन्यथा नहीं। यदि शिक्षा का सारा कार्य्य सरकार ही अपने कर्मचारियों द्वारा करना चाहे तो अपार धन व्यय करने पर भी उतनी सफलता नहीं हो सकती जितनी सर्वसाधारण की सहायता से हो सकती है। विलायत में शिक्षा-प्रचार का अधिकांश सर्वसाधारण के हाथ में

है, सरकार इसमें सहायता भर देती है। हमारा कर्तव्य है कि हम मिलकर अपने गाँव या नगर में ऐसी सभा-समितियाँ स्थापित करें जो धन-संग्रह करके स्थानीय आवश्यकतानुसार हर तरह के शिक्षालय खोलें जिनमें कला-कौशल आदि सब तरह की शिक्षा दी जाया करे। साथ ही, पुस्तकालय, व्याख्यान-माला, साहित्य-परिषद् आदि के द्वारा हमें देश भर में ज्ञान का प्रकाश फैलाना चाहिये। हमारे बहुसंख्यक शिक्षित युवा पुरुषों को जो देशोन्नति की पुकार में अपना गला फाड़ा करते हैं कुछ स्वार्थ-त्याग करके शिक्षक का कार्य्य जन्म भर के लिये नहीं तो कुछ वर्षों के लिये स्वीकार कर लेना चाहिये जिससे शिक्षकों की कमी से उनके अधिकांश देश-बान्धव निरक्षर न रहने पावें जैसा आजकल हो रहा है। यहाँ तो हम सरकार से कहते हैं कि बहुसंख्यक पाठशालाएँ, कलाभवन, हाई स्कूल, कालेज और विश्वविद्यालय खोले जायँ और यहाँ मोटी फीस वा तनखाह पाकर धनी होने के लिये अधिकांश योग्य ग्रेजुएट वकालत या अन्य सरकारी नौकरी करने के लिये प्रयत्न किया करते हैं जिसका फल यह होता है कि सरकारी शिक्षालयों को भी योग्य शिक्षक नहीं मिलते, सर्व्वसाधारण के प्रबन्ध से चलने वाले शिक्षालयों का तो कहना ही क्या है। यदि हम सच्चे हृदय से देशोन्नति चाहते हैं, तो हमें सबसे पहिले शिक्षा-प्रचार में यथा-साध्य स्वार्थ-त्याग करते हुए शिक्षक बनकर अपने देश को विद्यान्धकार से मुक्त करना होगा।

यह नहीं कि हमारे देश में ऐसे शिक्षक हैं ही नहीं। स्वर्गीय मि० गोखले किस योग्यता के सज्जन थे सो तो किसीसे छिपा नहीं है। यदि आप देश-भक्ति को तिलाञ्जलि दे शिक्षक बनने के बदले वकील या सरकारी

कर्मचारी बनते तो अवश्य ही मृत्यु के समय लाखों रुपयों की सम्पत्ति छोड़ जाते; पर नहीं, आप सच्चे देश-भक्त थे; अतएव पूना के फ़र्गुसन कालेज में जिसका प्रबन्ध एक समिति के हाथ में है आपने १८ वर्ष पर्य्यन्त अधिक से अधिक ७५) मासिक वेतन से ही सन्तुष्ट रहकर शिक्षक का कार्य्य किया जिससे आप की वह कीर्त्ति हुई जो किसी करोड़-पति की भी न हुई होगी। सत्य कहा है:—

मनस्वी कार्य्यार्थी गणयति न दुःखं न च सुखम्।

उस कालेज में तथा उससे सम्बन्ध रखने वाले अन्य शिक्षालयों में जो डेकेन एजुकेशनल सोसायटी के प्रशंसनीय उद्योग से चल रहे हैं ऐसे ही स्वार्थ-त्यागी अध्यापक और शिक्षक थोड़े वेतन पर सच्ची देश-भक्ति का कार्य्य कर रहे हैं।

फ़र्गुसन कालेज के वर्तमान प्रिन्सिपल श्रीयुत परांजपे हैं। आपने विलायत के केम्ब्रिज विश्वविद्यालय में गणित की सर्वोच्च परीक्षा पास की है और सीनियर रेङ्गलर (Senior wrangler) कहलाते हैं। इस पदवी के लिये विलायती विद्यार्थी सदा लालायित रहते हैं, और उसे पाने वाले ऊँचे से ऊँचे पदों के पाने की आशा कर सक्ते हैं। श्रीयुत परांजपे ने जिस दिन यह परीक्षा पास की थी उस दिन बड़े बड़े शासकों ने तार द्वारा फ़र्गुसन कालेज को जिस-में आपने शिक्षा पाई थी सहर्ष बधाई दी थी। कहते हैं कि भारत-सचिव महोदय ने आपको भारतीय शिक्षा-विभाग में अध्यापक के पद पर नियुक्त करने की इच्छा प्रगट की थी जिसे स्वीकार कर लेने से आज आप कदाचित् २ हज़ार रुपयों के वेतन पर किसी सरकारी कालेज के प्रिन्सिपल होते; पर नहीं, आप भारत-माता के सच्चे

भक्त हैं; अतएव कहते हैं कि आपने यही उत्तर दिया कि जिस फ़र्गुसन कालेज ने मुझे इतना ख़र्च करके शिक्षा दिलाई है और जिसकी सेवा करने की प्रतिज्ञा मैं पहिले ही कर चुका हूँ उसमें ४०) मासिक वेतन लेकर काम करना मेरा कर्त्तव्य है। मैं आपके ४००) के आरम्भिक वेतन को स्वीकार नहीं कर सक्ता। धन्य है मि० परांजपे! धन्य है आपकी देश-भक्ति और स्वार्थ-त्याग!

गुरुकुल काँगड़ी के अध्यक्ष महात्मा मुन्शीराम ने भी जो अब संन्यासी हो जाने से स्वामी श्रद्धानन्द कहलाते है, अपनी वकालत छोड़ और इस तरह सैकड़ों की आमदनी पर लात मार शिक्षा-प्रचार द्वारा देश-सेवा का बीड़ा उठाया और अपनी प्रतिज्ञा पूरी की। श्रीदयानन्द एंग्लो वैदिक कालेज लाहौर के महात्मा हंसराज भी उस कालेज के अवैतनिक अध्यक्ष बने रहे। सेन्ट्रल हिन्दू कालेज, बनारस में भी कई स्वार्थ-त्यागी विद्वानों ने हमें ऐसा ही उच्चादर्श दिखलाया है। देश-हित-साधन का प्रथम सोपान शिक्षा-प्रचार ही है; अतएव हमारे नवशिक्षित बान्धव इस कार्य्य को हाथ में लेकर अपने देश की सच्ची सेवा कर सक्ते हैं।

हमारा यह मतलब नहीं है कि सबके सब ग्रेजुएट और मेट्रिक इसी काम में लग जावें और दूसरे कोई कार्य्य करें ही नहीं। ऐसा करने से भी लाभ के बदले हानि होगी। वकालत, व्यापार, डाक्टरी, सरकारी नौकरी सभी कार्य्यों को करते हुए मनुष्य देश-सेवा कर सक्ता है। इन कार्य्यों में धन एकत्रित कर वह उसे शिक्षा-प्रचार तथा देश-हित के अन्य कार्य्यों में लगा सक्ता है। कायस्थ पाठशाला नामक प्रयाग का एक प्रसिद्ध कालेज मुन्शी काशीप्रसाद नाम के एक वकील के ५ लाख के दान से बना

और चल रहा है। हिन्दू विश्वविद्यालय को स्वर्गीय पं० सुन्दरलाल आदि वकीलों ने लाख २ रुपयों का दान दिया है। बम्बई के विज्ञान-कालेज को दो चार धनाढ्य सेठों ने ही १४ लाख रुपया देकर चलाया है। स्वर्गीय सेठ टाटा के ३२ लाख के दान से विज्ञान-महा-विद्यालय (टाटा इंन्सिटयूट) बङ्गलोर में स्थापित किया गया है। एक बङ्गाली बैरिस्टर, श्रीयुत पालित तथा एक दूसरे बङ्गाली वकील दानवीर सर रासबिहारी घोष ने पन्द्रह २ लाख रुपये कलकत्ता विश्वविद्यालय को वैज्ञानिक-शिक्षा-प्रचार के लिये दिये हैं, जिस धन की सहायता से कलकत्ते का साइंस कालेज खोला गया है। इसी प्रकार और भी कई व्यापारियों तथा वकील आदि व्यवसायियों ने हज़ारों वा लाखों रुपये देश की शिक्षा-प्रचारिणी संस्थाओं को समय २ पर प्रदान किये हैं। हमारे नगर जबलपुर में स्वर्गीय श्रीसवाई सिंघई भोलानाथ तथा सिंघई नारायणदास ने अँग्रेज़ी शिक्षा से वंचित रहने पर भी निस्पृह भाव से कस्तूरचन्द हित-कारिणी हाई स्कूल और जैन बोर्डिङ्ग हौस, गोलबाज़ार, की विशाल इमारत बनवाकर अपने नगर की शिक्षा को बहुत कुछ सहायता पहुँचाई है। साथ ही, सिंघई भोला-नाथ जैन पुत्रीशाला के लिये १० सहस्र और हितकारिणी संस्कृत पाठशाला के लिये ५ सहस्र का दान कर गये हैं। मण्डला के राय बहादुर जगन्नाथप्रसाद चौधरी ने भी शिक्षा के लिये बहुत कुछ किया था।

इसीसे हम समझते हैं कि हमारे नये २ ग्रेजुएट बान्धवों को स्वर्गीय गोखले, वर्तमान परांजपे आदि भारतीय शिक्षकों का आदर्श अपने सन्मुख रखकर और थोड़े से वेतन से सन्तुष्ट रहकर जननी जन्म-भूमि की सच्ची

सेवा करनी चाहिये। जिन लोगों से यह न हो सके वे अन्य व्यवसायों द्वारा धनार्जन करके भी सच्ची देश-सेवा कर सक्ते हैं।

पाठ २४.

देश-हित के दूसरे दूसरे कार्य्य।

देश की वर्तमान दशा देखकर हम शिक्षा-को देशोन्नति का मूल साधन समझते हैं; पर शिक्षा-प्रचार से हमारा अभिप्राय केवल स्कूल और कालेज खोलना भर नहीं है, बल्कि जिन २ उपायों से हमारे देश-बान्धवों का ज्ञान-वर्द्धन हो सक्ता है उन सबको हम शिक्षा-प्रचार के अन्तर्गत मानते हैं। नगर २ और ग्राम २ में पुस्तकालय खोलना, प्रत्येक श्रेणी के सामयिक पत्रों का प्रचार करना, व्याख्यान-मालाओं का प्रबन्ध कर भिन्न २ ऐहिक और पारमार्थिक विषयों पर उपदेश दिलाना, श्रमजीवी स्त्री-पुरुषों के लिये नैश-पाठशालाओं का प्रबन्ध करना, किसानों को कृषि-सम्बन्धी विषयों पर उपदेश देना अथवा दिलाना, गश्ती पुस्तकालयों का सङ्गठन करना आदि कई कार्य्य ऐसे हैं जो गौण रूप से शिक्षा-प्रचार कहला सक्ते हैं। इन सब कार्य्यों के करने वाले अथवा कराने-वालों के साथ योग देनेवाले सच्चे देश-सेवक हैं।

जन-साधारण को हैज़ा, मलेरिया, प्लेग, राज-यक्ष्मा, शीतला आदि अनेक प्राण-घातक सांक्रामक रोगों से बचाना भी, हमारा सामाजिक कर्त्तव्य है। पहिले तो

सर्व साधारण को इन रोगों के होने के कारणों से परिचित कराना चाहिये. दूसरे जब इनका प्रकोप हो तो रोगी की सेवा-टहल तथा सहायता से मुँह न मोड़ना चाहिये। स्थान स्थान में सेवा-समितियों का सङ्गठन पहिले से ही रहना चाहिये। इन समितियों के सदस्यों को पूर्व-चिकित्सा, रोगी-वहन, रोगी-सेवा आदि बातों में अभ्यास करना चाहिये जिससे प्लेग आदि रोग फैलने पर सेवा-समिति नगर वा ग्राम-निवासियों को पूर्ण सहायता दिया करें। साथ ही, चन्दा करके स्वास्थ्य-रक्षक-केन्द्र, चिकित्सालय आदि खोले जायँ और मुर्दा ढोने तथा दाह वा दफन करने का प्रबन्ध रक्खा जाय। सेवासमिति के पुरुषों को आग बुझाना, डूबते हुए आदमियों को बचाना, बड़े २ मेलों वा उत्सवों में आये हुए निर्बल स्त्री-पुरुषों को सहायता देना, भूकम्प, अकाल, जल-बाढ़ आदि आपत्तियों के समय दीन-दुखियों की रक्षा करना आदि कार्य्यों की शिक्षा मिलनी चाहिये। यूरुप और अमेरिका में जिस प्रकार बाल-चर-संघ काम कर रहे हैं उसी प्रकार सेवा-समितियाँ इस देश में भी काम करें। जैसे २ स्त्री-शिक्षा की उन्नति होकर स्त्रियों में देश-सेवा का उत्साह बढ़े वैसे २ महिला-समितियाँ स्थापित की जायँ। ये समितियाँ अपनी बहिनों की उन्नति के कार्य्य अपने हाथ में लें और पतित स्त्रियों के उद्धार का बीड़ा उठावें जिससे सहस्रों युवतियाँ जो तनिक पैर फिसलने से घर से निकाल दी जाती और इस तरह आत्म-गौरव खो बैठने तथा कोई संरक्षक न रहने से पाप-पङ्क में फँसकर अन्त में बड़े २ कष्ट और विपत्तियाँ भोगती हुईं प्राण खो बैठती हैं वे शीघ्र ही सम्हल जायँ और अपना शेष जीवन सदाचारिणी बनकर व्यतीत कर सकें।

हम देश-हित के कार्य्यों का उल्लेख कहाँ तक करें? जो लोग उच्च शिक्षा पाकर देश-सेवा को अपना कर्त्तव्य-कर्म्म समझने लगे हैं उनके लिये देश-सेवा के कार्य्यों की कमी नहीं है। स्मरण रहे कि राजनैतिक कार्य्य देश-कार्य्य का एक अङ्ग-मात्र है; अतएव देश भर के शिक्षित-समाज का इसी एक कार्य्य में लगे रहना और अन्य प्रकार की देश-सेवा की ओर समुचित ध्यान न देना बुद्धिमानी नहीं है। देशोन्नति-रूपी गाड़ी को आगे बढ़ाने के लिये उसके सब चक्रों को एक साथ चलाना होगा, नहीं तो वह आगे न बढ़ सकेगी। शिक्षा की वास्तविक उन्नति के लिये समाज-सुधार, चरित्र-संगठन, जातीय-भाव आदि की एक सी आवश्यकता है। इनके अभाव में निरी राजनैतिक उन्नति का उद्योग निरा पानी पीटना है। जिस देश में भ्रातृ-भाव की बाधक अनेक रीतियाँ हैं, जिस देश में ऊँच-नीच, छूत-अछूत आदि के भाव लोगों की नस २ में भरे हैं, जिस देश में जाति-भेद की प्रबलता है और परस्पर सहानुभूति का अभाव है वह देश निरी राजनैतिक उन्नति करना भी चाहे तो नहीं कर सका। हिन्दू-मुसलमानों के झगड़े तथा अछूत जातियों का प्रश्न बना रहेगा तब तक सच्चे राष्ट्रीय भाव की स्फूर्ति न होगी; और उसके अभाव में हम लोग देश को अपना सब कुछ न समझकर अपने हिन्दू-मुसलमान तथा स्पृश्य-अस्पृश्यपन को प्रधान समझेंगे। हम सब राजनैतिक अधिकार अपनी अपनी जाति के हाथ में रखना चाहेंगे। इसीसे हमारा यह सिद्धान्त है कि देशकी सर्वाङ्ग उन्नति का प्रयत्न होना चाहिये। सम्पूर्ण देश में शिक्षा-प्रचार, समाज-सुधार, भ्रातृ-भाव की जागृति और कला-कौशल, कृषि, वाणिज्य तथा अन्यान्य औद्योगिक कार्य्यों द्वारा आर्थिक धन-सम्पत्ति की वृद्धि कर

लेनेसे हमारा देश राजनैतिक अधिकार पानेके योग्य बन सका है। जब तक हमारे देश-वासी विद्यान्धकार में पड़े दरिद्रता के शिकार बने हैं तब तक वे न तो अपने स्वत्वों को ही समझ सके और न अपने नागरिक-कर्त्तव्यों को; अतएव इस अन्धकार से उन्हें मुक्त करना, बाल-विवाहादि कुरीतिय को दूर कर उनके शारीरिक बल की वृद्धि करना और पुरु-षार्थी बनाना, देश-रक्षा के लिये उन्हें युद्ध-शील बनाना आदि देश-सेवा के अनेक कार्य्य हैं।

पाठ २५.

हमारी कमज़ोरियाँ।

आजकल स्वराज्य की प्राप्ति शिक्षित-समाज का परम ध्येय हो रहा है। ब्रिटिश सरकार ने भी पार्लीमेंट सभा में यह घोषणा कर दी है कि हिन्दुस्थान में उत्तरदायि-त्व-पूर्ण शासन स्थापित करना हमारा लक्ष्य है। इस घोषणा के अनुसार क़ानून बनकर शासन-सुधार का आरम्भ भी किया गया है और हम लोगों को कुछ थोड़े से अधिकार भी दिये गये हैं। हम लोगों में इन सुधारों के सम्बन्ध में चाहे कैसा ही मत-भेद हो; पर सबको यह स्वीकार करना पड़ेगा कि जब तक देश में एका का अभाव रहेगा और प्रत्येक जाति या धर्म्म के लोगों में अपनी २ जाति या धर्म्म का पक्षपात रहेगा तब तक हम स्वराज्य चलाने के योग्य नहीं हो सके। प्रत्येक हिन्दू-मुसलमान, ईसाई तथा अन्य धर्म्मावलम्बी को यह समझना होगा कि हम सब भारत-माता के पुत्र होने से भाई २ हैं, और हमारे हक़ तथा ज़िम्मे-

दारियाँ बराबर हैं। मेम्बरों के चुनाव के समय प्रत्येक मत-दाता को जाति और धर्म्म का तनिक पक्षपात न होना चाहिये, बल्कि यह देखना चाहिये कि प्रार्थियों में से कौन व्यक्ति आचरण, योग्यता, देश-सेवा, आदि गुणों की दृष्टि से सर्व्वसाधारण का प्रतिनिधि बनकर अपना कर्त्तव्य पालन करने के योग्य है। जो प्रार्थी इस प्रकार सबसे अधिक योग्य जँचे, जिसके विषयमें विश्वास हो कि यह स्वार्थ, हृदय-दौर्ब्बल्य आदि की प्रेरणा से अपने कर्त्तव्य-पथ को कदापि न त्यागेगा और अपनी बुद्धि के अनुसार निष्पक्ष हो वही मत देगा जिससे देश का कल्याण होगा वह चाहे हिन्दू हो चाहे मुसलमान, उच्च जाति का हो या चाहे अस्पृश्य जाति का, उसे प्रतिनिधि चुनने में तनिक भी सङ्कोच न होना चाहिये। जिस दिन हमारे भाव इस प्रकार निष्पक्ष हो जायँगे उस दिन हम लोक-तंत्र चलाने के योग्य बनेंगे।

क्या हम आज इस दर्जे को पहुँच गये हैं? क्या अस्पृश्य जाति के किसी भी व्यक्ति को जो शिक्षा आदि पाकर हमारे ही समान योग्यता रखता है अपने साथ बैठाने को हम तय्यार हैं, उससे हाथ मिलाने में हमें तनिक भी असमंजस नहीं है? थोड़े से सुधारकों की बात नहीं है, क्या देश के अधिकांश निवासियों के भाव ऐसे उदार हो गये हैं? मानना पड़ेगा कि ऐसा नहीं है। फिर अपने करोड़ों देश-बान्धवों को इस प्रकार पद-दलित रखकर हम ऐसी स्वतंत्रता किस बूते पर चाहते हैं जो उन्हीं देशों ने प्राप्त की है जिनमें इस प्रकार के भाव नहीं हैं, जिन देशों में जूता जोड़ने वाले का और एक दर्जी का लड़का प्रधान मंत्री या राष्ट्र-पति बन सकता है। साथ ही, हम लोगों में जाति-पक्षपात बहुत है। हम यही चाहते हैं कि बड़े २ पद, कौंसिलों से लेकर

म्युनिसिपल कमेटियों की मेम्बरी, आदि अधिकार हमारी जाति-वालों के ही हाथ में रहें। ये सब फूट बढ़ाने की बातें हैं। इनके रहते हम राजनैतिक स्वतन्त्रता नहीं पा सक्ते। ऐसे उदार भाव हम लोगों में तभी आ सक्ते हैं जब हम एकता के महत्त्व को समझ लें।

स्वदेश-प्रेम तो हममें सदा से रहा है; पर आगे स्वदेश का अर्थ बहुत सङ्कुचित था। इस देश के एक प्रान्त के अधिवासी अन्य प्रान्तों को अपना देश नहीं समझते थे। यदि किसी प्रयाग-निवासी से पूछा जाता कि आप छुट्टी में कहाँ जायँगे तो वह उत्तर देता है 'देश'। यदि फिर पूछा जाता कि आपका देश कौनसा है तो वह कहता कि प्रयाग से इतने कोस की दूरी पर अमुक ग्राम। यही हाल अन्य-प्रान्त-निवासियों का भी है। वे भी किसी विशेष स्थान को अपना देश समझते और उसे त्याग अन्यत्र नहीं जाना चाहते हैं। यदि अन्न-जल किसी दूसरे प्रान्त को ले जाता तो वे कहा करते हैं कि "हम विदेश में पड़े हैं।" ऐसे लोग जहाँ रहते हैं वह कई नगरों में परदेशी मुहल्ला कहलाता है। कुछ शिक्षित लोगों को छोड़ कोई सारे भारत-वर्ष को अपना देश नहीं समझता और न भिन्न २ प्रान्तों के निवासियों में इतना भ्रातृ-भाव ही पाया जाता है।

एक हिन्दुस्थानी बङ्गालियों, महाराष्ट्रों, तैलङ्गों आदि की बात तो दूर रही, बिहारियों, पञ्जाबियों, और मध्य-भारत तथा मध्य-प्रदेश-निवासियों तक को दूसरा समझता और वे भी उसे ऐसा ही समझते हैं। स्कूल की कक्षाओं में भी देखा जाता है कि बंगाली, महाराष्ट्र आदि विद्यार्थी जहाँ तक बनता है एक ही बेंच पर साथ २ बैठते हैं।

हर्ष की बात है कि अँगरेज़ी शिक्षा पाकर हमारा दृष्टिकोण बहुत कुछ बदलता जाता है और अब शिक्षित लोग सारे देश को स्वदेश समझने लगे और उसे भारत-माता कहकर उसके साथ प्रेम करने लगे हैं। जिन लोगों ने अँगरेजी नहीं पढ़ी वे भी अपनी मातृ-भाषा में प्रकाशित होने वाले सामयिक पत्र पढ़कर या विद्वानों से व्याख्यान सुनकर देश-भक्ति का अनुभव करने लगे हैं। यह एक शुभ लक्षण है; पर साथ ही अभी हमारे पुराने संस्कार बिलकुल चले गये हों सो नहीं हुआ, प्रान्तिक तथा जाति-विशेष का भाव अब भी दिखाई पड़ता है। अब भी जिन महाशयों को कोई अधिकार प्राप्त है वे अपने ही जाति-भाइयों का हित-चिन्तन अपना कर्त्तव्य समझते और दूसरी जाति-वालों के साथ अन्याय करके भी अपने भाइयों की भलाई करने का प्रयत्न करते हैं। चाहे यह स्वाभाविक भले ही हो; पर आदर्श भाव नहीं है। जब तक एक भारतीय दूसरे भारतीय को चाहे वह किसी भी जाति या प्रान्त का क्यों न हो अपना भाई न समझेगा और उसके साथ वैसा बर्ताव न करेगा तब तक न तो हम सच्चे देश-भक्त ही बन सके और न उदार-चरित ही माने जा सकते हैं। कहा है:—

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसां।
उदारचरितानान्तु वसुधैव कुटुम्बकम् ॥

अर्थात्, यह मेरा है और यह पराया है—इस प्रकार की गणना क्षुद्राशयों में होती है; पर जो उदार-चरित्र सज्जन हैं वे सारी वसुधा को अपना कुटुम्ब समझते हैं। भला यह नहीं हो सकता, तो अपने ही देश-भाइयों को तो ऊँच-नीच वा अपना-पराया न समझना चाहिये; क्योंकि

ऐसे अनुदार भाव हृदय में रखते हुए मनुष्यों में संघ-शक्ति नहीं आ सक्ती और जहाँ यह नहीं है वहाँ राजनैतिक जीवन भी सम्भव नहीं होता।

जब तक मनुष्य ठीक रीति से शिक्षित नहीं हुआ तब तक उसमें उदार भाव नहीं आते, भावों की संकीर्णता के कारण उसमें अपने-पराये का भेद बहुत रहता है, दूसरे धर्म्म तथा जाति के लोगों से घृणा न सही, पर साधारण मेल भी तो नहीं रहता। बात तो यह है कि शिक्षित तथा अर्द्ध-शिक्षित लोगों में साम्प्रदायिक भाव अत्यन्त प्रबल और राष्ट्रीय भाव निर्ब्बल रहते या रहते ही नहीं। हमारे शिक्षित नेता जिनके हृदयों में राष्ट्रीय भाव जागृत हो चुके हैं इसी प्रयत्न में रहते हैं कि इस देश में साम्प्रदायिक कलह न उठने पावे; पर साधारण जनता में विद्यान्धकार छाया रहने के कारण राष्ट्रीय भावों ने साम्प्रदायिक भावों पर विजय नहीं पाई। अभी लोग मिल-कर कार्य्य करने का महत्त्व नहीं समझे जिससे वे साम्प्रदायिक कलह से होनेवाली हानि का अनुभव नहीं कर सक्ते। जब तक हम देश की वेदी पर साम्प्रदायिकता का बलिदान करना न सीखेंगे, मिलकर देश-कार्य्य करने की बुद्धि हममें न आवेगी तब तक कुछ न होगा, और इस प्रकार के भाव तभी जागृत होंगे जब देश के अधिकांश स्त्री-पुरुष आवश्यक शिक्षा प्राप्त कर राष्ट्रीय भावों को ग्रहण करेंगे।

पाठ २६.

बाल-चर-संघ।

छोटे छोटे बालक या तरुण विद्यार्थी भी चाहें तो देश या समाज-सेवा कर सक्ते हैं। पाश्चात्य देशों में एक

संस्था है जिसे " ब्वाय स्कौट " संस्था (बाल-चर-संघ) कहते हैं। नगर २ और ग्राम २ में इस संस्था की शाखायें पाई जाती हैं। प्रत्येक दल एक वा अधिक स्कौट-मास्टरों के अधिकार में रहता है। उस दल को प्रति दिन कुछ समय के लिये कवायद और कसरत करनी पड़ती और तरह तरह के खेलों में जिनसे उत्तम चरित्र-सङ्गठन होता है भाग लेना पड़ता है। स्कौट-दल वाले बालक अपने शरीर एवं आत्मा की उन्नति में सदा लगे रहते और आरम्भ में सम्मिलित होने के पूर्व जो जो प्रतिज्ञायें करते उन्हें पूरी करने का प्रयत्न सदा करते रहते हैं। देश और समाज-सेवा के लिये अपने को उपयुक्त बनाना ही इनकी शिक्षा का उद्देश्य रहता है। इस सेवा के योग्य बनने के लिये इन्हें अपने शरीर को पूर्णतः बलिष्ठ और फुर्तीला बनाना पड़ता, शारीरिक परिश्रम करना पड़ता, फ़ौजी सिपाहियों के समान आज्ञा-पालन का अभ्यास करना पड़ता, शीतोष्ण आदि कष्टों को सहन करने का अभ्यास करना पड़ता और अच्छी अच्छी आदतें डालनी पड़ती हैं। प्रतिदिन कुछ न कुछ सेवा का कार्य्य करना वे अपना परम कर्त्तव्य समझते हैं।

इस बाल-चर-संघ के चलाने वाले जनरल सर बेडन पावेल हैं। बोअर-युद्ध के समय जब मेफ़िकिङ्ग नगर को शत्रु-दल ने घेर लिया था, ख़बर ले आना, सामान एकत्र करना, शत्रु को देखते रहना आदि कार्यों का भार वहाँ के बालकों तथा युवा पुरुषों को सौंपा गया था, और उन्हें ऐसी शिक्षा दी गई थी कि जो काम आगे सैनिकों से होना कठिन था वह इन छोकड़ों ने कर दिखाया था। यह देख जनरल सर बेडेन पावेल ने यह संस्था स्थापित की जिस की उपयोगिता से मुग्ध होकर युद्ध के बाद पाश्चात्य देशों में

उसका खूब प्रचार हुआ। इसका फल ऐसा सन्तोषदायक हुआ है कि गत भयङ्कर भारी युद्ध के समय स्कौटों से बहुत सहायता मिली। साथ ही, जो लड़के स्कौट-दल में भर्ती होते हैं उनका चरित्र-सङ्गठन ऐसी उत्तम रीति से हो जाता है और उनका संसारी व्यावहारिक ज्ञान इतना बढ़ जाता है कि वे चाहे कितनी ही कठिनाई में क्यों न पड़ें, किसी न किसी उपाय से उसे हल कर लेते हैं। एक साधारण शिक्षा पाये हुए मनुष्य को और एक स्कौट को किसी जङ्गल में छोड़ दीजिये। पहिले से शायद कुछ न बन पड़े और वह भूख-प्यास से अथवा किसी वन्य पशु का शिकार बन बैठे; पर दूसरा किसी न किसी उपाय से आत्म-रक्षा करता हुआ इस आपत्ति से बच ही निकलेगा। ऐसा क्यों? एक शिक्षित पुरुष तो प्राण गवाँ बैठे और दूसरा पहले के समान विद्वान् न होने पर भी किसी न किसी उपाय से बच जाय? इन दोनों में भेद कौन सा है? बालको! भेद इतना ही है कि पहला हमारे तुम्हारे समान निरी पुस्तकीय विद्या प्राप्त कर विद्वान् बना है; पर दूसरे ने संसार में तरह तरह की कठिनाइयों को झेलकर अपना निर्वाह करने की व्यावहारिक शिक्षा (अमली तालीम) पाई है।

पाठ २७.

स्कौट-शिक्षा।

स्कौटों को मिलनेवाली यह शिक्षा क्या है? इसका उत्तर विस्तार-पूर्वक देने से एक स्वतंत्र ग्रंथ बन जायगा इसलिये हम उसका वर्णन यहाँ संक्षेप में करते हैं।

बाल-चर-संघ के बालकों का मूल मंत्र है— "तय्यार रहो" (Be prepared) जिसका मतलब यह है कि अपने कर्त्तव्य-पालन में चाहे जैसी आपत्ति क्यों न झेलनी पड़े, यहाँ तक कि प्राणोत्सर्ग ही क्यों न करना पड़े, पर इसके लिये सदा तत्पर रहना चाहिये। अब देखना है कि प्रत्येक स्कौट के कर्त्तव्य क्या क्या रक्खे गये हैं। उनका उल्लेख हम नीचे करते हैं:—

स्कौट-व्यवस्था।

(१) ईश्वर और राजा के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन करना, अर्थात् ईश्वर-भक्त और राज-भक्त होना।

(२) परोपकार अर्थात् हर हालत में हर तरह के मनुष्यों को सहायता देना।

(३) स्कौट-व्यवस्था का पालन करना।

नियमावली।

(१) प्रत्येक स्कौट को अपनी आन का ख़्याल रखना होगा, अर्थात् उसे अपने को पूर्ण विश्वास-पात्र बनाना पड़ेगा। यदि उसका अफ़सर उसे कोई कार्य्य करने को दे तो वह शक्ति भर उसे किये बिना न छोड़े (ऐसा करने में चाहे प्राण ही क्यों न चले जायँ) या उसे करने का शक्ति भर प्रयत्न करे। असत्य बोलने या अपना कर्त्तव्य न करने वाला तुरन्त स्कौट-दल से अलग कर दिया जाता है। असत्य और काम-चोरी ऐसे अपराध नहीं हैं जो क्षमा किया जा सकें।

(२) प्रत्येक स्कौट को राज-भक्त, स्वामि-भक्त, सेवक पर कृपालु और मित्र-भक्त होना चाहिये, अर्थात्

इनकी सेवा वा सहायता में प्राणाहुति देने तक को तय्यार रहना चाहिये। इनकी सेवा वा सहायता में त्रुटि करना और इनके शत्रुओं से लड़ने को तय्यार न रहना स्कौट-धर्म्म से विमुख होना है। चाहे जैसा भय हो वा आपत्ति पड़े; उससे डरकर धर्म्म-विमुख न होना चाहिये।

(३) दूसरों की सेवा वा सहायता के लिये अपने को उपयोगी बनाना और परोपकार करने से कभी न चूकना भी बाल-चर का धर्म्म है। इसके पालन में पूर्ण स्वार्थ-त्याग करने के लिये तत्पर रहना चाहिये। अपना सुख, आराम, और प्राण तक देकर यह धर्म्म निवाहना पड़ता है। यदि वह कभी धर्म्म-संकट में पड़कर यह निर्णय न कर सके कि मेरा कर्तव्य क्या है तो उसे अपने मन से पूछना चाहिये और मन जैसा कहे वैसा करना चाहिये। दूसरों की प्राण-रक्षा और घायलों की मरहम-पट्टी इन दो कार्य्यों के लिये उसे निस्स्वार्थ भाव से सदा तय्यार रहना चाहिये। परोपकार का कम से कम एक कार्य्य इस दल के बालक को प्रतिदिन करना ही चाहिये।

(४) स्कौट-दल में शिक्षित होने वालों को ऊँच-नीच, अपना पराया आदि का ख़्याल न रखकर सबको अपने भाइयों के समान समझना और उनकी सहायता तथा भोजनादि से उनका सत्कार करना चाहिये। मनुष्य-मात्र को अपना मित्र और स्कौटों को भाई मानना उसका कर्त्तव्य है। उसकी दृष्टि में "वसुधैव कुटुम्बकम्" दिखाई देना चाहिये।

(५) प्रत्येक स्कौट दूसरों के साथ शिष्ट व्यवहार करता है और स्त्री, बालक, अपाहज, वयोवृद्ध आदि निर्ब्बल स्त्री-पुरुषों के साथ उसका व्यवहार और भी अधिक शिष्ट

होता है। वह इनकी सेवा वा सहायता के बदले किसी प्रकार का पुरस्कार नहीं चाहता।

(६) पशु-पक्षियों पर भी वह सच्ची दया करता, उन्हें कष्ट से बचाता और उन्हें ईश्वर की सृष्टि समझकर व्यर्थ उनके प्राण नहीं लेता।

(७) माता-पिता, पतरोल-अफ़सर और स्कौट-मास्टर की आज्ञा का पालन वह तुरन्त करता है। उसके विषय में वह किसी प्रकार की नुक्ताचीनी नहीं करता। यदि वह किसी आज्ञा को अनुचित वा व्यर्थ समझता है तो पहले उसका पालन करता, पीछे से आज्ञा देने वाले से उसके विषय में कह सक्ता है। जंगी मोहकमे में जिस प्रकार का शासन चलाया जाता है वैसा ही स्कौट-दलों में भी रहता है।

(८) स्कौट चाहे कैसा ही कठिनाई वा चिन्ता में क्यों न हो वह सदा हँस-मुख रहता और कभी मुँह लटकाकर नहीं बैठता। आज्ञा पाकर वह उसका पालन मुस्कराते हुए मुस्तैदी के साथ करता है, न कि रो रोकर। काम के बारे में शिकायत करना, झुनझुनाना, दुःख रोना, कोसना, गाली देना आदि को स्कौट महा अपराध समझता है। सहर्ष कार्य्य करना वह अपना कर्त्तव्य मानता है।

(९) ख़र्च में किफ़ायत करना भी स्कौट का कर्त्तव्य है। वह पैसा पैसा बचाकर जोड़ता और ज़रूरत पड़ने पर उसका उपयोग करता है। किसी दूसरे को ख़र्च में डालकर अपना निर्वाह करना वह अत्यन्त नीच कार्य्य समझता है। अपने संचित धन से दूसरों की सहायता करना भी वह अपना कर्त्तव्य समझता है।

(१८) वह मनसा, वाचा, कर्म्मणा पवित्र रहने का प्रयत्न करता है। कामुक विचारों को वह अपने हृदय में स्थान नहीं देता और अश्लील बातें कहनेवालों को घृणा की दृष्टि से देखता है। व्यभिचार से वह सदा दूर रहता और सच्चा ब्रह्मचारी होता है। इन्द्रिय-निग्रह उसका प्रधान कर्त्तव्य है।

पाठ २८.

स्कौटों की व्यावहारिक शिक्षा।

(१) स्कौटों को हर तरह की व्यावहारिक शिक्षा दी जाती है। उन्हें तरह २ के खेल इसलिये खिलाये जाते हैं कि उनका शरीर बलिष्ठ हो और उनमें कई नैतिक गुण आवें।

(२) उन्हें दूर २ तक मार्च करना, अपना सामान, बिस्तर आदि लेकर चलना, कपड़े धोना और इस्तिरी करना, अपना भोजन खुद पकाना, बर्तन साफ़ करना, आदि सिखलाया जाता है।

(३) दिन वा रात को दिशा-विदिशाओं का ज्ञान रखकर अपने निर्दिष्ट स्थान को पहुँच सकना, जंगलों में किस तरह रास्ता न भूलना, वन्य पशुओं के पद-चिह्नों को पहिचान कर लाभ उठाना, मौक़ा पड़ने पर लकड़ी काटकर पुल बना लेना आदि भी उन्हें आवश्यकतानुसार सिखला दिया जाता है।

(४) आकाश का अवलोकन कर आँधी, पानी आदि स्वाभाविक घटनाओं का अनुमान कर लेना, तैरना, नाव चलाना, वृक्षों तथा पर्व्वतों पर चढ़ने की युक्तियाँ

सीखना और अभ्यास रखना भी उनको सीखना पड़ता है।

(५) उन्हें सिगनेल देना, अर्थात् रात को लालटेन के इशारों से बातचीत करना और अपने को बचाते हुए ख़बर या चिट्ठी ले जाना भी सिखला दिया जाता है।

(६) अवलोकन द्वारा दूरी और उँचाई का अनुमान करने का अभ्यास भी उनको कराया जाता है। वे अपने शरीर का माप भी सीखते हैं।

(७) पेड़ काटकर गिराना, झोपड़ी तय्यार करना, डेरा खड़ा करना आदि की शिक्षा भी उन्हें दी जाती है।

(८) चिह्नों को देखकर पता लगाना, मनुष्यों के चेहरे देखकर उनके भीतरी भावों तथा आचरणों का अनुमान करना, मुर्दे के चिह्नों से मालूम करना कि यह कैसे और किस हथियार से मारा गया होगा और इसी प्रकार आँख, कान, नाक आदि इन्द्रियों का उपयोग करना स्कौट-शिक्षा का एक विषय है।

हम यहाँ बाल-चर-संघ अथवा स्कौट-संस्था पर कोई ग्रन्थ तो लिख नहीं रहे हैं; अतएव उसके उद्देश्यों तथा नियमों का दिग्दर्शन-मात्र करा देना हमारा उद्देश्य है। इतना लिखने से पाठकगण देख सक्ते हैं कि जो स्कौट-दल में भर्ती होकर स्कूल में पढ़ने-लिखने के सिवा कुछ समय ऐसे कार्य्यों में लगाते और इस प्रकार की व्यावहारिक शिक्षा पाते हैं उन्हें एक तो कुकर्मों के लिये समय नहीं मिलता, दूसरे उनके आदर्श बहुत ऊँचे हो जाते और तीसरे उनकी शारीरिक उन्नति होकर उन्हें उत्तम प्रकार से नैतिक एवं

व्यावहारिक शिक्षा मिलती है, और वे स्वावलम्बन भी भली भाँति सीख लेते हैं। इस प्रकार की शिक्षा पाये हुए बालक अवश्य ही बड़े उपयोगी नागरिक हो सक्ते हैं।

हमारे देश में यह संस्था अभी थोड़े ही काल से स्थापित हुई है और स्कूलों के विद्यार्थियों में ही इसका प्रचार है। प्रत्येक धर्म्म और जाति के बाल-चर एकत्र होकर सहकारिता-पूर्वक कार्य्य करते हैं, जिससे गोरे, काले, हिन्दू-मुसलमान आदि का भेद-भाव दूर होकर छुटपन ही से बालचरों में इस उत्तम भाव का उदय होता है कि हम सब भिन्न २ धर्म्मों तथा जातियों के लोग भारतवासी होने से भाई २ हैं। हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य के लिये जो इतना आन्दोलन हो रहा है वह इस संस्था की वृद्धि से अनायास ही स्थापित हो सक्ता है। हमारे बालकों तथा युवा पुरुषों को ऐसी शिक्षा मिलने से ही इस देश का उद्धार सचमुच हो सकेगा। प्रत्येक देश-भक्त को इस उपयोगी संघ की उन्नति में अपना समय लगाकर उद्योग करना चाहिये। यह कार्य्य एक सच्ची देश-भक्ति का कार्य्य है।

"एकहि साधे सब सधै, सब साधे सब जाय"—यह बहुत ही ठीक उक्ति है। जिस प्रकार पेड़ की जड़ में पानी देने से पूरे पेड़ को लाभ होता है और पत्तों २ पानी देना असंभव ही नहीं, निरी मूर्खता है उसी प्रकार यदि हमारे भावी नागरिकों के चरित्रों का सङ्गठन बालकपन से किया जाय तो हमारे सभी उद्देश्य पूर्ण हो सकते हैं; क्योंकि हममें चरित्र-बल न होने से ही हमारी यह दशा है। अब चरित्र-बल की प्राप्ति के लिये इस प्रकार की शिक्षा निस्सन्देह बहुत लाभदायक होती है।

देखिये, सेवा-समितियाँ ही कैसा कार्य्य कर रही हैं। इसमें सम्मिलित होने वाले मृत्यु से भी नहीं डरते। कुछ वर्ष पूर्व आगरे के भयंकर प्लेग के समय इसी रोग से एक दो स्वयं-सेवकों की मृत्यु हो जाने पर भी समिति ने द्विगुण उत्साह से कार्य्य किया। ये वीर रात २ दिन की लाशों को उठाकर मिट्टी देते और हर तरह से भय-त्रस्त दीन-दुखियों की सहायता करते रहे। कुम्भादि बड़े २ मेलों में बाल-चर तथा सेवा-समितियों के स्वयंसेवक जनता की कैसी सेवा करते हैं? निर्बल अबलाओं को स्नान करा लाना, रोगियों को अस्पताल ले जाना और वहाँ उनकी सेवा करना, डूबते हुए लोगों को बचा लेना, भूले-भटके बालकों का पता लगाकर उनके अभिभावकों के सुपुर्द करना, जल-बाढ़ की आपत्ति के समय हर तरह से लोगों की प्राण-रक्षा करना—ये सब इनके कार्य्य हैं।

पाठ २९.

देश-प्रेम और स्वदेश-भक्ति।

"जिसको न निज गौरव तथा निज देश का अभिमान है।
वह नर नहीं नर-पशु निरा और मृतक समान है॥"

"जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।"

अर्थात् जननी और जन्मभूमि स्वर्ग से भी अधिक उत्कृष्ट है। जन्मभूमि से अमुक गृह अथवा अमुक ग्राम का अर्थ न लेकर पूरे भारतवर्ष का अर्थ लेना चाहिये। एक कवि की उक्ति है—क्या कोई ऐसा भी मनुष्य होगा जिसकी आत्मा इतनी निर्जीव हो कि वह यह न कहे कि यह मेरा

देश है जिसमें मैंने जन्म लिया है? सभी सभ्य जातियाँ अपने २ देश पर न्योछावर होती हैं। उन्हें इस बात का बड़ा अभिमान होता है कि हम अमुक देश के वासी हैं और वे अपने देश को उन्नति के शिखर पर देखना चाहती हैं। उन्हें स्वतंत्रता-पूर्व्वक स्वराज्य चलाना भी परम प्रिय होता है। इसमें सन्देह नहीं कि प्रत्येक जाति की उन्नति के लिये स्वतंत्रता और स्वराज्य की परमावश्यकता होती है; पर जब तक उस जाति में एकता के भाव नहीं रहते, प्रत्येक व्यक्ति में जातीय भावों का उदय नहीं होता तब तक न तो वह स्वतंत्र हो सकती है और न उसे स्वराज्य ही मिल सकता है।

देश-सेवा प्रत्येक देशवासी का परम कर्तव्य है। हम भारतवासियों को शीघ्र ही उस शुभ दिन के लाने का प्रयत्न करना चाहिये जिस दिन ब्रिटिश-साम्राज्य के अन्य आत्म-शासित भागों के साथ हमारा प्रिय देश भी समान आसन पर विराज सके। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये हमें बहुत तय्यारी करनी होगी। बाह्य आक्रमणों से उसकी रक्षा करने के लिये हमें सिपाही बनना होगा, नाविकविद्या में निपुणता प्राप्त करनी होगी, भौतिक विज्ञान द्वारा नये २ आविष्कार करनेवाले विज्ञान-वेत्ता उत्पन्न करने होंगे और साथ ही अपनी प्राचीन सभ्यता और आर्य्य-धर्म्म के सिद्धान्त रक्षित रखने होंगे।

स्वदेश-प्रेम के दृष्टान्त।

राणा प्रताप की स्वदेश-भक्ति।

मेवाड़ाधिपति "हिन्दुवां सूरज" वीर-चूड़ामणि राणा प्रताप का नाम इस भारत में किसने न सुना होगा? हमने पाठ १६ में भामाशाह की आदर्श राजभक्ति का वर्णन

करते हुए राणा प्रताप की अटल देश-भक्ति का भी कुछ वर्णन किया है। एक दो नहीं २५ वर्ष इस वीर-शिरोमणि ने जंगल और पहाड़ों में भटककर बड़े २ कष्ट सहे, घास के बीज की रोटियाँ खाकर अपने तथा अपने प्रिय कुटुम्बियों की रक्षा की, घास-पत्तों की शय्या पर पौढ़कर रातें बिताईं; सो भी सुख की नींद नहीं ले पाये, शाही फ़ौज के पहुँच जाने की चिन्ता लगी ही रहती थी। ये सब कष्ट सहने का कारण? वही अगाध स्वदेश-प्रेम। हमारा मेवाड़ स्वतंत्र रहे, हमारे आर्य्य-धर्म्म की ग्लानि न होने पावे, पवित्र राजपूत रक्त वैसा ही पवित्र रहा आवे, अन्य रक्त का मिश्रण उसके साथ न होने पावे—इन्हीं उच्च हिन्दू ध्येयों की रक्षा के लिये राणा प्रताप तथा उनके राजपूत वीरों ने इतने कष्ट उठाये, और अन्त में अपनी प्रतिज्ञा पूरी होते देखी। चित्तौर में राजधानी तो न रह सकी; पर देश स्वतंत्र रहा।

छत्रपति शिवाजी की देश-भक्ति।

भारत के अन्तिम देशभक्त वीर शिवाजी थे। औरङ्गज़ेब के असह्य अत्याचार को देख इस हिन्दू वीर ने कम से कम महाराष्ट्र देश में स्वतंत्रता का युग फिर से लाने का प्रयत्न प्राण-पण से किया और २० वर्ष से ऊपर मुग़ल-सेना का सामना करते हुए औरङ्गज़ेब की विशाल शक्ति को वह धक्का पहुँचाया जिसके बाद मुग़ल सत्ता फिर न उठ सकी।

ज़ोन डार्क उर्फ़ जोन आव् आर्क।

इङ्गलैंड के राजा छठवें हेनरी के राजत्व-काल में अँगरेजी सेना फ्रांस देश में लड़ने गई थी। फ्रांसीसी निता-

न्त निर्जीव हो रहे थे। न तो उनमें उत्साह रह गया था और न अपनी शक्ति में विश्वास। अँगरेज सेनापति ड्यूक आव वेडफ़ोर्ड ने सन् १४२८ में आर्लियन्स नगर को घेर लिया। ऐसा मालूम होने लगा कि फ्रांस पर अँगरेजी सत्ता होने में देरी नहीं है। स्वदेश-भक्त फ्रेंच बहुत कातर हुए। स्वदेश एवं जातीय स्वतंत्रता की रक्षा न कर सकने से वे बड़े दुःखी थे। इतने में एक बड़ी विचित्र घटना घटित हुई जिसका संक्षिप्त विवरण हम नीचे देते हैं:—

डामरेमी ग्राम से जीन डार्क नाम की एक किसान की कन्या फ्रांस के राजा चार्ल्स की छावनी में पहुँची। यह एक विचित्र लड़की थी। देश को बड़े संकट में देख दिन-रात उसे शान्ति न थी। सदा चिन्तित रहने से वह जागते समय भी देशोद्धार के स्वप्न देखा करती थी। निदान उसे ऐसा प्रतीत हुआ मानो ईश्वर की आज्ञा है कि मैं देश का उद्धार करूँ। उसने इस विचार को ईश्वरीय प्रेरणा समझा, और गाढ़ स्वदेश-प्रेम की उमंग में अपनी निर्बलता को भूल वह अपने राजा चार्ल्स की छावनी को चल पड़ी। मार्ग में बड़े २ संकट थे, देश में शत्रु की सेना घूमती फिरती थी; पर इस परम देश-भक्ता युवती ने इन सब भयों की तनिक भी परवाह न की और अन्त में राजा के पास जा पहुँची। जब चार्ल्स से उसकी भेंट हुई तो उसने निवेदन किया कि "मैं यहाँ ईश्वर की प्रेरणा से आई हूँ; आप मेरे साथ अपनी सेना कर दीजिये जिससे मैं अंगरेजी सेना को आर्लियन्स से हटा दूँ और आपको रीम्स नगर ले चलकर आपका राज्याभिषेक कराऊँ जैसा फ्रांस के राजाओं का सदा से होता आया है।" इस युवती की बातचीत तथा उसके

मुख-तेज से राजा को विश्वास हो गया और उसने उसका निवेदन स्वीकार कर लिया। जौन डार्क फ्रेंच सेना को लिये आर्लियन्स के समीप पहुँची। उसके स्वदेश-प्रेम तथा अगाध उत्साह को देख फ्रेंच सेना में भी वैसा ही उत्साह उमड़ उठा। फ्रेंच सिपाही स्वदेश को उसीकी दृष्टि से देखने लगे। मातृभूमि के ऊपर अपने प्राण न्यौछावर करने का मंत्र उससे लिया। कुछ काल के लिये फ्रेंच सेना स्वदेश-प्रेम के रंग में रँग गई। उसे जौन डार्क के वचनों में दृढ़ विश्वास हो गया और वह अपरेल १४२९ में आर्लियन्स के समीप जा पहुँची। बड़ी लड़ाई हुई। अन्त में ३ मई सन् १४२९ को अँगरेजी सेना आर्लियन्स नगर का घेरा उठाकर भाग गई।। स्वदेश-प्रेम ने निर्जीव फ्रेंचों को सियार से सिंह बना दिया। शतवर्षीय युद्ध में अँगरेजों ने फ्रांस का जीता था वह सब इसके बाद धीरे हाथ से निकल गया।

जौन डार्क के नेतृत्व में फ्रेंच सेना ने पेटे की लड़ाई में आधी अँगरेजी सेना नष्ट कर डाली। इसके बाद रीम्स नगर में सप्तम चार्ल्स का राज्याभिषेक हुआ। पर, हाय! उन दिनों में मूर्खतान्धकार छाया हुआ था। लोगों ने जौन को जादूगरनी समझकर अँगरेजों के हवाले कर दिया। उस पर जादू करने का अपराध लगाया गया और वह जीती जला दी गई। केवल १८ वर्ष की अवस्था में देशोद्धार करके इस किसान युवती ने अपने प्राण देश के लिये अर्पण कर दिये।

भारतवर्ष पर गुप्त-वंशीय सम्राट् कुमार की छत्र-छाया है। प्रायः समूचे देश पर उनका अधिकार है। ५ वीं

ईस्वी शताब्दि के मध्य काल में इस आर्य्यावर्त पर पुष्य-मित्रीय और हूणों के आक्रमण हुए। कुमारगुप्त तो अपना सारा पुरुषार्थ भूल इन्द्रलेखा नाम की एक नर्तकी की बेटी अनन्ता को अपनी पटरानी बना विषय-सुख में मग्न थे; पर उनके युवराज स्कन्दगुप्त तथा महाराज-पुत्र गोविन्दगुप्त जो कुमारगुप्त के भाई थे अपने कर्त्तव्य को नहीं भूले थे। मगध-साम्राज्य को, उससे बढ़कर पितृ-भूमि आर्य्यावर्त को बर्बर हूणों के चरणस्पर्श से कलङ्कित न होने देना और साम्राज्य की प्रजा को उनके अत्याचार से रक्षित रखना वे अपना धर्म्म मानते थे। इसके पालन में उन्हें अपने प्राणों का तनिक भी मोह न था।

ये दोनों वीर असंख्य मगध सेना लेकर हूणों को रोकने के लिये सीमान्त को गये थे। वाल्हीक नगर के समीप वाल्हीका नदी के किनारे सीमान्त से आया हुआ एक पहाड़ी मार्ग नदी-तट पर अन्त होता है। इसी मार्ग से भारतवर्ष पर आक्रमण करने वाली पारसीक, शक, हूण आदि अनेक जातियों ने और अन्त में मुगल जाति ने इस देश में प्रवेश किया था। इसी से यह उत्तरा पथ का द्वार समझा जाता था।

इस प्रवेश-द्वार की रक्षा के लिये एक सहस्र सवार वहीं छावनी डाले पड़े थे। वृद्ध महाबलाधिकृत (प्रधान सेना पति) अग्निगुप्त स्वयं इसकी रक्षा कर रहे थे। एक दिन अकस्मात् उन लोगों को एक सवार उस मार्ग से आता दिखा। मागधी सवारों को देख वह लौटकर भागा और पहाड़ियों में अदृश्य हो गया। बूढ़े सेनापति अग्निगुप्त को सन्देह हुआ कि हो न हो यह हूण है, अतएव मागधी सेना

सीमान्त में अवश्य परास्त हुई है, नहीं तो यह बर्बर इतनी दूर आने का साहस कैसे करता। अवश्य ही हूण सेना समीप ही है।

निदान अग्निगुप्त ने ५०० सवार तो उसका पता लगाने के लिये आगे भेजे और ५०० अपने साथ रख प्रवेश-द्वार की रक्षा के लिये कमर कस ली। उन ५०० को खड़ा कर आपने उन्हें बहुत समझाया कि तुममें से जो २ चाहें लौट जायँ, क्योंकि हम लोग असंख्य हूण सेना से लड़कर जीतने की आशा नहीं कर सकते, अवश्य ही मारे जायँगे। पर प्रवेश-द्वार की रक्षा करना या उसी रक्षा के लिये लड़ते २ मर जाना हमारा कर्त्तव्य है; इसलिये हम पितृ-भूमि की सेवा में आत्म-बलि देने को तय्यार हैं। तुममें से जो ऐसा न कर सके वह अपने प्राणों को लेकर वाल्हीक नगर को चला जाय। पर जैसा सेनापति था वैसे ही सिपाही थे। उनमें से एक भी नहीं लौटना चाहता था। सबके सब इस देश-प्रेम-रूपी अग्नि-कुण्ड में आहुति देने को तय्यार थे।

ये ५०० मागध वीर अपने वृद्ध सेनापति के साथ हूण सेना की प्रतीक्षा करने लगे। कुछ ही देर बाद हूण सेना टिड्डी दल के समान पहाड़ियों पर से आ पहुँची। जब उन लोगों ने देखा कि मुट्ठी भर भारतीय लड़ने को साम्हने खड़े हैं तो पहिले तो उन्हें आश्चर्य्य हुआ, फिर जब उन्हों ने देखा कि बात यही है, अधिक सेना नहीं है तो वे गरजते हुए वीरों पर आ टूटे। इन क्षत्रिय वीरों ने अपने रण-कौशल और बहादुरी से उनके छक्के छुड़ा दिये। असंख्य हूण इन मुट्ठी भर योद्धाओं के आक्रमण से कुछ दूर हट गये; पर क्षण भर के लिये ही। निदान घमासान युद्ध होते

होते सब क्षत्रिय वीरों ने अपनी मातृ-भूमि की रक्षा करते २ वीर-गति पाई। सेनापति अग्निगुप्त भी बुरी तरह घायल हो मृतकों के ढेर में दब गये। स्कन्दगुप्त आदि ने जब लाशें उठाकर उन्हें ढूँढ़ा तो देखते क्या हैं कि गरुड़-ध्वज नामक मागधी निशान को आप अपने शरीर में लपेटे हैं और वह आपके रक्त से रंजित हुआ है। अग्निगुप्त इस आर्य्यावर्त्त के प्रवेश-द्वार की रक्षा तो न कर पाये, पर साम्राज्य की ध्वजा उन्होंने बर्बर हूणों के हाथ न लगने दी।

इससे बढ़कर स्वदेश-प्रेम क्या हो सक्ता है कि मनुष्य स्वदेश-रक्षा में अपने प्राण दे दे?

पाठ ३०.

वयोवृद्ध स्त्री-पुरुषों का सत्कार।

अँगरेज़ी में कहावत है कि "श्वेत केशों का मान करना उचित है"—"Grey hairs ought to be respected." हिन्दू मुसलमान सभी इस देश में सयानों वा बुज़ुर्गों को मानते आये हैं। मनु कहते हैं:—

"अभिवादन-शीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः
चत्वारि तस्य वर्द्धन्त आयुःप्रज्ञायशोबलम्।"

अर्थात् जो "मनुष्य सदा सयानों को नमन करता और उनकी सेवा में तत्पर रहता है उसके ये चार—आयु, प्रज्ञा (बुद्धि), यश और बल बढ़ते हैं।" बहुतेरों को कहते सुना है कि "क्या बूढ़े गधे को नमन करना चाहिये?" नहीं,

इसकी आवश्यकता नहीं है। यहाँ मनुष्यों की बात है; पशुओं की नहीं। स्मरण रहे कि पुरानी रीतियों में बहुधा बड़ा रहस्य रहता है, जैसा कि इस वृद्ध-सत्कार के उपदेश में है। कौन नहीं जानता है कि जैसे २ मनुष्य बड़ा होता जाता है, वैसे २ उसके अनुभव और उससे उत्पन्न होने वाले ज्ञान की वृद्धि होती है। निरी पुस्तकों में पढ़ी हुई विद्या से मनुष्य बुद्धिमान् नहीं बन सक्ता। देखने में आता है कि कई व्यावहारिक प्रसंगों पर एक निरक्षर वयोवृद्ध मनुष्य जितनी समझ से काम करता है उतनी समझ ग्रेजुएटों में नहीं पाई जाती है। संसार का अनुभव ही इसका कारण है। बूढ़े सयानों के पास और नहीं तो संसारी ज्ञान का ख़ज़ाना तो रहता है जिसके द्वारा वे छोटों का बड़ा उपकार कर सक्ते है। सयानों का धर्म्म है कि वे अपने अनुभूत ज्ञान को अपने से छोटों के हित में लगावें और छोटों का भी यह धर्म्म है कि वे सयानों का आदर कर उनमें श्रद्धा रक्खें।

खेद की बात है कि दिनोंदिन लोग अपने देश के पुराने व्यवहार तथा उच्च शिष्टाचार को भूलते जाते हैं। हम देखते हैं कि आजकल के बच्चे और तरुण जन सयानों की परवा नहीं करते। आगे छोटे बड़ों के साम्हने बड़ी गम्भीरता से रहते और उनके सन्मुख किसी प्रकार का स्वच्छन्द व्यवहार नहीं करते थे। पति-पत्नी, पिता-पुत्र, माता-पुत्र अपने बड़ों सयानों के सन्मुख एक दूसरे से तक बलाते नहीं थे। तरुण पुरुष उनके सन्मुख तम्बाकू नहीं पीते थे और न हंसी-दिल्लगी करते थे। सयानों का नाम लेना भी अशिष्ट व्यवहार समझा जाता था।

पाठ ३१.

माता-पिता के साथ बर्ताव।

प्रत्येक धर्म्म में संतान को यही शिक्षा दी गई है कि माता-पिता की आज्ञा पालने के लिये उन्हें सदा तय्यार रहना चाहिये और उसके विषय में किसी तरह का सन्देह न करना चाहिये। ऊपर कहा है:—"आज्ञा गुरूणां ह्यविचारणीया", अर्थात् गुरुजनों की आज्ञा का पालन तुरंत करो और उसके उचित अथवा अनुचित होने का विचार मन में न लाओ। रामायण में लिखा है—

अनुचित उचित विचार तजि, जे पालहिं पितु-बैन।
ते भाजन सुख सुयश के, बसहिं अमरपति ऐन॥

बहुधा देखने में आता है कि स्वाभाविक प्रेम के वश माता-पिता अपनी सन्तान के हितचिंतक ही हुआ करते हैं; अतएव जान-बूझकर कभी ऐसी आज्ञा नहीं देते, जिसके पालन से उनके बच्चों को कभी हानि पहुँचे। बालक अपने अनुभव की कमी से यह निश्चय नहीं कर सक्ता कि माता-पिता का कहना करने से अन्त में हानि होगी या लाभ। उसे स्मरण रखना चाहिये कि अमुक आज्ञा के पालन में चाहे अज्ञानता-वश उसे हानि दीखती हो; पर उन्होंने जो आज्ञा दी है वह उसके हित के विचार से ही दी होगी। कभी २ माता-पिता को किसी भयङ्कर कठिनाई में पड़कर और अपने धर्म्म की हानि देखकर अपने प्यारे बच्चों का अहित करना पड़ता है। ऐसा कठिन प्रसंग बहुत कम आता है और यदि आया भी तो अपने माता-पिता का धर्म्म बचाने के लिये सन्तान को सब कष्ट सहने को प्रस्तुत

हो जाना चाहिये, जैसे श्रीराम ने अपने पिता के सत्य की रक्षा के लिये १४ वर्ष का वनवास स्वीकार किया था।

पाठ ३२.

श्रीरामचन्द्रजी का आदर्श आज्ञा-पालन।

श्रीरामचन्द्रजी का आज्ञा-पालन हम लोगों के लिये कैसा उत्तम आदर्श है! महाराज दशरथ की आज्ञा भी कैसी कठोर थी! एक राजकुमार के लिये केवल राज-पाट ही नहीं, वरन साधारण गृहस्थी का सारा सुख त्याग १४ वर्ष वनों में रहकर बिताना कितना भयङ्कर व्रत था! पर, धन्य है श्रीरामचन्द्रजी की पितृ-भक्ति! अपने पिता को धर्म-सङ्कट में पड़े देख उन्होंने यह सब कष्ट सहर्ष स्वीकार कर लिया। पिताजी का वचन असत्य न होने पावे इसीलिये राज-पाट, सुख, आनन्द सब तुष के समान त्याग दिया, माता कैकेयी के मुख से अपने पिता के कठिन धर्म-सङ्कट का हाल सुनकर श्रीराम ने उलटा उन्हींको समझाया और इस बात से बड़ा हर्ष प्रकट किया कि भला हम अपने पिता के किसी काम तो पड़े:—

सुनु जननी सोइ सुत बड़भागी।
जो पितु-मातु-चरण-अनुरागी॥
तनय मातु-पितु-तोषणहारा।
दुर्लभ जननि सकल संसारा॥
मुनि-गण-मिलन विशेष वन, सबहिं भाँति भल मोर।
तेहि महँ पितु आयसु बहुरि, सम्मत जननी तोर॥

× × × ×

एकहि दुख मोहिं मातु विशेखी।
निपट विकल नरनायक देखी॥
थोरिहि बात पितहिं दुख भारी।
होत न मोहिं प्रतीत महतारी॥
राउ धीर गुण उदधि अगाधू।
भा मोते कछु बड़ अपराधू॥
जातें मोहिं न कहत कछु राऊ।
मोरि शपथ तोहिं कहु सतिभाऊ॥

रानी कैकेयी ने जब समझाया:—

तुम अपराध योग नहिं ताता।
जननी जनक बन्धु सुखदाता॥

तो श्रीराम ने आश्वासन देकर कहा:—

तात कहौं कछु करहुँ ढिठाई।
अनुचित छमहु जानि लरकाई॥
अति लघु बात लागि दुख पावा।
काहे न कहि मोहि प्रथम जनावा॥
देख गुसाइहिं पूछेहु माता।
सुनि प्रसङ्ग भा शीतल गाता॥

मंगल समय सनेह-वश, शोच परिहरिय तात।
आयसु देइय हर्षि हिय, कहि पुलके प्रभु गात॥

धन्य जन्म जगतीतल तासू।
पितहिं प्रमोद चरित सुनि जासू॥
चारि पदारथ करतल ताके।
प्रिय पितु मातु प्राण सम जाके॥
आयसु पालि जन्म फल पाई।

ऐहौं बेगहि होइ रजाई ॥
बिदा मातु सन आवहु माँगी ।
चलिहौं बनहिं बहुरि पग लागी ॥

अब तो आपको यह चिन्ता लग गई कि कहीं पिताजी मोह-वश अपना सत्य त्याग मुझे वन जाने से रोक न देवें।

" मुख प्रसन्न चित चौगुन चाऊ ।
मिटा सोच जनि राखहिं राऊ ॥

यदि श्रीरामजी वन जाने से इन्कार करते तो महाराज दशरथ भी उनसे अप्रसन्न न होते । क्योंकि महाराज

बिधिहि मनाव राउ मन माहीं ।
जेहि रघुनाथ न कानन जाहीं ॥
तुम प्रेरक सबके हृदय, सो मति रामहिं देहु ।
बचन मोरि तज रहहिं गृह, परिहरि शील सनेहु ॥

ऐसा मनाते थे । इसीसे पिता के सत्य की रक्षा के लिये श्रीराम ने सब छोड़ १४ वर्ष वन में बिताये । उनकी माता कौशल्या ने कहाः—

"तात जाउँ बलि कीन्हेउ नीका ।
पितु आयसु सब धर्म्मक टीका ॥"

श्रीरामचन्द्र अपने धर्म्म पर अटल रहे । उसके कारण १४ वर्ष तक उन्होंने जो कष्ट सहे, आपत्तियाँ झेलीं, श्रीसीताजी के विरह से मर्म्मान्तक हृदय-वेदना सहन की उसका वर्णन रामायण में पढ़कर हृदय विदीर्ण होता है ।

माता-पिता और गुरु जनों की सेवा परम तप समझी गयी है । "तेषां त्रयाणां शुश्रूषा परमं तप उच्यते"—

ये भगवान् मनु के वचन हैं। ईसाइयों के धर्म्म-ग्रंथ बैबिल में भी माता-पिता का आज्ञा-पालन प्रत्येक मनुष्य का प्रधान धर्म्म माना है। कहा है कि "जो पुत्र अपने माता-पिता की ओर पूर्ण भक्ति रखता है वह इस जगत् में बहुत दिन जीता है।" सत्य है; क्योंकि सच्चा आज्ञाकारी बालक शरीर तथा मन को वश में रखता है, जिससे उसका स्वास्थ्य अच्छा रहता और आयुर्बल की रक्षा होती है।

पाठ ३३.

भीष्म की पितृ-भक्ति।

ऐसा कौन हिन्दू है जो भीष्म पितामह को न जानता हो? आपकी पितृ-भक्ति भी अगाध थी। अपने वृद्ध पिता महाराज शान्तनु की इच्छा पूरी करने के लिये आपने जो त्याग किया वह अत्यन्त भीषण था; अतएव आप का नाम जो पहिले देवव्रत था इसके बाद भीष्म होगया।

महाराज शान्तनु एक युवती पर मोहित हो उससे विवाह करना चाहते थे। उसका पिता कहता था कि "आपका पुत्र, देवव्रत, तो आपके बाद राजा होगा और मेरी कन्या से उत्पन्न होने वाले पुत्र उसके दास बने रहेंगे; अतएव मैं ऐसा विवाह ठीक नहीं समझता। मैं अपनी कन्या आपको न दूँगा"। महाराज यह उत्तर पा मन ही मन कुढ़ने लगे। उनका दिव्य मुख-मण्डल फीका पड़ गया और शरीर में अत्यन्त निर्ब्बलता के चिन्ह झलकने लगे। पितृ-भक्त देवव्रत अपने पिता की यह दशा देख बहुत चिन्तित हुआ; पर बहुत पूछने और निवेदन करने

पर भी महाराज लज्जा-वश अपने हृदय की व्यथा का हाल प्रगट न कर सके। निदान देवव्रत ने खोजते २ पिता के दुःख के कारण का पता लगा ही लिया। आश्चर्य्य नहीं कि आजकल के तरुण पुरुष पिता की ऐसी दशा देख उसका तिरस्कार करने लगें और दूसरों के साथ मिलकर खूब हँसी उड़ावें। देवव्रत आजकल के युवक नहीं थे। वे परम सज्जन और दयार्द्र-हृदय थे। अपने हृदय-दौर्ब्बल्य के कारण पिता को इतना दुखी देख आपको बड़ा तरस आया जिससे आपने जीवन के वे सब सुख जिनके न रहने पर संसारी जीव अपना जन्म ही व्यर्थ समझते हैं निरे तृण की नाईं त्याग दिये। देवव्रत और उस युवती के पिता के बीच इस प्रकार बातचीत हुईः—

युवती का पिता—आप कहते हैं कि मेरी कन्या से जो पुत्र होगा उसको आप राज-सिंहासन दिलावेंगे। मैं भलीभाँति जानता हूँ कि आप सच्चे क्षत्रिय-कुमार हैं। "प्राण जायँ पै वचन न जाहीं" आपका आदर्श है। आप जो कहेंगे सो करेंगें। मुझे आप के वचनों में पूर्ण विश्वास है। पर, यदि आप की ही बात होती तो मैं आज ही महाराज शान्तनु को कन्या-दान सहर्ष दे देता; पर आपका भी विवाह होगा, आपके भी संतान होगी। कौन जाने, आपके पुत्र मेरी बेटी तथा उसकी संतान को क्लेश दें अथवा उनके प्राणों के भूखे हो जाँय। भला आप दूसरे का ज़िम्मा कैसे ले सकते हैं? इन सब बातों को सोच मैं इस विवाह की सम्मति नहीं देता।

देवव्रत—हाँ, दूसरों का ज़िम्मा तो मैं नहीं ले सकता; पर यदि मैं वचन दूँ कि दूसरे होने ही न पावेंगे तो भी क्या तुम ऐसी ही हठ करते जाओगे?

युवती का पिता—इसका क्या अर्थ?

देवव्रत—यह कि मैं शपथ करता हूँ कि जन्म भर ब्रह्मचारी रहूँगा। तुम कह ही चुके हो कि तुम्हें मेरे वचन में पूर्ण विश्वास है। बस, मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं आपकी कन्या से उत्पन्न होने वाले अपने भाई को ही सब राज्य दिलाऊँगा और सब तरह से अपनी विमाता की सेवा और भाई-बहिनों की रक्षा करूँगा।

युवती का पिता—धन्य हो राज-कुमार, धन्य हो! जिस गृहस्थी-सुख के लिये तुम्हारे वृद्ध पिता इतने लालायित हो रहे हैं उसे ही तुम तृणवत् त्यागने को तत्पर हो। जिस कार्य्य को देवगण भी सहसा नहीं कह सकते उस अत्यन्त भीषण कार्य्य के करने की प्रतिज्ञा आपने इस प्रकार कर डाली! सो भी अपने पिता को सन्तुष्ट रखने के लिये! ऐसी पितृ-भक्ति वास्तव में अलौकिक है। मैं सहर्ष अपनी कन्या वृद्ध महाराज के साथ ब्याहे देता हूँ।

तभी से राज-कुमार देवव्रत भीष्म कहलाये। जैसी आपकी अगाध पितृ-भक्ति थी वैसे ही आप दृढ़-प्रतिज्ञ भी थे।

इसी तरह राजा ययाति के छोटे पुत्र पुरु ने अपने पिता को अपनी तरुणाई देकर सुखी किया और आप अटल पितृ-भक्ति के ज्वलन्त दृष्टान्त बने।

अपने माता-पिता की आज्ञा न मानने वाले कदापि सुखी नहीं रह सक्ते। जो बालक आज्ञाकारी नहीं हैं उनके आचरण अवश्य ही बिगड़ जाते हैं और दुराचारी मनुष्य स्वप्न में भी सुखी नहीं रह सकता। एक ही कुटुम्ब में कैसे कैसे जीव उत्पन्न होते हैं! कहाँ भीष्म की पितृ-भक्ति और कहाँ दुर्य्योधन का आज्ञोल्लंघन! धृतराष्ट्र और गान्धारी ने इसे कितना समझाया कि पाण्डवों से बैर मत कर; पर उसने अपने माता-पिता की एक न मानी जिसका फल भी बहुत भयङ्कर हुआ।

"प्रीणाति सुचरितैः पितरं सपुत्रो।
भर्तुरेव हितमिच्छति यत् तत् कलत्रं॥

अर्थात् "अपने पिता को जो सन्तुष्ट करे सो ही सच्चा पुत्र कहा जाना चाहिये और वही सच्ची पत्नी है जो अपने पति का ही हित चाहती है, अपना नहीं।"

पाठ ३४.

गुरु-भक्ति।

वेद में कहा है—"मातृमान् पितृमान् आचार्य्यमान् पुरुषो भवेत्" अर्थात् माता, पिता और आचार्य्य इन तीनों के प्रयत्न से ही बालक सच्चा मनुष्य होता है। हिन्दू धर्म्म में गुरु वा आचार्य्य का पद बहुत श्रेष्ठ माना गया है। भीष्म महाराज कहते हैं:—

"मातृपित्रोः गुरूणाञ्च पूजा बहुमता मम।"

अर्थात्, "माता-पिता और गुरु की पूजा मेरे मत में बहुत बड़ा धर्म्म है।" गुरु दो प्रकार के होते हैं, अर्थात्

विद्या-गुरु और दीक्षा-गुरु। दीक्षा देनेवाला गुरु गायत्री मंत्रादि देता और धर्म्म सिखलाता है। विद्या सिखाने वाला गुरु शिक्षक, पाठक, उपाध्याय या अध्यापक कहलाता है।

हमारे यहाँ गुरु की जो महिमा है वह और देशों या धर्मों में नहीं पाई जाती। रामायण से विदित होता है कि महाराज दशरथ तथा युवराज श्रीरामचन्द्रजी अपने कुल-गुरु वशिष्ठ महाराज का कितना आदर करते थे। यदि कुछ सलाह लेनी पड़ती तो राजा स्वयं गुरुजी के घर जाते और बड़े दीन भाव से वार्तालाप करते थे। यदि गुरुदेव राजमहल में पधारते तो महाराज उठ खड़े होते और चरण छूकर राज-सिंहासन पर स्थान देते थे। सारांश यह कि गुरु सिर्फ मनुष्य नहीं, देवता समझा जाता था, और इसीलिये उसकी संज्ञा गुरु-देव थी। रामायण में देखिये कि गुरु का कितना आदर होता था:—

तब नरनाह वशिष्ठ बुलाये। राम-धाम शिख देन पठाये॥
गुरु-आगमन सुनत रघुनाथा। द्वार आय पद नायउ माथा॥
सादर अरघ देइ घर आने। सोरह भाँति पूजि सनमाने॥
गहे चरण सिय-सहित बहोरी। बोले राम कमल-कर जोरी॥
सेवक-सदन स्वामि-आगमनू। मंगल-मूल अमंगल-दमनू॥
तदपि उचित जन बोलि सप्रीती। पठइय काज नाथ असनीती॥
प्रभुता तजि प्रभु कीन्ह सनेहू। भयउ पुनीत आजु यह गेहू॥
आयसु होइ सो करहुँ गोसाईं। सेवक लहइ स्वामि-सेवकाई॥

फिर भी वन में भरत-मिलाप के समय श्रीवशिष्ठजी से श्रीरामचन्द्र जी कैसी नम्रता एवं प्रेम से मिले हैं:—

शील-सिन्धु सुन गुरु-आगमनू। सिय-समीप राखे रिपु-दमनू॥
चले सवेग राम तिहि काला। धीर धरम-धुर दीन-दयाला॥
गुरुहिं देखि सानुज अनुरागे। दंड प्रणाम करन प्रभु लागे॥
मुनिवर धाइ लिये उर लाई। प्रेम उमगि भेंटे दोउ भाई॥

महाभारत में श्रीभीष्म-पितामह से महाराज युधिष्ठिर ने जब धर्म्म के विषय में प्रश्न किया तो आपने माता, पिता और गुरु की भक्ति को ही परम धर्म्म बतलाया; यथा,

यश्चावृणोत्यवितथेन कर्म्मणः ऋतंब्रुवन्नमृतं संप्रयच्छन्।
तं वै मन्येत पितरं मातरं च तस्मै न द्रुह्येत्कृतमस्य जानन्॥

विद्यां श्रुत्वा ये गुरु नाद्रियन्ते प्रत्यासन्ना मनसा कर्म्मणा वा।
तेषां पापं भ्रूण-हत्या-विशिष्टं नान्यस्तेभ्यः पापकृदस्ति लोके॥

मित्रद्रुहः कृतघ्नस्य स्त्रीघ्नस्य गुरु-घातिनः।
चतुर्णां वयमेतेषां निष्कृतिं नानुशुश्रुम॥

इन श्लोकों का तात्पर्य्य यह है कि माता-पिता के समान गुरु के साथ जो मनुष्य द्रोह करता है उसे गर्भस्थ बालक के वध करने का पाप लगता है और उसकी मोक्ष कदापि नहीं हो सकी।

रामचरितमानस (रामायण) में गुरु-वन्दना करते हुए श्री गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं:—

वन्दहुँ गुरु-पद-कंज, कृपा-सिन्धु नर-रूप हरि।
महा-मोह-तम-पुंज, जासु वचन रवि-कर-निकर॥

फिर :—

गुरु-पद-रज मृदु मंजुल अंजन।
नयन-अमिय दृग-दोष-विभंजन॥

सनातन धर्म्म में गुरु को ईश्वर के समान माना है; अतएव श्रीगुसाईंजी अपने गुरु को ऊपर "नर-रूप हरि" कहते हैं।

अपने क्षत्रिय-धर्म्म का पालन करते हुए विवश हो पाण्डवों को रणक्षेत्र में अपने गुरु भीष्म, द्रोण, कृप आदि से लड़ना पड़ा; पर इन शिष्यों का कैसा उत्तम बर्ताव था सो महाभारत पढ़ने से प्रगट होता है। इस युद्ध के आरम्भ में महाराज युधिष्ठिर ने शत्रु-दल के नेता अपने गुरु जनों के चरण छूने तथा जिसमें यह महत्कार्य्य पूरा उतरे इसलिये उनका आशीर्वाद प्राप्त करने में असावधानी नहीं की। जिस समय युद्ध में धृष्टद्युम्न ने द्रोणाचार्य्य की चोटी पकड़ उन्हें पटकना चाहा उस समय अर्जुन ने जैसा आर्त-नाद किया उसे सुन लोगों के रोम खड़े हो गये। आपने अत्यन्त व्याकुल हो उच्च स्वर से कहा—"गुरुजी को मारो मत, जीते जी पकड़ लो, गुरुजी वध्य नहीं हैं," पर जब धृष्टद्युम्न ने उनका वध कर ही डाला तो अर्जुन छोटे से बच्चे के समान सिसक २ कर रोने और कहने लगे—"आज मैं घोर नरक में पड़ा। आज मेरी लज्जा का ठिकाना नहीं रहा।"

हाँ, समय ने तो बड़ा पलटा खाया है। आज-कल आगे के समान गुरु भी तो नहीं होते। अब पाठशाला में शिक्षा देनेवाले गुरु दीक्षा-गुरु नहीं, शिक्षा वा विद्या-गुरु मात्र हैं; पर इससे क्या? विद्या-गुरु भी तो आदरणीय समझा जाता है। पुराने लोग जो कहते हैं कि जिस से एक अक्षर भी सीखा वह भी गुरु हो चुका सो ठीक है। जिन मास्टरों की शिक्षा पाकर लोग बड़ी २ परीक्षाएँ

पास करते, बड़े २ पद पाते, सहस्रों रुपये पैदा कर अपना तथा अपने कुटुम्ब का जीवन आनन्द-पूर्वक व्यतीत करते हैं उनका आदर करना, उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रदर्शित करना, अब भी प्रत्येक का वैसा ही धर्म्म है, जैसा प्राचीन काल में था। स्मरण रहे कि तुम्हारा मास्टर तुम्हारा सच्चा शुभचिन्तक है। माता-पिता को तुम्हारी कमाई की आशा है; पर मास्टर का स्नेह अधिकांशमें स्वार्थ-हीन है। वह तुम्हारी उन्नति देख बड़ा प्रसन्न होता और यदि तुमने उसका उचित सत्कार किया तो उसे बड़ा सन्तोष होता है। यदि शिष्य होकर तुम अपने पुराने मास्टर का तिरस्कार करते हो, बड़ा पद पाकर उससे नमन या बातचीत करने में अपनी हीनता समझते हो, तो याद रक्खो कि तुम व्यर्थ ही एक परम हित-चिन्तक व्यक्ति का जीव दुखाने का पाप स्वयं अपने हाथ से अपने सिर पर लादते हो। वह और कुछ नहीं चाहता है, केवल यह चाहता है कि तुम बड़े होने पर गुरु-शिष्य-सम्बन्ध स्वीकार करते रहो। याद रक्खो कि बड़े पद पर आरूढ़ रहते हुए यदि तुम अपने एक पुराने दीन मास्टर को उचित सत्कार दोगे तो तुम्हारे विनय की बड़ाई होगी, अन्यथा लोग अवश्य हँसेंगे और तुम्हें कृतघ्न भी समझेंगे। तुम्हें उच्च पद प्राप्त करते और उत्तरोत्तर उन्नति करते देख तुम्हारा पुराना गुरु साभिमान कहा करता है कि "अमुक मेरा शिष्य है।"

पाठ ३५.

गुरुजन-आज्ञा-पालन-मीमांसा।

अब यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या किसी भी स्थिति में गुरुजनों की आज्ञा का उल्लंघन न होना चाहिये? क्या आज्ञाकारी बनने के लिये जान-बूझकर पाप करना चाहिये? नहीं, ऐसा नहीं है। पहले तो तुम्हारे गुरु-जन जान-बूझकर तुम्हें आपत्ति में न डालेंगे। यदि कदाचित् ऐसा मौका आ जावे कि उनके आज्ञा-पालन से तुम्हें श्री-रामचन्द्रजी अथवा भीष्म के सदृश घोर आपत्ति में पड़ने का भय हो; पर किसी तरह का पाप न होता हो, तो वीरता इसीमें है कि आपत्ति सहते हुए भी तुम आज्ञाकारी बनो। पर, यदि आज्ञा-पालन में पाप का भय हो, फिर बात ही दूसरी है। पाप-कर्म तो किसी अवस्था में न करना चाहिये। मान लो कि तुम पहले से ही वचन दे चुके हो; पर अब गुरु-जनों की आज्ञा से उसके पालन करने में तुम्हें अपनी प्रतिज्ञा से विमुख होने का सङ्कट आ पड़ा है तो ऐसी दशा में गुरु-आज्ञा का उल्लंघन करना ही उचित है। कर्त्तव्य-विमुख होना तो किसी भी दशा में अच्छा नहीं होता। कहा है—"महज्जनो येन गतः स पन्थाः" अर्थात् महज्जन जिस मार्ग से जाते हों उसीसे सबको जाना चाहिये। अब देखना है कि भीष्मादि महात्माओं ने ऐसा प्रसंग आने पर किस मार्ग का अनुसरण किया है।

हम पहले लिख चुके हैं कि भीष्म पितामह ने यह प्रतिज्ञा की थी कि हम अपने जीवन-काल में सदा ब्रह्म-चारी रहेंगे, कदापि विवाह न करेंगे। इस प्रतिज्ञा-

नुसार जब महाराज शान्तनु देव-लोकवासी हुए तो भीष्म ने अपने सौतेले भाई चित्राङ्गद को राजा बनाया। दुर्भाग्य-वश जब चित्राङ्गद ने भी वीरगति पाई तो इनके भाई विचित्र-वीर्य्य राज-सिंहासन पर बैठाये गये। अब तो महात्मा भीष्म को यह चिन्ता लगी कि छोटे भाई विचित्र-वीर्य्य का विवाह कर दिया जाय जिसमें उत्तराधिकारी का अभाव न रहने पावे। पाठकगण! साधारणतः तो बहु-विवाह-प्रथा अच्छी नहीं कही जा सक्ती; पर राजाओं के लिये यह आवश्यक समझी जाती थी, क्योंकि इनके सन्तान-हीन होने से राष्ट्र को बड़ी हानि पहुँचने का भय रहता था। साधारण लोगों के लिये तो यह प्रथा सर्व्वथा हानि-कारक ही सिद्ध होती है। भीष्म ने ख़बर पाई कि काशि-राज की तीन कन्याएँ विवाह-योग्य हैं और शीघ्र ही उनका स्वयंवर होने वाला है। प्राचीन काल में क्षत्रियों के यहाँ स्वयम्वर की रीति थी। पिता सब राजाओं को निमन्त्रण देकर अपने घर बुलाता था और सभा होती थी। सभा में आये हुए राजाओं तथा कुमारों में से "स्वयम्वरा" राज-कन्या अपने योग्य पति को वर लेती थी। इसी से किसी योग्य राज-पुत्र को कन्या के स्वयं अर्थात् आप ही चुनकर वर लेने का यह कार्य्य "स्वयम्वर कहलाता था।

महात्मा भीष्म काशि-राज की स्वयम्वर-सभा में उपस्थित हुए और सब राजाओं को परास्त कर तीनों कन्याओं को इन्द्रप्रस्थ ले आये। घर आने पर तीनों कन्याओं को मालूम हुआ कि हमारा विवाह भीष्म से नहीं बरन उनके छोटे भाई विचित्रवीर्य्य से होने वाला है। अम्बिका और अम्बालिका नाम की छोटी बहिनों ने तो

यह बात सहर्ष स्वीकार कर ली; पर बड़ी लड़की अम्बा ने कहा कि "बहुत काल से मैंने राजा शल्व को अपना पति बनाने का निश्चय कर लिया है, सो अब दूसरे किसीको ब्याह नहीं सकती।" भीष्म ने उसे शल्व के पास भेज दिया; पर उन्होंने उसे स्वीकार नहीं किया। उनका कहना था कि "अब भीष्म क्षत्रिय-प्रथानुसार अम्बा को जीतकर ले गये हैं तो वे ही उसके स्वामी होने के योग्य हैं।" इसपर अम्बा ने अत्यन्त दुःखित होकर भीष्म से कहा कि "अब आपही को मेरा पाणि-ग्रहण करना उचित है। आपने मुझे मेरे माता-पिता के पास से लाकर मेरे विवाह का समय नष्ट किया है; अतएव आपका धर्म है कि आप मुझे ग्रहण करें"। भीष्म दुःखित तो बहुत हुए, पर अपनी प्रतिज्ञा भंग न कर सके; इसलिये अम्बा का निवेदन उन्हें अस्वीकार करना पड़ा। अम्बा भी बड़े क्रोध में आकर भीष्म के गुरु-देव महात्मा परशुराम के पास अपना आवेदन लेकर गई। उसका सारा हाल सुन गुरुजी ने भी उसका पक्ष किया; पर भीषण प्रतिज्ञा करने वाले भीष्म अपने धर्म्म से विमुख नहीं हुए। तब तो गुरु-शिष्य के बीच घोर युद्ध हुआ; क्योंकि उन दिनों में आपस के झगड़े इसी तरह निपटाये जाते थे। यूरुप में भी यही हाल था। झगड़ा करने वाले दोनों पुरुष परस्पर (duel) लड़कर झगड़े का निपटारा करते थे। कहीं २ तो यही अब भी होता है। इसके सिवा, प्रत्येक क्षत्रिय अपना कर्त्तव्य समझता था कि यदि कोई युद्ध के लिये ललकारे तो वह छोटा हो या बड़ा उससे लड़ना ही चाहिये। यह युद्ध बराबर २८ दिन चला। दोनों को भयङ्कर चोट लगी। दोनों कई बार अचेत हो हो जाते, पर होश आने पर फिर लड़ने लगते थे। २८ वें दिन वृद्ध

गुरुदेव बिलकुल शिथिल हो युद्ध करने में असमर्थ हुए जिससे भीष्म का पक्ष ही प्रबल ठहरा। ऐसे महात्मा भीष्म को भी अम्बा को बिना जाने क्लेश पहुँचाने से शापित हो मृत्यु भोगनी पड़ी।

सारांश यह कि ऐसे प्रसङ्ग आ जाने पर कर्त्तव्य-वश गुरुजनों की आज्ञा भंग की जा सकती है, न कि स्वार्थ-वश या किसी प्रकार के भय से।

पाठ ३६.

उपमन्यु की गुरु-भक्ति।

महर्षि वेद का एक शिष्य उपमन्यु था। उसकी भी बड़ी कठोर परीक्षा हुई। गुरु ने उससे कहा कि भिक्षा से जो कुछ मिले मुझे दिया करो। अब तो उसकी भीख का सारा भाग आपही ले लेने लगे, और उसे गाय चराने का कार्य्य सौंपा। इसपर वह दूसरी बार भिक्षा माँगकर अपना पेट पालने लगा। प्रश्न करने पर उसी के मुँह से, जब गुरुजी को यह हाल मालूम हुआ, तो उन्होंने उसे धिक्कारा और कहा कि "तुम्हारे दो बार भिक्षा माँगने से किसी न किसी दरिद्र को उतनीही भिक्षा बिना रहना पड़ता होगा। अब ऐसा अन्याय कभी न करना।" जब उपमन्यु की भिक्षा इस तरह बन्द कर दी गई तो वह गौवों का दूध पीकर रहने लगा और इसके बन्द होने पर बछड़ों के दूध पीते समय जो दूध बाहर गिरता उसीसे अपना उदर-पोषण करने लगा। गुरुजी ने जब इसमें भी आपत्ति की तो जंगल में वृक्षों के पत्तों को खा खाकर वह अपना

निर्व्वाह करने लगा। एक दिन किसी विषैले वृक्ष के पत्ते खाने से उसके नेत्रों की ज्योति जाती रही और वह साय-ङ्काल घर लौटती बार एक सूखे कुवे में गिर पड़ा। शाम को जब गौवें आ गईं और उपमन्यु नहीं आया तो गुरुजी कुछ शिष्यों को ले उसकी खोज में निकले। उसे उस कुवे में पड़ा हुआ देख गुरु ने उसे देव-वैद्य अश्विनीकुमारों की स्तुति सिखायी, जिसके प्रताप से उसका अन्धापन चला गया और अश्विनीकुमारों ने दर्शन देकर कहा कि "यह लो, हम कुछ प्रसाद देते हैं, इसे खाओ।" उपमन्यु ने हाथ जोड़ विनती की कि "आप मुझे प्रसाद न खिलावें, मैं अपने गुरुजी को अर्पण किये बिना कुछ नहीं खा सकता। उनकी आज्ञा है कि जो कुछ मिले मेरे पास लाओ।" इसपर देवों ने कहा कि "एक बार हमने तेरे गुरु को भी प्रसाद दिया था; पर उन्होंने अपने गुरु को अर्पण किये बिना ही उसे पा लिया था। तू भी इसे पा।" उपमन्यु भला गुरु-भक्ति से डिगने वाला था? उसकी निष्ठा देखकर अश्विनीकुमार बड़े प्रसन्न हुए और उसे आशीर्वाद दे अन्तर्धान हो गये।

उपमन्यु आँखें पा शीघ्र ही उस कुए में से बाहर निकला और गुरुजी के चरण पकड़कर उसने उन्हें अपना सारा वृत्तान्त कह सुनाया। गुरुजी भी अपने शिष्य को इस कठिन परीक्षा में उत्तीर्ण होते देख बहुत प्रसन्न हुए और आशीर्वाद दे उसे घर भेज दिया।

उस प्राचीन काल में न तो आजकल के समान शिक्षा ही दी जाती थी और न परीक्षा होती थी। उन दिनों की शिक्षा में धर्म्म-शिक्षा प्रधान समझी जाती और चरित्र-सुधार पर अधिक ज़ोर दिया जाता था। शिक्षा

कैसी हुई है इस बात को गुरु तो जानता ही था, पर शास्त्रार्थों में विजय पाने से मनुष्य की विद्वत्ता का मर्म्म दूसरों पर प्रगट हो जाता था। गुरु भी अपने शिष्यों की योग्यता की बड़ी कड़ी परीक्षा लिया करते थे।

पाठ ३७.

उत्तङ्क की गुरु-भक्ति।

जब उत्तङ्क का अध्ययन पूरा हुआ तो उनके गुरु वेद ने उन्हें घर लौट जाने की आज्ञा देती बार अपनी प्रसन्नता प्रगट की।

उतङ्क—महाराज, आपने मुझे घर लौटने की आज्ञा तो दे दी; पर गुरु-दक्षिणा देने की आज्ञा नहीं दी। शास्त्रों में लिखा है कि ऐसा न करने से गुरु और शिष्य दोनों का अनिष्ट होता है। आपको जो दक्षिणा अभीष्ट हो सो इस दास को अर्पण करने की आज्ञा दीजिये।

वेद—अच्छा बेटा, सोचकर उत्तर दूंगा।

इसके बाद जब बहुत समय बीत गया तो उत्तङ्क को मालूम हुआ कि गुरुजी शास्त्रों के मनन तथा ईश्वर के ध्यान में ऐसे मग्न रहते हैं कि हो न हो उस दिन की बात भूल गये हैं। अवसर पा उतङ्क ने दक्षिणा का प्रश्न फिर से उठाया। यह सुन वेद ने कहा कि "तू अपनी गुरुआनी से पूछ। उन्हींके इच्छानुसार दक्षिणा का प्रबन्ध कर दे।"

इसके बाद उतङ्क ने गुरुआनीजी से निवेदन किया। उन्होंने इस प्रकार आज्ञा दीः—बेटा, आज से तीन दिन बाद मैं अपने व्रत का उद्यापन करूँगी। उस समय ब्राह्मण-भोजन होगा। मेरी इच्छा है कि राजा पौष्य की स्त्री जो कुण्डल पहने है उन्हें धारण कर मैं ब्राह्मण-भोजन कराऊं। जो तू तीन दिनों के भीतर वे कुण्डल ला देगा तो तेरा कल्याण होगा।

अब तो समय थोड़ा देख उत्तङ्क तुरन्त ही उठ खड़े हुए, और महाराज पौष्य से जब आपने निवेदन किया तो उन्होंने उत्तर दिया कि भीतर जाकर रानी से माँगो। उत्तङ्क महल में निधड़क चले गये। पर रानी का पता कहीं न लगा। बाहर आकर आपने राजा से उलाहना दिया कि मुझे व्यर्थ धोखा क्यों दिया गया; वहाँ तो रानी जी नहीं हैं। राजा ने कहा कि "आप किसी प्रकार अपवित्र होंगे, इसीसे रानी से भेंट नहीं हुई।" यह सुन उतङ्क ने मुँह-हाथ धो कुल्ला किया और फिर महल के भीतर गये। इस प्रकार शुद्ध होकर जाने से रानी के दर्शन हुए और निवेदन करते ही कुण्डल भी मिल गये। इसका कारण यह था कि उन दिनों साधु, ब्राह्मण आदि बड़े सन्तोष के साथ विद्या प्राप्त करते और मन्त्री, शिक्षक, उपदेशक वा न्यायाधीश बनकर राजा तथा प्रजा की सेवा करने में ही अपना जीवन बिताते थे। इन कार्य्यों के लिये वेतन लेना वे पाप समझते थे। विद्या और न्याय का दान होता था, क्रय-विक्रय नहीं। इसीसे देश तथा समाज-सेवा के कारण निरे कौपीन-धारी साधुओं तथा ब्राह्मणों का सत्कार देवताओं के समान होता था और उनकी भू-सुर (अर्थात् पृथ्वी पर देवता) की संज्ञा थी।

रानी ने उत्तङ्क को कुण्डल देकर कहा कि "हे ब्राह्मण-कुमार! सर्पों का राजा तक्षक इन कुण्डलों के हरने के लिये बड़ी २ चेष्टाएँ कर चुका है। आश्चर्य्य नहीं कि आपसे भी इन्हें छीन लेने का वह प्रयत्न करे। बहुत सावधानी से रक्षा कीजिये, नहीं तो पछताना पड़ेगा। उत्तङ्क अन्ततः भोले-भाले नवयुवक ही तो थे। अभी उन्हें संसार की दुष्टता का अनुभव नहीं हुआ था, जिससे वे अपने को विद्वान् होने के कारण सभी बातों में श्रेष्ठ समझते और दूसरों के उपदेश का तिरस्कार किया करते थे जैसा कि तरुण लोग किया करते हैं। ये अपनी विद्या के घमण्ड में आकर अपने को सर्व्व-गुण-सम्पन्न समझ बैठते हैं और संसार की ठोकरें खाकर कहीं सम्हलते हैं। इसीका नाम अनुभव वा तजुर्बा है जो तरुणों में न रहने से वयोवृद्ध जनों का आश्रय लेना आवश्यक है। बस, रानी के सावधान करने पर भी उत्तङ्क सावधान न हुए, उलटे मन में कहने लगे कि दुष्ट तक्षक मेरा कर ही क्या सकता है।

उत्तङ्क प्रातःकाल होते ही घर को रवाना हुए। चलते चलते आप एक रमणीक सरोवर के समीप पहुँचे। मन में सोचा कि स्नान और भोजन करके कुछ काल विश्राम करें, फिर आगे बढ़ें। इस विचार से आपने कपड़े उतारकर घाट पर रख दिये और जल में प्रवेश किया। शरीर मल-कर ज्योंही उत्तङ्क ने डुबकी लगाई, त्योंही एक क्षपणक अर्थात् बौद्ध साधु के वेश में तक्षक ने कपड़ों में से कुण्डल निकाल अपना रास्ता लिया। कुछ समय बाद उत्तङ्क नहा-धोकर बाहर निकले और अपने कपड़ों के समीप आ-कर देखने लगे कि कोई कुण्डल तो नहीं ले गया। कपड़ों में कुण्डल न पाकर उत्तङ्क को मालूम हुआ कि वही क्षपणक

जो स्नान करते समय तट पर खड़ा था उन कुण्डलों को ले गया होगा। बस, जैसे तैसे कपड़े पहिन आप उस चोर के पीछे दौड़े और कुछ दूर पर उसे देख आपने ललकारकर कहा "खड़ा रह, दुष्ट! मैं अभी तेरे पाप का बदला देता हूँ।" चोर ने देखा कि यह जल्द पकड़ कर मेरी दुर्दशा करेगा तो वह जो तक्षक सर्प था ही तुरन्त अपना प्रकृत रूप रखकर समीप ही एक बिल में अदृश्य हो गया। अब तो बेचारे ब्राह्मण से कुछ न बन पड़ा; पर उन्होंने साहस और धैर्य नहीं छोड़ा, लगे उस बिल को लाठी से खोदने। भला एक बाँस की लाठी से कहीं ज़मीन खुद सक्ती है? न खुदे, पर सच्चा उद्योग व्यर्थ नहीं जाता। सच्चे उद्योगी पुरुष की सहायता ईश्वर करता है। "God helps them who help themselves." देवराज इन्द्र ने सच्चे गुरुभक्त उत्तङ्क को इस प्रकार व्याकुल देख अपने शस्त्र वज्र को आज्ञा दी कि उत्तङ्क की लाठी में प्रवेश कर पाताल-लोक तक मार्ग बना दे।

अब तो लाठी की मार से वह पत्थर के समान कड़ी ज़मीन मोम के सदृश कटने लगी और शीघ्र उत्तङ्क पाताल लोक पहुँच गये। वहाँ उन्हें एक बड़ा मनोहर नगर मिला जिसमें सर्प ही सर्प रहते थे। उत्तङ्क ने कई बड़े २ नागों से निवेदन किया; पर एक ने भी इनकी विन्ती पर ध्यान न दिया। तब भी आप निराश नहीं हुए और चलते २ एक जगह पहुँचे जहाँ उन्हें एक विचित्र दृश्य देखने में आया। आप देखते क्या हैं कि दो स्त्रियाँ बैठी २ कपड़ा बुन रही हैं। ताना तो सफेद सूत का है और बाना काले का। ६ बालक १२ खूंटियों की खटिया का पहिया घुमा रहे हैं। समीप ही एक घोड़े पर एक दिव्य पुरुष बैठा

है। उत्तङ्क नम्रता-पूर्व्वक प्रणाम कर उसकी स्तुति करने लगे। स्तुति सुनकर वह दिव्य पुरुष बोला—"ब्राह्मणकुमार, मैं तुमपर प्रसन्न हूँ; कहो, क्या वरदान माँगते हो?"

उत्तङ्क—"महाराज, यदि आपकी इतनी कृपा है तो ऐसा कीजिए कि यहाँ के सब सर्प मेरे वश में आ जावें।"

दिव्य पुरुष—"बहुत अच्छा, तुम हमारे घोड़े के पीछे खड़े होकर उसके शरीर को फूकने लगो।"

उतङ्क ने तुरन्त घोड़े के पीछे हो फूकना आरम्भ कर दिया। थोड़ी देर में उस पशु की आँखों, कानों तथा मुँह आदि से आग की लपटें और सारे शरीर से धुवाँ निकलने लगा। देखते २ इस धुएँ से घबड़ाकर सब सर्प इधर-उधर दौड़ने लगे; पर उन्हें कहीं भी शान्ति न मिली, ऊपर से वे उन लपटों से झुलसने लगे। ऐसी आपत्ति में पड़कर उन नागों ने अपने राजा तक्षक को कुण्डल दे देने के लिये बहुत समझाया। उसने भी देखा कि ऐसा किये बिना प्राण नहीं बचने के। क्षण भर में सारा पाताल भस्म हुआ जाता है; अतएव उसने आकर उत्तङ्क के चरण छुए और कुण्डल उनके हवाले किये।

उतङ्क ने कुण्डल तो पाये; पर उनके मुख की उदासी दूर नहीं हुई। उन्होंने देखा कि आज ही तीसरा दिन है सो थोड़ी ही देर के बाद गुरुआनीजी उद्यापन करने को बैठेंगी। समय पर कुण्डल न पहुँचने से सब बना-बनाया काम बिगड़ जायगा। उनकी उदासी का भेद उस दिव्य पुरुष को विदित हो गया और उसने हँसकर कहा:—

दिव्य पुरुष—वत्स, तुम घबड़ाओ मत, तुम्हारी कर्म्मण्यता तथा साहस से मैं प्रसन्न हूँ। जिस मनुष्य का

चरित्र ऐसा पवित्र है वह कभी आपत्ति में नहीं पड़ता और पड़ा भी तो परमात्मा उसकी रक्षा करता है। लो, इस घोड़े पर सवार हो जाओ, यह तुम्हें समय से पहले ही गुरुआनीजी के पास पहुँचा देगा।

उस दैवी घोड़े ने बात की बात में उत्तङ्क को गुरुजी के द्वार पर पहुँचा दिया। उस समय गुरुआनी स्नान कर अपने केश सँवार रही थीं और मन ही मन सोच रही थीं कि इस उत्तङ्क ने बड़ा धोखा दिया, जब अभी तक नहीं आया तो अब क्या आवेगा। उनका क्रोध भी बढ़ रहा था और वे शाप देने पर ही थीं कि उत्तङ्क ने आकर उनके चरणों पर पहिले अपना मस्तक और फिर वे कुण्डल रख दिये।

गुरुआनी—वत्स उत्तङ्क, तेरा मङ्गल हो! विलम्ब तो बहुत हुआ; पर तू ठीक समय पर आ पहुँचा।

गुरुजी—वत्स उत्तङ्क! इतना विलम्ब कैसे हुआ?

उत्तङ्क ने गुरुजी के चरण छूकर मार्ग का सारा वृत्तान्त कह सुनाया और उनसे पाताल-लोक में मिलनेवाली उन स्त्रियों तथा उस दिव्य-पुरुष का हाल पूछा। तब गुरुजी ने इस प्रकार इस रहस्य को समझायाः—

गुरुजी—सुनो बेटा! वे दोनों स्त्रियाँ जीवात्मा और परमात्मा हैं। पहिये वर्ष हैं, १२ खूँटियाँ १२ मास हैं, ६ बालक ६ ऋतु हैं, गोरा पुरुष पर्जन्य और घोड़ा अग्नि है।

उत्तङ्क—गुरुजी, एक बात और है। जब मैं घर से जाता था तो मार्ग में एक पुरुष साँड़ पर सवार मिला

था। उसने मुझे उस साँड़ का गोबर खा लेने की आज्ञा दी। जब मैंने ऐसा करना अस्वीकार किया तो उसने कहा कि तेरे गुरु ने भी यह गोबर खाया है, तू कैसे अस्वीकार करता है?" इसपर मैंने थोड़ासा खा लिया। अब बतलाइये, यह साँड़ का सवार कौन था?

गुरुजी—वे इन्द्र थे, और साँड़ ऐरावत था। गोबर अमृत था। इन्द्रदेव की मुझपर कृपा है। तुझे मेरा शिष्य समझ और गुरु-भक्ति, कृतज्ञता आदि तेरे सद्गुणों से अत्यन्त प्रसन्न हो इन्द्र भगवान् ने तेरे ऊपर बड़ी कृपा की है। तेरी अगाध गुरु-भक्ति एवं आदर्श शील का यह पुरस्कार है। अब जा, सुख से रह।

बराबरी-वालों के प्रति कर्त्तव्य।

हमारे घरों तथा पुरा-पड़ोस में ऐसे अनेक स्त्री-पुरुष हुआ करते हैं जिन्हें हम अपनी बराबरी का समझते और जिनके साथ रहने से हमें विशेष सुख होता है। अब हमें देखना है कि हममें कौन कौन से गुण होने और कौन कौन से दुर्गुण न होने चाहिये जिससे हम इनके साथ सुख-पूर्वक रहकर अपना समय बितावें।

पाठ १.

घर-वालों के साथ व्यवहार।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि जो मनुष्य अपने घरवालों के साथ अच्छा व्यवहार नहीं कर सका वह अपने

पड़ोसियों तथा समाज के साथ कदापि नहीं कर सक्ता। यदि हम अपने २ घरों में अपने कर्त्तव्यों का पालन करते रहें, तो अवश्य ही हमारा घर स्वर्ग के समान पवित्र रह सक्ता है और हम सदा सुखी रह सक्ते हैं। जिस जाति वा देश में प्रत्येक घर वा कुटुम्ब के लोग अपने २ कर्त्तव्य करते हुए सुखी रहते हैं उस जाति वा देश में लक्ष्मी का निवास रहता है और उसके समृद्ध होने में कोई सन्देह नहीं है। माता-पिता के प्रति पुत्र वा पुत्रियों के क्या २ कर्त्तव्य हैं, सो तो हम ऊपर लिख ही चुके हैं, अब यहाँ पति-पत्नी, भाई-भाई, बहिन-बहिन, भाई-बहिन, तथा मित्रों के बीच में कैसा व्यवहार रहना चाहिये इसका थोड़ा सा उल्लेख करते हैं।

पति-पत्नी-सम्बन्ध ।

हमारे धर्म्म-ग्रन्थों में पति-पत्नी का सम्बन्ध बहुत पवित्र माना गया है। विवाह १६ संस्कारों में से एक प्रधान संस्कार समझा जाता है। ईसाई, मुसलमान आदि अन्य धर्मावलंबी भी विवाह-बन्धन को एक पवित्र बन्धन मानते हैं; पर उनके समान तलाक वा छोड़-छुट्टी देने की प्रथा हिन्दू धर्म्म में नहीं है, और है भी तो उन जातियों में जिनमें पुनर्विवाह की प्रथा प्रचलित है। हमारे यहाँ पति-पत्नी-सम्बन्ध निरे सुख के लिये नहीं, वरन धर्म्म-पालन के उद्देश्य से होता है। हमारे महर्षियों का विश्वास है कि मनुष्य जब जन्म लेता है तो वह तीन प्रकार के ऋण लेकर आता है, अर्थात् (१) देवऋण, (२) ऋषिऋण, और (३) पितृ-ऋण। यज्ञादि कार्य्य करके वह देव-ऋण, वेदादि

शास्त्र पढ़कर ऋषि-ऋण तथा सन्तानोत्पत्ति करके पितृ-ऋण से विमुक्त होता है। हमारे यहाँ पत्नी को धर्मपत्नी कहते हैं; क्योंकि अकेला पति किसी धर्म्म-कार्य्य को करने का अधिकारी नहीं समझा जाता, वरन अपनी पत्नी के साथ गाँठ जोड़कर बैठता है, तब कहीं ऐसे कार्य्य कर सक्ता है। श्रीरामचन्द्रजी ने श्रीसीताजी की अनुपस्थिति में जब राजसूय यज्ञ करना चाहा तो उन्हें स्वर्णमयी सीता, अर्थात् सीताजी की स्वर्ण-मूर्ति, बनवाकर यह कार्य्य करना पड़ा था।

हमारे यहाँ स्त्रियों का आदर सदा से होता आया है। स्त्री पति का आधा शरीर मानी जाती है, इसीसे उसे अर्द्धाङ्गिनी कहते हैं। वह घर की स्वामिनी होने से गृहिणी कहलाती है। आजकल स्त्रियाँ जो मूर्ख रक्खी जातीं और उनका अपमान किया जाता है यह हिन्दू-समाज की गिरी हुई दशा का चिह्न है। पहले तो उन्हें मूर्ख रखना, फिर मूर्खता के कारण जो दोष उनमें आ जाते हैं उन्हें स्वाभाविक बतलाना सरासर अन्याय है। देखने में आया है कि जो पति अपनी स्त्री का विश्वास करता और उसे वास्तव में गृहिणी वा अर्द्धाङ्गिनी समझकर उसके हाथ में अपने घर के प्रबन्ध का पूर्ण अधिकार देता है उसे पछताना नहीं पड़ता, बल्कि उसका समय बड़े आनन्द से व्यतीत होता है और दिन भर परिश्रम करके जब वह घर जाता है तो उसे सन्दूक लेकर बैठने की झंझट में नहीं पड़ना पड़ता। बहुतेरे पति जो अपनी स्त्री का विश्वास नहीं करते और उसके कई बार माँगने पर घरू खर्च का पैसा देते और धेले २ का हिसाब

माँगते हैं वे एक तो चिन्ता में पड़े रहते हैं, दूसरे स्त्री भी जब देखती है कि मेरा विश्वास नहीं है तो बहुधा धोखा देती और अधिक व्यय कर डालती है। इसमें उसका इतना दोष नहीं है जितना उसके अविश्वासी पति का है।

हमारे यहाँ के अशिक्षित पुरुष तथा स्त्रियाँ जब साहिब लोगों को मेमों का आदर करते देखते हैं तो मनही मन हँसते हैं; क्योंकि उनके विचार स्त्रियों के विषय में बहुत नीच हुआ करते हैं और वे "अवगुन आठ सदा उर बसहीं" अथवा "ढोल, गवाँर, शूद्र, पशु, नारी, ये सब ताड़न के अधिकारी" आदि वाक्यों को ब्रह्म-वाक्य मानकर उनमें पूर्ण विश्वास रखते हैं। जिस घर में स्त्री के अधिकार रक्षित जाते हैं और उसका विश्वास किया जाता तथा गृह-कार्यों में उससे सलाह ली जाती है उसके विषय में मूर्ख लोग हँसा करते और कहा करते हैं कि यहाँ तो "स्त्री का चलता" है यह बड़ी खेद की बात है। अपनी माता, बहिन और गृह-लक्ष्मियों के विषय में ऐसे विचार रखना और उन्हें अन्याय-पूर्वक ऐसा कलङ्कित करना बहुत अनुचित है। सच पूछो तो स्त्रियों में जो दोष दीख पड़ते हैं वे निरक्षरता एवं अशिक्षा के फल हैं, न कि स्वाभाविक हैं। जिस प्रकार मूर्ख रहने से पुरुषों में अनेक दोष पाये जाते हैं उसी प्रकार स्त्रियों में भी उनका होना कोई आश्चर्य्य की बात नहीं है; पर यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो मालूम होगा कि स्त्रियाँ स्वभाव से ही इतनी सच्चरित्रा होती हैं कि वे पुरुषों के सदृश इतने शीघ्र प्रलोभन में नहीं पड़तीं और अपने चरित्र की रक्षा करने में अधिक उद्योग करती हैं।

पाठ २.

स्त्रियों का सत्कार ।

स्त्रियों के विषय में हमारे ऐसे दूषित एवं अन्याय-युक्त विचार सदा से नहीं रहे हैं। प्राचीन काल में हमारी स्त्रियाँ न तो ऐसी निरादृता ही रहती थीं और न उनका ऐसा अपमान ही होता था। हम जिनका आदर करते हैं उन्हें नाम लेकर नहीं पुकारते। हिन्दुओं में पति-पत्नी एक दूसरे का नाम महा आपत्ति पड़ने पर भी नहीं लेते जिससे स्पष्ट सिद्ध है कि दोनों की बुद्धि परस्पर एकसी पूज्य रहती रही है। खेद की बात है कि वर्तमान समय में नाम न लेना भर रह गया है, सच्चा आदर नहीं दीख पड़ता। अब तो स्त्री " पैर की जूती " समझी जाने लगी है। प्राचीन काल में स्त्रियों के आदर होने का एक प्रमाण और है। जहाँ कहीं पति-पत्नी का नाम एक साथ आता है वहाँ पहले पत्नी का ही नाम रक्खा जाता है, पति का नहीं; यथा, राधा-कृष्ण, सीता-राम, पार्वती-परमेश्वर आदि। इससे तो यह अनुमान होता है कि उन दिनों में स्त्री पुरुष से भी अधिक आदर पाती थी। हमारे प्राचीन शास्त्रों में स्त्रियों के अधिक आदर के विषय में अनेक प्रमाण मिलते हैं, जिनमें से कुछ थोड़े से हम यहाँ उद्धृत करते हैं:—

पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा ।
पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः ॥ ५५ ॥

यत्र नार्य्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः ।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्व्वास्तत्राफलाः क्रियाः ॥५६॥

शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम् ।
न शोचन्ति तु यत्रैता वर्द्धते तद्धि सर्व्वदा ॥ ५७ ॥
जामयो यानि गेहानि शपन्त्यप्रतिपूजिताः ।
तानि कृत्याहतानीव विनश्यन्ति समन्ततः ॥ ५८ ॥
(मनु. अध्याय ३, श्लो० ५५—५८)

अर्थात्

कल्याण चाहने वाले पिता, भ्राता, पति और देवर स्त्रियों को पूजें अर्थात् उनका उचित सत्कार करें और उन्हें अलंकृत रक्खें।

जहाँ नारियों का सत्कार होता है वहाँ देवगण रमते अर्थात् हर्ष-पूर्व्वक निवास करते हैं और जहाँ उनका अनादर है वहाँ की सब क्रियायें निष्फल होती हैं।

जिस कुटुम्ब में स्त्रियाँ दुःख में रहती हैं उस कुटुम्ब का नाश शीघ्र होता है; पर जिसमें उन्हें सुख होता है उसकी सदा सम्वृद्धि होती है।

जिस घर में स्त्रियों का अनादर होता और वे शाप देती हैं उसका सर्व्वनाश चहुँ ओर से होता है।

शास्त्रों में स्त्री-पुरुष का एकसा मान होता है। दोनों के परस्पर कर्त्तव्य समान हैं। जिस प्रकार पतिव्रता बनना स्त्री का कर्त्तव्य है, उसी प्रकार पुरुष को भी पत्नी-व्रत होना उचित है। विवाह-बन्धन दोनों को एक सा बाँधता है। यह स्वाभाविक भी है कि पुरुष यदि इस बन्धन को तोड़े तो उसकी पत्नी भी कभी २ स्वधर्म्म से विचलित हो सकती है; पर बहुधा देखा जाता है कि वह अपना धर्म्म निबाहे ही चली जाती है चाहे उसका पति कितना ही लम्पट क्यों न हो। मनु कहते हैं—

अन्योन्यस्याव्यभिचारो भवेदामरणान्तिकः।
एष धर्म्मः समासेन ज्ञेयः स्त्रीपुंसयोः परः॥
तथा नित्यं यतेयातां स्त्रीपुंसौ तु कृतक्रियौ।
यथा नाभिचरेतां तौ वियुक्तावितरेतरम्॥
(मनु, अ० ९, श्लो० १०१, १०२)

अर्थात् मृत्यु-पर्य्यन्त दोनों को विवाह-बन्धन से एक सा बँधा और अव्यभिचारी रहना चाहिये। यह पति-पत्नी के धर्म्म का सारभूत अंश है।

विवाहित स्त्री-पुरुष को सदा यह प्रयत्न करना चाहिये कि वे कदापि अलग न हों और न अपने व्रत से कभी डिगें।

विवाह के समय भाँवर पड़ते २ कन्या प्रत्येक भाँवर के साथ एक एक प्रतिज्ञा करती है और वर भी उसके साथ प्रतिज्ञा-बद्ध होता है। एक संस्कृत-कवि ने क्या ही ठीक कहा है:—

नारी हि जननी पुंसां नारी श्रीरुच्यते बुधैः।
तस्माद् गेहे गृहस्थानां नारी पूज्या गरीयसी॥

अर्थात नारी ही पुरुषों की जननी है। पण्डित लोग इसीसे उसे गृह-लक्ष्मी भी कहते हैं। इस कारण गृहस्थों के घर में स्त्रियाँ अति पूज्य समझी जानी चाहिये।

दाम्पत्य अर्थात् पति-पत्नी के ये आदर्श हैं। आज कल पुरुष तो अपने को पूर्णतः स्वतंत्र मानते हैं और स्त्रियों को पूर्ण पतिव्रता रखना चाहते और वे अधिकांश रहती भी हैं; पर यह घोर अन्याय है, महापाप है। जिस पतिव्रता स्त्री का हृदय भीतर जलता रहता है उसके अन्तःशोक से

उसका पति कदापि सुखी नहीं रह सक्ता और उस घर का कल्याण कदापि नहीं हो सक्ता। वह स्त्री अपना अपमान न सह सकने से कभी २ निराश और क्रुद्ध हो अपने पतिव्रत धर्म्म से पतित हो जाती है जिससे सारा वंश सदा के लिये कलङ्कित हो जाता है, और होना भी चाहिये; क्योंकि पति के पशुवत् कर्म्मों से ही उसकी यह दशा होती है। साथ ही, दोनों में एक सा प्रेम न रहने पर जो सन्तान होती है वह किसी कामकी नहीं रहती।

श्रीसीताजी के निम्न-लिखित वचनों में पातिव्रत्य के लक्षण स्पष्ट दिखाये गये हैं—

प्राण-नाथ ! तुम बिनु जग माहीं।
मो कहँ सुखद कतहुँ कोउ नाहीं॥
जिय-बिनु देहु नदी बिनु बारी।
तैसहि नाथ ! पुरुष-बिनु नारी॥

अहा ! गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी श्रीसीताजी के इस निवेदन में पत्नी-प्रेम के भाव कैसे कूट कूटकर भरे हैं:—

नाथ ! सकल सुख साथ तुम्हारे।
शरद-विमल-विधु-वदन निहारे॥

दोहा

खग, मृग, परिजन, नगर, बन, बलकल विमल दुकूल।
नाथ-साथ सुर-सदन-सम, पर्णशाल सुखमूल॥

छिन छिन प्रभु-पद-कमल विलोकी।
रहिहौं मुदित दिवस जिमि कोकी॥
बन-दुख नाथ कहेउ बहुतेरे।
भय-विषाद-परिताप घनेरे॥

प्रभु-वियोग लवलेश समाना।
सब मिलि होहिं न कृपाधिाना॥
अस जिय जान सुजान-शिरोमणि।
लेइय संग मोहि छाड़िय जनि॥

दोहा

राखिय अवध जो अवधि लगि, रहत जानिअहि प्रान।
दीन-बन्धु! सुन्दर! सुखद! शील-सनेह-निधान॥

हमारे यहाँ की मूर्ख स्त्रियाँ कभी २ पति-प्रेम के कारण अपनी सखियों की हँसी करती हैं मानो ऐसा निश्चल प्रेम और वियोग-जनित सन्ताप कोई लज्जा की बात हो; पर वास्तव में यह लज्जा की बात नहीं, बरन कुलवती स्त्रियों का भूषण है। मनुजी कह चुके हैं कि पति-पत्नी को जहाँ तक संभव हो संग छोड़ना उचित नहीं है। कैसे खेद की बात है कि स्त्री को साथ रखना हम लोगों में एक अविनय की बात समझी जाती है और जो युवा पुरुष नौकरी-चाकरी पर अपनी युवती पत्नी को ले जाना चाहते हैं वे 'कलियुगी' जीव कहलाते हैं। ऐसे विचार धर्म्म-शास्त्रों के तथा प्रकृति और साधारण बुद्धि के विरुद्ध हैं और सास-ससुर के स्वार्थ-भाव के प्रमाण हैं।

जब श्रीरामचन्द्रजी सीताजी को साथ ले जाना स्वीकार करते हैं, तो उनके हर्ष की सीमा नहीं रहती और सती-धर्म्म की—अतुल दाम्पत्य-प्रेम की—जय होती है।

पाठ ३.

पतिव्रता-धर्म्म-निरूपण।

सती गान्धारी।

महारानी गान्धारी गान्धार देशके राजा की कन्या

और धृतराष्ट्र नरेश की धर्म्म-पत्नी थीं। स्व-वंश-नाशक दुर्योधन आदि कौरव-कुमार इन्हीं की कोख से उत्पन्न होकर इनकी उज्ज्वल कीर्ति में मानों लाञ्छन बने थे। महारानी गान्धारी के पति धृतराष्ट्र जन्म से ही अन्धे थे। विवाह होते ही इस सती ने विचारा कि पतिदेव जिस सुख से सदा के लिये वञ्चित हैं उसे आनन्द से भोगना पति-परायणा सती स्त्री के लिये अनुचित कार्य्य है; अतएव जिस दिन से महारानी धृतराष्ट्र की पत्नी हुईं उसी दिन से श्रीमती ने अपनी आँखों में पट्टी बाँध ली और जीते जी अपने नेत्रों से किसी प्रकार का सुख नहीं भोगा! बस, सच्ची पति-भक्ति और प्रगाढ़ सहानुभूति को सती गान्धारी देवी ने पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया।

प्यारी वहिनो! तुम्हारे धर्म्म-ग्रन्थों में ऐसी पति-भक्ति के असंख्य दृष्टान्त हैं। देवी अनुसूया ने श्रीसीताजी को स्त्री-धर्म्म का परम उत्तम उपदेश दिया है। रामायण के आरण्य कांड में उसका इस प्रकार उल्लेख है जो हिन्दू-महिलाओं के पति-धर्म्म को उत्तम रीति से प्रकट करता है। सुनोः—

अमित दान भर्ता वैदेही! अधम सो नारि जो सेव न तेही।
धीरज धर्म मित्र अरु नारी। आपद काल परखिये चारी।
वृद्ध रोग-वश जड़ धनहीना। अंध वधिर क्रोधी अति दीना।
ऐसहु पति कर किय अपमाना। नारि पाव यमपुर दुख नाना।
एकै धर्म एक व्रत नेमा। काय वचन मन पति-पद-प्रेमा।

जग पतिव्रता चार विध अहहीं । वेद पुराण संत अस कहहीं ।
उत्तम के अस बस मन माहीं । सपनेहु आन पुरुष जग नाहीं ।
मध्यम पर-पति देखहिं कैसे । भ्राता पिता पुत्र निज जैसे ।
धर्मविचारिसमुझिकुलरहहीं । सोनिकृष्टतियश्रुतिअसकहहीं ।
बिन अवसर भय ते रह जोई । जानहु अधम नारि जग सोई ।
पतिवंचक पर-पति-रति करई । रौरव नरक कल्प शत परई ।

श्रीसीताजी को इस उपदेश की आवश्यकता न थी, यह है संसार की अन्य स्त्रियों के लिये। इसका अर्थ यह नहीं कि माता-पिता बिना सोचे-समझे "वृद्ध, रोग-वश, जड़, धन-हीना, अंध, बधिर, क्रोधी, अति दीना" वर के साथ अपनी कन्याओं का विवाह कर दें। ऐसा करने वालों पर उनके दुश्चरित्रा हो जाने का पाप अवश्य पड़ेगा और ऐसे अन्यायी, स्वार्थी तथा अपनी कन्याओं वा बहिनों को बलात् पाप के गड्ढे में पटकने वाले अधम जन अवश्य ही उन पतित अबलाओं की अपेक्षा अधिक दुःख भोगेंगे; पर यदि भाग्य-दोष से या माता-पिता की निष्ठुरता से ऐसा पति मिला या पीछे से हो गया तो स्त्री को अपने कर्त्तव्य से विमुख न होना चाहिये, प्रत्युत गान्धारी देवी के कठिन स्त्री-व्रत का स्मरण रख अपना जन्म व्यतीत करना चाहिये। क्योंकि हिन्दू-समाज में उसके लिये कोई उपाय ही नहीं है, खास कर उच्च जातियों में। ऐसी अवस्था में हम तो नहीं समझते कि सीता, सावित्री, गान्धारी आदि आदर्श नारियों के देश वा जाति की सच्ची हिन्दू महिलाएँ ऐसा पवित्र जीवन न व्यतीत कर सकेंगी।

यद्यपि हम स्त्री-जाति के साथ न्याय-पूर्ण बर्ताव के पक्ष-पाती हैं, तथापि यह नहीं चाहते—स्वप्नमें भी नहीं चाहते—कि हमारे देश की वधुएँ अपने प्राचीन आदर्श त्याग

दें। जिस दिन ऐसा हुआ उसी दिन यह प्राचीन हिन्दू-जाति सदा के लिये गौरव-हीन हो जायगी।

विवाह-बन्धन का महत्त्व रोमन काथलिक ईसाई सम्प्रदाय में भी स्वीकार किया गया है और किसी कारण पति से असन्तुष्ट होकर पत्नी का उसे त्यागना धर्म्म-विहित नहीं माना गया। उपन्यास-लेखिका जार्ज इलियट ने अपने अपूर्व उपन्यास रोमोला में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन बहुत ही उत्तम रीति से किया है।

हमारे समाज में विवाह-सम्बन्धी कई दोष पीछे से आ जाने के कारण पति-पत्नी के मध्य जैसा प्रेम और परस्पर सत्कार रहना चाहिये वैसा नहीं रहता। बेजाड़ विवाहों से दाम्पत्य सुख-मय नहीं बन सका। वृद्ध पुरुषों का युवतियों के साथ विवाह कर देना एक अत्यन्त दूषित प्रथा है। ऐसी अस्वाभाविक प्रथाओं के रहते गार्हस्थ्य पाप-मय बन जाता है और कई पवित्र वंश कलङ्कित हुआ करते हैं। वृद्ध पति की युवती स्त्री का पति-व्रता रहना बहुत ही कठिन है। एक तो मूर्खता के कारण चरित्र-बल का अभाव, दूसरे प्राकृतिक नियमों का उल्लंघन! जो माता-पिता अपनी अबोध कन्याओं को वृद्ध पुरुषों के गले मढ़ देते हैं वे मनुष्य नहीं, पूरे नर-पिशाच हैं।

यह भी एक बड़े खेद की बात है कि ऊँच-नीच कुल के विचार से वर-कन्याओं का क्षेत्र बहुत संकुचित रहता है, तिसपर फिर ठहरौनी की प्रथा जिससे लोग यह तो देखते नहीं कि वर-कन्या के स्वाभाविक गुण मिलते हैं वा नहीं और इस सम्बन्ध से उत्तम सन्तान होना सम्भव है या असम्भव, वरन ऐसे पवित्र महत्व-पूर्ण सम्बन्ध को निरी

व्यापार-दृष्टि से देखते और जिनकी गाँठ जन्म भर के लिये जुड़ने वाली होती है उनकी रुचि का विचार तनिक भी नहीं करते हैं।

बाल-विवाह भी अत्यन्त दूषणीय एवं परम हानिकारक प्रथा है। इसके कारण हमारी जाति दिनों-दिन निर्बल पड़ती जाती और बाल-विधवाओं की संख्या बढ़ती जाती है। इन कु-प्रथाओं से पवित्र गार्हस्थ्य ही नष्ट नहीं होता, बरन सारी जाति का शारीरिक बल, बुद्धि एवं पुरुषार्थ दिनोंदिन घटता जाता है।

अब हम आदर्श दाम्पत्य के कुछ थोड़े से दृष्टान्त देकर यह बतलाते हैं कि पति-पत्नी का परस्पर व्यवहार किस प्रकार का होना चाहिये।

पाठ ४.

श्रीसीता-राम का अनुपम दाम्पत्य।

रामायण पढ़ने से स्पष्ट मालूम होता है कि श्रीसीताजी तथा श्रीरामचन्द्रजी का परस्पर प्रेम हम सब गृहस्थों के लिये आदर्श है। सीताजी अपने पति के सुख-दुःख की सच्ची संघातनी थीं। जब तक सुख के दिन रहे, तब तक दोनों आनन्द-पूर्वक गृहस्थी का अतुल सुख भोगते रहे; पर क्लेश भोगने का समय आने पर अपने पति का साथ देने के लिये सीताजी अपने मायके तथा सासुरे का सारा सुख त्याग एक साधारण तपस्विनी के वेश में वन वन फिरने और असंख्य कष्ट भोगने को सहर्ष तय्यार हो गईं। श्रीरामचन्द्रजी ने बहुत समझाया; वन की विकट आपत्तियों

का वर्णन कर उन्हें भय-भीत करना चाहा; पर सीताजी के सच्चे पति-प्रेम ने उन्हें अतुल साहस प्रदान किया। उन्होंने बड़े विनीत भाव से बार बार यही उत्तर दिया कि "पति-वियोग की अपेक्षा वनवास के सारे क्लेश पासंग-बराबर भी नहीं हैं। वे अपने कर्त्तव्य से विमुख नहीं हुई, बरन आग्रह-पूर्वक साथ चलने के लिये बार बार विनय करती रहीं। श्रीसीताजी के वे वचन स्त्री-मात्र के लिये आदर्श-रूप एवं सच्ची पति-भक्ति के ज्वलन्त दृष्टान्त हैं। श्रीरामचन्द्रजी के उपदेश-मय वचनों को सुनकर सीताजी की जैसी दशा हुई और उन्होंने जो अमृत-मय वचन कहे उनका उल्लेख रामायण में इस प्रकार है:—

उतर न आव बिकल वैदेही।
तजन चहत मोहि परम सनेही॥
बरबस रोक बिलोचन बारी।
धरि धीरज उर अवनि-कुमारी॥
लागि सास-पद कह कर जोरी।
छमव देवि बड़ि अविनय मोरी॥
दीन प्राण-पति मुहि सिख सोई।
जिहि बिधि मोर परमहित होई॥
मैं पुनि समुझि दीख मन माहीं।
पिय-बियोग-सम जग दुख नाहीं॥
प्राणनाथ करुणा-यतन, सुन्दर सुखद सुजान।
तुमबिनु रघुकुल-कुमुद-बिधु, सुर-पुर नरक-समान॥
जहँ लगि नाथ! नेह अरु नाते।
पिय-बिनु तियहिं तरणिहुँ ताते॥

तनु-धन-धाम-धरनि-पुर-राजू।
पति-विहीन सब शोक-समाजू॥

श्रीसीताजी वन जाने की आज्ञा पाकर रमणी-प्रिय वस्तु आभूषणादि को सहर्ष त्याग वनवासियों के से वस्त्र बड़े चाव से पहिन लेतीं और तनिक आह तक नहीं करती हैं। चाहे सर्वस्व त्यागना पड़े, पर प्रियतम का साथ न छूटे—बस, वे इतना ही चाहती हैं। इसके प्राप्त हो जाने से वे सारे राज-सुख को कोई वस्तु नहीं समझती। वन में पति के साथ रहने से उन्हें क्लेश का अनुभव नाम को भी नहीं होता और भयङ्कर जङ्गल में वे सहर्ष भ्रमण करती हैं। श्रीरामचन्द्रजी तो उनके क्लेशों से व्याकुल हो उठते हैं; पर सीताजी को उनका भान भी नहीं होता। प्रेम! धन्य है तुझे, जो ऐसी कोमलाङ्गियों को भी ऐसा सहिष्णु बना देता है।

श्रीसीताजी का पति-प्रेम जैसा अगाध है वैसीही उनकी बुद्धि भी विलक्षण है। उनका सारा समय प्रेम-लीला में नहीं, वरन अपने प्रियतम के साथ अनेक विषयों पर वार्तालाप करने में भी व्यतीत होता है और आप इस तरह सच्चे मित्र का कार्य्य करती हैं। आपकी दी हुई सम्मति बुद्धि-मानी से परिपूर्ण रहा करती है, सारे विचार पति को सुखी रखने के प्रयत्न में लगे रहते हैं और वे समय पर निरी दासी के समान उनकी सेवा करतीं और परम सुख पाती हैं। पति का हित ही उनका एक-मात्र ध्येय है; अतएव आप सच्ची आर्य्य-पत्नी हैं। कहा है:—

"भर्तुरेवहितमिच्छति यत् तत् कलत्रम्।"

अर्थात् अपने पति का न कि अपना हित चाहने वाली स्त्री ही सच्ची पत्नी है।

अन्त में जब रावण हर ले जाता है और उन्हें पति-वियोग सहना पड़ता है तो श्रीसीताजी की दशा अत्यन्त कारुणिक हो जाती है और वे अहर्निश श्रीरामजी के नाम का ही जप करती हैं। श्रीराम के परम प्रताप का स्मरण कर वे रावण से कहती हैं—

जिमि हरि वधुहिं क्षुद्र शश चाहा।
भयेसि कालवश निशचर-नाहा॥
वायस कर चह खगपति समता।
सिन्धु समान होइ किमि सरिता॥

पर, जब वह उन्हें बलात् ले ही जाता है तो उनका साहस टूट जाता और वे बड़े कारुणिक शब्दों में पुकारती हैं:—

हा जगदीश! देव! रघुराया!
किहि अपराध बिसारेहु दाया॥

उस कठिन समय का सीताजी का अति हृदय-विदारक करुणा-पूर्ण विलाप सुनकर:—

पंचवटी के खग-मृग जाती।
दुखी भये वनचर बहु भाँती॥
सीता कर विलाप सुन भारी।
भये चराचर जीव दुखारी॥
करति विलाप जाति नभ सीता।
व्याध-विवश जनु मृगी सभीता॥

रावण ने सहस्र उपाय किये, भय दिखाया, प्रेम प्रदर्शित किया, पर भला ऐसे दुष्ट लोग सतियों को भी कभी अपने धर्म्म से पतित कर सके हैं?

अँगरेज़ महाकवि जान मिल्टन सतीत्व-रक्षा के विषय में कैसे उच्च भावों का उल्लेख कर गये हैं। अपनी "कोमस" नामक नाटिका में कवि-वर लिखते हैं:—

'Tis chastity, my brother, chastity:
She that has that is clad in complete steel
And like a quivered nymph with arrows keen
May trace huge forests, and unharboured heaths
Infamous hills & sandy perilous wilds
Where, through the sacred rays of chastity,
No savage fierce, bandit or mountaineer
Will dare to soil her virgin purity.

... ...

So dear to heaven is saintly chastity
That, when a soul is found sincerely so
A thousand liveried angels lackey her
Driving far off each thing of sin & guilt.

भावार्थ यह है कि हृदय की पवित्रता सती स्त्री का कवच है और इस कवच को धारण किये हुए वह भयङ्कर स्थानों में उसी प्रकार स्वच्छन्द फिर सक्ती है जिस तरह एक धनुर्धारी तीखे बाणों से सुसम्पन्न होकर वन २ विचरता है। बड़े २ डाकू, चोर, चाण्डाल, आदि भयङ्कर जीव भी सती का बाल बाँका नहीं कर सक्ते। ईश्वर को सतीत्व इतना प्रिय है कि जिस रमणी के हृदय में वह रहता है उसकी रक्षा के लिये सहस्रों ईश्वर-दूत उसके साथ रहते और पाप तथा अधर्म्म को पास नहीं फटकने देते।

अन्त में दुष्ट रावण को हार मान बैठना ही पड़ा। त्रिलोकी को अपने वश में रखने-वाला दशकन्धर

इतना सब करने पर भी एक कोमलाङ्गी सतीको स्व-वश नहीं कर सका और अन्त में उसकी शाप से सकुटुम्ब नष्ट हो गया। सीताजी ने यह दुःख-मय समय अपने पति-देव की एकान्त आराधना में ही व्यतीत कर डालाः—

दोहा—जेहि विधि कपट कुरङ्ग सँग, धाइ चले श्रीराम।
सो छवि सीता राखि उर, रटत रहत हरिनाम॥

श्रीरामचन्द्रजी पर सीता का जैसा अगाध एवं अटल प्रेम था वैसा ही उनका भी अपनी प्रियतमा पर था। सीता-हरण के पश्चात् उनके शोक और विलाप से इसका पता लगता है। जब श्रीरामजी स्वर्णमय-हरिण-रूपी राक्षस मारीच को मारकर अपनी कुटी को लौटे और वहाँ सीताजी को नहीं पाया, तो उन्हें भी असीम शोक हुआ और वे भी उसके तीव्र वेग से विक्षिप्त हो वन २ फिरने, "सीता २" कहकर पुकारने और वृक्षों को मनुष्य समझकर उनसे सीताजी का पता पूछने लगे। श्रीरामजी के सदृश बुद्धिमान्, ज्ञानी तथा महापुरुष ऐसे-वैसे शोक से विह्वल नहीं हो सकते थे। अवश्य ही उनके दुःख की सीमा न रही होगी, नहीं तो वे विक्षिप्त से होकर ऐसा विलाप न करते। जिस समय युवराज होने के बदले उन्हें १४ वर्ष के वनवास की कठोर आज्ञा सुनाई गई उस समय उन्होंने तनिक आह तक न की; पर वे ही निर्विकार श्रीरामचन्द्रजी सीता-वियोग से ऐसे व्याकुल हो उठे। उनका अनुपम प्रेम ही इस व्याकुलता का कारण था।

चौ०—आश्रम देखि जानकी-हीना।
भये विकल जस प्राकृत दीना॥
परदुखहरन शोक दुख नाहीं।
भा विषाद तिन्ह के मनमाहीं॥

हा गुणखानि जानकी सीता।
रूप-शील-व्रत-नेम-पुनीता ॥
लछमन समुझाये बहु भाँती।
पूछत चले लता अरु पाँती ॥
किमि सहि जात अनख तोहिं पाहीं।
प्रिया वेग प्रगटसि कस नाहीं ॥

फिर देखिये; जब श्रीराम ने लोकापवाद के कारण प्रजा-मन-रंजन एवं मर्य्यादा-पालन का आदर्श बनकर श्रीसीताजी को वन में छोड़ आने के लिये लक्ष्मणजी को आज्ञा दी और लक्ष्मणजी ने यह भीषण संवाद उन्हें सुनाया उस समय सीताजी के उद्‌गारों का उल्लेख कविवर कालिदास ने अपने महाकाव्य रघुवंश में इस तरह किया है:—

कल्याणबुद्धेरथवा तवायं न कामचारो मयि शङ्कनीयः।
ममैव जन्मान्तरपातकानां विपाकविस्फूर्ज्जथुरप्रसह्यः ॥
उपस्थितां पूर्व्वमपास्य लक्ष्मीं वनं मया सार्द्धमसि प्रपन्नः।
तदास्पदं प्राप्य तयाऽतिरोषात सोढ़ाऽस्मि न त्वद्भवने वसन्ती।
निशाचरोपप्लुतभर्तृकाणां तपस्विनीनां भवतः प्रसादात्।
भूत्वा शरण्या शरणार्थमन्यं कथं प्रपत्स्ये त्वयि दीप्यमाने ॥
किंवा तवात्यन्तवियोगमोघे कुर्य्यामुपेक्षां हतजीवितेऽस्मिन्।
स्याद्रक्षणीयं यदि मे न तेजस्त्वदीयमन्तर्गतमन्तरायः ॥
साऽहं तपः सूर्य्यनिविष्टदृष्टिः ऊर्ध्वं प्रसूतेश्चरितुं यतिष्ये।
भूयो यथा मे जन्मान्तरेऽपि त्वमेव भर्ता न च विप्रयोगः ॥

अर्थात् शुभ बुद्धिवाले आप मेरे ऊपर व्यभिचार की शंका नहीं कर सक्ते। मेरे ही पूर्व्व जन्म के पापों का फल-रूप इस असह्य दुःख का उदय हुआ है। पहले वन-वास के समय स्वयं उपस्थित हुई राज्य-लक्ष्मी को छोड़कर

आप मेरे साथ वन को गये थे। वह राज्य-लक्ष्मी आज आपको पाकर आपके साथ मेरा रहना कैसे सह सकती है? आपकी कृपा से मेरी शरण में ऋषि-पत्नियाँ आती थीं; क्योंकि उनके पतियों को राक्षस सताते थे। वही मैं आज आपके वियोग से निष्फल हुए इस जीवन को छोड़ क्यों न दूँ? पर, बाधा यही है कि आपका गर्भ मेरी कोख में है। मैं पुत्र उत्पन्न होने के उपरान्त सूर्य्य-मण्डल में दृष्टि लगाकर तप करने की चेष्टा करूँगी, जिससे दूसरे जन्म में भी आप ही मेरे पति हों; वियोग न हो। (रघुवंश, सर्ग १४)

धन्य हो माता सीते! सारा दोष अपने ही सिर पर ले लिया, पति-देव की भर्त्सना तुम्हारे श्रीमुख से कैसे निकल सकती थी? श्रीरामचन्द्रजी ने तो तुम्हारा त्याग करके राजधर्म्म का उज्ज्वल आदर्श सबके सन्मुख रक्खा। उनके लिये यह त्याग अपने हृदय को सहसा तोड़-मरोड़कर बाहर फेंक देने के तुल्य था; मर्य्यादा-पालनार्थ उन्होंने यह अलौकिक त्यागकर दिखाया और ऐसे दारुण दुःख के समय में भी तुमने उनको नहीं धिक्कारा यह तुम्हारे ही तुल्य सतियों का काम था। बस, जिस देश में श्रीसीता-राम के दाम्पत्य का आदर्श विद्यमान है उसमें गृहस्थी के उज्ज्वल जीवन का ह्रास होना एक बड़े आश्चर्य्य की बात है; पर नहीं, मूर्खता राक्षसी जहाँ प्रबल होती है वहाँ मनुष्य अपने पूर्वजों के उच्च आदर्श इसी प्रकार भूल जाते हैं। तब भी ऐसे उज्ज्वल आदर्श व्यर्थ नहीं जाते। अब भी इस देश में ऐसी स्त्रियाँ हैं जो पति-वियोग सहन करने के बदले अपने प्राण दे बैठती हैं। ऐसा प्राण-त्याग चाहे स्तुत्य न कहा जाय; पर

इतना अवश्य कहा जा सक्ता है कि यह पुण्य देश भारतवर्ष अब भी सती स्त्रियों से नितान्त शून्य नहीं है।

पाठ ५

सती सावित्री (१)

मद्रदेशाधिपति अश्वपति की अवस्था अधिक हो जाने पर भी वे सन्तति-सुख से वञ्चित थे। निदान देव-देवताओं की निरन्तर आराधना करने से उनके यहाँ एक कन्या-रत्न ने जन्म लिया जिसका नाम सावित्री रक्खा गया। सावित्री जैसे २ बढ़ती गई वैसे २ उसका रूप-रंग भी अत्यन्त मनोहर होता गया। उसे देख लोग कहा करते थे कि अश्व-पति के पूर्व जन्म के पुण्य से प्रसन्न हो किसी देवी ने उनके घर जन्म लिया है। निदान उसका यह रूप-लावण्य ही उसके मार्ग में बाधक बन बैठा; क्योंकि जितने राजकुमार उसकी इस दिव्य छवि का अवलोकन करते उनके हृदयों में सावित्री के प्रति पवित्र सात्विक भाव की स्फूर्ति होती और वे उसे देवी समझ उसके साथ मातृ-भाव रखने लगते थे। इसी तरह वर्ष पर वर्ष बीतने लगे; पर किसी राजकुमार ने सावित्री के पाणि-ग्रहण का साहस न किया। इससे सावित्री के माता-पिता बहुत चिन्तित रहने लगे और अन्त में निराश हो महाराज अश्वपति ने उसे आज्ञा दी कि देशाटन करके अपने अनुरूप पति तू आप ही ढूँढ़ ले।

पिता की आज्ञा मान सावित्री दल-बल सहित अपने भावि वर की खोज में प्रस्थानित हुई। कई मास

बीत जाने पर एक दिन यह राज-कन्या घर लौटी और उसके माता-पिता ने वर के विषय में उससे अनेक प्रश्न किये। निदान अपने प्रिय माता-पिता को चिन्तित एवं अधीर देख उसे लज्जा त्याग अपने मनोनीत वर का वृत्तान्त बतलाना पड़ा जिससे उन्हें परम हर्ष हुआ। यह युवा जिसे सावित्री ने पति-भाव से स्वीकार किया था शल्व देश के पद-च्युत राजा द्युमत्सेन का पुत्र सत्यवान था। वह इस आपत्ति की दशा में अपने वृद्ध और अन्धे पिता के साथ वन में रहता और लकड़ी काट और बेचकर मातापिता का निर्वाह करता था।

जिस समय सावित्री घर लौटी उसी समय श्रीनारद मुनि भी विचरते २ अश्वपति के यहाँ आ पधारे। उन्हींके साम्हने सावित्री ने यह सब वृत्तान्त सुनाया जिससे मुनि महाराज अत्यन्त दुःखित हो बोले कि " हे राजन्! बड़ा अनर्थ हुआ। सावित्री यदि इस वर से विवाह करेगी तो केवल एक ही वर्ष सधवा (अहिवाती) रहेगी, शेष जीवन उसे पति-विहीना विधवा होकर व्यतीत करना पड़ेगा।"

नारद मुनि के ये वचन सुनकर महाराज अश्वपति बहुत निराश हुये और सावित्री के कोमल हृदय पर भी बड़ा आघात पहुँचा; पर जब उसके माता-पिता तथा नारदजी ने उससे कहा कि " सत्यवान को भूलकर किसी दूसरे वर को ढूँढ़ " तो उसने बड़ी दृढ़ता से उत्तर दिया कि आर्य-महिलायें जन्म में एक ही पुरुष को वर मानती हैं, दो को नहीं। मैंने हृदय से सत्यवान को अपना पति मान लिया है; अतएव अब दूसरे वर के लिये उसमें स्थान नहीं

है। अब तो वही मेरा पति होगा, होनी अनहोनी चाहे जो हो।" सावित्री का ऐसा सती-भाव और दृढ़ता देख नारद ने राजा से कहा कि "हे राजन्! तुम्हारी कन्या जो प्रतिज्ञा कर चुकी है उससे विचलित नहीं होने की; अतएव मैं उसे आशीर्वाद देता हूँ कि यह विवाह कल्याण-कारी हो।" ऐसा कहकर नारदजी चले गये।

नारदजी के आशीर्वाद से महाराज अश्वपति को कुछ आशा हुई और सावित्री का आग्रह देख उन्होंने वाण-प्रस्थ द्युमत्सेन के पास फलदान लेकर मंत्री और पुरोहित को भेजा। वर-पिता द्युमत्सेन इस अभीष्ट सम्बन्ध से बहुत प्रसन्न हुए और ठीक मुहूर्त पर सावित्री-सत्यवान का विवाह हो गया। अश्वपति ने अपने समधी को बहुत कुछ द्रव्य और भूमि देनी चाही; पर उन्होंने यह सब अस्वीकार किया और सावित्री की बिदा कराकर अपनी कुटी को ले गये। सावित्री ने भी अपने प्रिय पति की दशा के अनुसार सुख-पूर्वक रहना उचित समझा और अपना सब ऐश्वर्य्य त्याग वह एक निरे लकड़हारे की स्त्री के समान रहने लगी। अपने वृद्ध एवं अन्धे ससुर तथा अपने स्वामी की सेवा में ही उसका सारा समय बीतने लगा। जैसे २ मास के बाद मास बीतते जाते थे और वर्ष का अन्त समीप आता जाता था वैसे २ सावित्री की चिन्ता बढ़ती जाती थी; पर ऊपर से वह अपना गूढ़ भेद किसी पर प्रगट नहीं होने देती थी। भीतर ही भीतर वह अपने पति की शुभ कामना में अपने इष्टदेव की अविरल आराधना करती रहती थी। जब पति की मृत्यु के ४ ही दिन रह गये तो सावित्री ने निर्जल व्रत ठाना और ईश्वरोपासना में प्रतिक्षण व्यतीत करने लगी।

निदान वर्ष का अन्तिम दिन आ पहुँचा प्रातःकाल होते ही गृह-कार्य्यों से निवृत्त हो सावित्री ने अपने पूज्य ससुर तथा वन-वासी तपस्वियों के चरण छुए और प्रत्येक का आशीर्वाद पाकर उसने सत्यवान के साथ वन जाने की उत्कट इच्छा प्रकट की। यह सुन पिता-पुत्र दोनों स्तब्ध हो गये और बार बार समझाने लगे कि "राजकुमारियों को वन २ फिरना शोभा नहीं देता इसके सिवा, स्वभाव से ही भीरु स्त्रियों के लिये वन-भ्रमण संकटमय है; इसलिये तू वहाँ जाने का हठ छोड़।" अन्त में जब सत्यवान ने देखा कि इसकी बड़ी इच्छा है कि मेरे साथ चलकर वन की शोभा देखे तो पिताको समझा-कर वह सावित्री को साथ ले गया।

वन में पहुँच सत्यवान ने पत्ते एकत्र कर सावित्री के बैठने के लिये बिछा दिये और इधर-उधर फल-मूल तोड़ वा खोदकर अपना थैला भर लिया, फिर ईंधन के लिये वृक्षों की सूखी शाखायें काटने में प्रवृत्त हुआ। सावित्री भी सच्चे हृदय से पति की शुभ कामना करने और देवी-देवता मनाने लगी। अकस्मात् सत्यवान् के सिर में पीड़ा होने लगी और वह लकड़ी काटना छोड़कर सावित्री के समीप आया और लेट गया। सावित्री मारे शोक और चिन्ता के व्याकुल तो बहुत हुई; पर उसने अपने मन के भाव प्रकट नहीं होने दिये और प्रिय पति का सिर अपनी जाँघ पर रखकर एक पत्ते से मन्द २ बयारि करने और साथ ही प्रतिक्षण यमराज के पहुँचने की प्रतीक्षा करने लगी।

पाठ ६.

सती सावित्री (२)

निदान उसे ऐसा भास हुआ मानो एक दीर्घकाय, कृष्णवर्ण तेजस्वी पुरुष लाल वस्त्र धारण किये समीप ही खड़ा है और तेजोमय दृष्टि से इकटक उसके पति की ओर निहार रहा है। कहते हैं कि पति-व्रता सती स्त्री अपने व्रत के प्रभाव से दिव्य दृष्टि प्राप्त कर लेती है जिससे उसे अदृश्य देवगण आदि भी स्पष्ट दीख पड़ते हैं। पति-व्रत भी एक प्रकार का योग-बल है जिसके द्वारा सती स्त्रियाँ बड़े बड़े चमत्कार कर सकती हैं और प्राकृत स्त्री-पुरुषों के समान उन्हें शीतोष्ण आदि द्वन्द्व नहीं व्यापते। ज्यों ही सावित्री की दृष्टि इस पुरुष पर पड़ी त्योंही वह अपने पति का सिर भूमि पर रखकर खड़ी हो गई और बड़े नम्र भाव से उसने उस पुरुष को प्रणाम किया। उसने गंभीर स्वर से सावित्री से कहा "हे राजकुमारि! तेरे पति सत्यवान का अन्त काल आ पहुँचा। मैं यम हूँ और इसके जीवात्मा को लेने आया हूँ। ऐसे सच्चरित्र पुरुष को लेने के लिये मैंने अपने दूत भेजना उचित नहीं समझा; इसलिये स्वयं उपस्थित हुआ हूँ।" इतना कह यम-राज ने सत्यवान के स्थूल शरीर से उसका सूक्ष्म शरीर विलग किया और इसे ले वे दक्षिण दिशा को प्रस्थानित हुए। सती सावित्री भी उनके पीछे २ चली। कुछ दूर जाकर यमराज ने जो पीछे की ओर देखा तो सावित्री को आते पाया। उसकी दयावनी आकृति देख यमराज को भी दया आई और वे बोलेः—

यम—सावित्री ! बस, तू अपना कर्त्तव्य कर चुकी, अब घर लौट जा और अपने मृत पति का शास्त्र-विहित मृतक-संस्कार कर और इस तरह अपना धर्म्म पाल। अब मर्त्य-लोक-निवासी यहाँ से एक पग भी आगे नहीं जा सके; अतएव तू शीघ्र लौट।

सावित्री—हे धर्म्म-राज ! आप तो सर्व्वज्ञ हैं और स्त्रियों का धर्म्म जानते ही हैं। भला मैं अपने पति को छोड़कर कैसे लौटूँ ? पति के साथ सर्व्वदा रहना क्या कुल-वधुओं का धर्म्म नहीं है ? क्या भाँवर पहली बार मैंने यह प्रतिज्ञा नहीं की थी :—

सुख-दुःखानि च कर्म्माणि भोक्ष्येऽहं च त्वया सह।

अथवा

गार्हस्थ्ये च सहायाहं सुखदुःखानुवर्तिनी।

फिर कहिये, इस कठिन समय में अपने पति का साथ कैसे छोड़ूँ ? क्या आप मुझे अपने धर्म्म से विमुख करना चाहते हैं ? क्या धर्म्मराज कहलाने वाले महात्मा को यह शोभा देता है ? जहाँ पति जाय वहाँ पत्नी को भी जाना उचित है—यह पुरातन धर्म्म है। यदि मैं सच्ची सती हूँ, यदि मैंने अनन्य भाव से अपने पति-देव की आराधना की है, यदि स्व-धर्म्म-पालन का कोई फल है तो हे यम-राज, दया कीजिये और मेरे मार्ग में अवरोध न डालिये। मैंने अपने जान सदा धर्म्म किया है, अपने सास-ससुर को अपनी सेवा-शुश्रूषा से सदा प्रसन्न रक्खा है और अपने पति के सिवा दूसरे को नहीं जाना और दूसरी भाँवर के समय जो मैंने यह प्रतिज्ञा की थीः—

शुचिश्शृंगारभूपाहं वाङ् मनःकार्यकर्म्मणा।
नाऽहं परतरं इच्छे द्वितीये साब्रवीदिदं ॥

उसका पालन करती आई हूँ, फिर मेरी कामना पूर्ण करने में, स्व-धर्म-पालन में, आपको सहायता करना उचित है, न कि मेरे मार्ग में कण्टक बनना।

यम—पुत्रि! तू बड़ी बुद्धिमती है, बड़ी धर्म्म-रता है, तेरे वचन अत्यन्त श्रुति-मनोहर हैं। मैं तुझसे बहुत प्रसन्न हूँ। अपने पति की आयुर्बल के अतिरिक्त तुझे जो वरदान चाहिये सो माँग ले, मैं देने को तय्यार हूँ।

सावित्री—महाराज! मेरे ससुर अन्धे हैं, उनके लिये सारा संसार अन्धकार-मय हो रहा है, आप उन्हें नेत्र दीजिये।

यम—एवमस्तु! अब जा, लौट जा।

सावित्री—नहीं महाराज! क्षमा कीजिये। मैं अपना धर्म्म कैसे त्यागूँ? मुझे अपने पति का साथ न छोड़ना चाहिये। फिर आपका सत्संग! मैं आपके लोक में रहकर सुखी रहूँगी, मुझे अवश्य चलने दीजिये।

यम—अरी बावरी, बिना आयुर्बल क्षीण हुए और अपने कर्म्मों का फल भोगे कोई मर्त्य कहीं यमलोक जा सक्ता है? अभी तेरा समय तो आया नहीं, भला तू कैसे चलेगी? अच्छा, एक वरदान और देता हूँ, सो माँग ले और घर जा।

सावित्री—महाराज! दुष्टों ने जो मेरे ससुर का राज्य छीन लिया है, वह उन्हें फिर प्राप्त हो यही वरदान दीजिये।

यम—तथास्तु! बस, अब लौट जा, बेटी। अब तू आगे नहीं जा सक्ती।

दृढ़-प्रतिज्ञ सती सावित्री जो अपने स्वामी के साथ यमलोक जाने को भी कटिबद्ध थी, भला कहीं यम की बातों में आने वाली थी? ऐसी साध्वी स्त्रियों पर मृत्यु का कुछ वश नहीं चलता। सावित्री ने फिर भी पीछा किया और उनकी स्तुति करती हुई आगे बढ़ी। बेचारे यम-राज की क्या शक्ति थी जो इस सती की अटल प्रतिज्ञा को टाल सकें। उन्होंने विवश हो सावित्री को दो वरदान और दिये। वे ऐसे घबराये कि उन्हें पीछा छुड़ाने की ही पड़ी और आगा-पीछा सोचे-विचारे ही बिना उन्होंने दो वरदान देना स्वीकार कर लिया। पहिला यह था कि मेरे पिता के १०० और दूसरा यह कि मेरे भी उतने ही पुत्र हों। वर-दान सुनते ही यम ने "एवमस्तु" कहकर समझा कि अब यह लौट जायगी और घबराहट तथा उतावली के कारण वे यह न विचार सके कि दूसरा वरदान देने से मैं धर्म्म-संकट में पड़ूँगा। निदान जब उन्होंने सावित्री से लौट जाने के लिये कहा तो उसने बड़ा आश्चर्य्य सा प्रगट किया और कहा:—

सावित्री—भगवन्! आप यह क्या कर रहे हैं? क्या धर्म्म-राज के वचन भी कभी मिथ्या होते हैं? मुझे तो यह पूर्ण विश्वास है कि आप मुझ अबला के साथ छल न करेंगे। यदि ऐसा हुआ तो संसार में धर्म्म-मर्य्यादा बिलकुल टूट जायगी और किसीका किसीके वचन पर विश्वास ही न रहेगा। सावधान हो जाइये, अपने धर्म्म से पतित न हूजिये।

यम (बड़े आश्चर्य्य से)—बेटी! छोटे मुँह बड़ी बात! मुझपर व्यर्थ दोषारोपण करने का तुझे इतना

साहस! धर्म्म से विमुख होना कैसा! अपना अभि-प्राय स्पष्ट शब्दों में प्रगट कर।

सावित्री—भगवन्! मेरी ढिठाई क्षमा कीजिये, पर समय ही ऐसा है कि मुझे यह अविनय करनी पड़ती है। सुनिये, आपने मुझपर असीम कृपा की है और अपने अटल नियमों को भंग करके मेरे स्वामी को जीव-दान दिया है। क्या देवगण वरदान देकर उसे धर्म्म-पूर्व्वक मेट सक्ते हैं? क्या आप मेरे प्रिय पति को जीव-दान देकर फिर यम-लोक ले जा सक्ते हैं?

यम—तेरे पति को जीव-दान! यह कैसे?

सावित्री—भगवन्! तो क्या आप मुझे नरक-गामिनी बनाना चाहते हैं? यदि आप मेरे पति को जीवदान न देंगे तो सतीत्व खोये बिना १०० पुत्र पाने का वरदान कैसे सफल होगा? आप जानते ही हैं कि मैं सती हूँ, पतिव्रता हूँ, इसलिये अपना धर्म्म पालने के लिये आप मेरे प्राणेश्वर को छुटकारा दीजिये।

यह सुन यम-राज को अपनी भद्दी भूल ज्ञात हुई और वे स्तब्ध हो मन ही मन अपनी मूर्खता पर पछताने लगे। अन्त में उन्होंने देखा कि कोई बुराई नहीं हुई है, केवल मृत्यु पर सतीत्व ने जय पाई है। यह सावित्री साक्षात् देवी है।

निदान यमराज ने सत्यवान के सूक्ष्म शरीर को पाश-मुक्त करके स्वतंत्रता प्रदान की। घर आने पर उन दोनों ने देखा कि पिताजी को नेत्र-लाभ हुआ तथा वे अपना सारा खोया हुआ राज्य और ऐश्वर्य्य प्राप्त कर चुके हैं।

धन्य हो सावित्री! तुमने अपनी आदर्श पति-भक्ति द्वारा मृत्यु पर विजय प्राप्त कर युग-युगान्तर के लिये अपनी सुकीर्ति का स्मारक-स्तंभ स्थापित कर दिया जिससे तुम्हारे शुभ नाम को प्रातःस्मरणीय समझकर प्रत्येक हिन्दू-रमणी उसका स्मरण करती और अपने को कृतार्थ समझती है।

पाठ ७.

भायप का भ्रातृ-स्नेह (१)

हमारे यहाँ भाई भाई का सम्बन्ध प्रेम की नींव पर किस तरह स्थित रहा है सो हमारे साहित्य से स्पष्ट विदित होता है। रामायण में माता-पिता, पुत्र-पुत्री, पति-पत्नी, भाई-भाई, गुरु-शिष्य, स्वामि-सेवक आदि जितने संबंध हैं उनके आदर्श बहुत ही उत्तम रीति से दर्शाये हैं। श्री-राम और उनके तीनों भाइयों में परस्पर कैसा प्रेम था सो रामायण के प्रत्येक काण्ड में दिखलाया गया है। इन चारों में जैसा प्रगाढ़ प्रेम था वैसी ही छोटे भाइयों के हृदयों में बड़े भाई के प्रति पूज्य बुद्धि थी। श्रीराम को भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न पिता के सदृश मानते और वैसा ही उनका सत्कार भी करते थे। प्रत्येक दशा में वे श्रीरामजी की आज्ञा शिरोधार्य समझते थे।

रामायण में लिखा है कि चारों भाई एक साथ खेलते, एक साथ पढ़ते और एक साथ सोते थे। वे क्षण भर भी अलग न रहते, तो भी कभी लड़ते-भिड़ते नहीं थे।

श्रीराम का अधिक आदर होते देख उनके मन में कभी ईर्ष्या नहीं होती थी। श्रीराम को भी जब युवराज का पद दिया जाने को था, तो आप पछताते थे कि इस रघुवंश में यह एक बड़े अन्याय की बात है कि एक ही भाई राज्य पाता और शेष उसकी प्रजा बनकर रहते हैं।

गुरु सिख देइ रामपहँ गयऊ।
राम हृदय अति विस्मय भयऊ॥
जनमे एक संग सब भाई।
भोजन, शयन, केलि लरकाई॥
कर्णवेध, उपवीत, विवाहा।
संग संग सब भये उछाहा॥
विमल वंश यह अनुचित एका।
अनुज विहाय बड़ेहि अभिषेका॥

साथ ही लक्ष्मण ने जब श्रीराम की ऐसी उन्नति का हाल सुना तो वे मारे हर्ष के फूले अंग नहीं समाते और दौड़कर श्रीराम के पास पहुँचते हैं—

तेहि अवसर आये लखण, मगन प्रेम-आनन्द।
सनमाने प्रिय वचन कहि, रघु-कुल-कैरव-चन्द॥

जब श्रीराम वन को जाने लगे तो लक्ष्मणजी सारा सुख और वैभव त्याग उनके साथ जाने को तय्यार हो गये और उनकी माता सुमित्रा ने भी उनके दृढ़ सङ्कल्प का हृदय से अनुमोदन किया।

समाचार जब लक्ष्मण पाये।
व्याकुल विलखि वदन उठि धाये॥
कम्प पुलक तनु नयन सनीरा।
गहे चरण अति प्रेम अधीरा॥

कहि न सकत कछु चितवत ठाढ़े।
मीन दीन जनु जल ते काढ़े॥
सोच हृदय विधि का होनहारा।
सब सुख सुकृत सिरान हमारा॥
मो कहँ कहा कहब रघुनाथा।
रखिहहिं भवन कि लेहहिं साथा॥
राम विलोकि बन्धु कर जोरे।
देह गेह सब तृण सम तोरे॥

लक्ष्मणजी की यह दशा देख श्रीराम कहते हैं:—

तात, प्रेम-वश जनि कदराहू।
समुझि हृदय परिणाम उछाहू॥
रहहु करहु सब कर परितोषू।
नतरु तात होइहि बड़ दोषू॥
रहहु तात अस नीति विचारी।
सुनत लषण भे व्याकुल भारी॥
सियरे बदन सूखि गये कैसे।
परसत तुहिन तामरस जैसे॥
उतर न आवत प्रेम-वश, गहे चरण अकुलाय।
नाथ दास मैं स्वामि तुम, तजहु तौ कहा बसाय॥
दीन्ह मोहिं सिख नीकि गोसाईं।
अगम लागि आपनि कदराई॥
नरवर धीर धर्म्म-धुरधारी।
निगम नीति के ते अधिकारी॥
मैं शिशु प्रभु-सनेह-प्रतिपाला।
मन्दर मेरु कि लेहिं मराला॥

गुरु पितु मातु न जानौं काहू।
कहौं स्वभाव नाथ पतियाहू॥
जहँ लग नाथ सनेह सगाई।
प्रीति प्रतीति निगम सब गाई॥
मोरे सबै एक तुम स्वामी।
दीनबन्धु उर अन्तरयामी॥
धर्म नीति उपदेशिय ताही।
कीरति भूति सुगति प्रिय जाही॥
मन क्रम वचन चरण रति होई।
कृपासिन्धु परिहरिय कि सोई॥

लक्ष्मणजी के इन प्रेम-भरे वचनों को सुन श्रीराम ने उन्हें गले से लगाया और कहा—

माँगहु बिदा मातु सन जाई।
आवहु वेग चलहु वन भाई॥

श्रीराम ने बहुत समझाया; पर उन्होंने एक न मानी और अन्त में श्रीरामजी को उन्हें साथ ले जाना ही पड़ा। वन में जब श्रीरामजी शयन करते, तो लक्ष्मणजी एक साधारण चौकीदार के समान धनुष-बाण लिये हुए पहरा देते और हर तरह से अपने बड़े भाई तथा भौजाई की सेवा में तत्पर रहते थे। श्रीरामजी भी उनपर वैसा ही स्नेह रखते थे और जिस समय लक्ष्मण को शक्ति लगी और वे मूर्च्छित हो गिरे उस समय श्रीरामजी को जो शोक हुआ वह अकथनीय था—

इहाँ राम लछिमनहिं निहारी।
बोले बचन मनुज अनुहारी॥

अर्ध राति गइ कपि नहिं आयउ।
राम उठाय अनुज उर लायउ॥
सकहु न दुखित देखि मोहि काऊ।
बंधु सदा तव मृदुल स्वभाऊ॥
मम हित लागि तजेहु पितु माता।
सहेउ विपिन हिम आतप वाता॥
सो अनुराग कहाँ अब भाई।
उठहु न सुनि मम वच बिकलाई॥
जो जनतेउँ वन बन्धुबिछोहू।
पिता वचन मनतेउँ नहिं ओहू॥
सुत वित नारि भवन परिवारा।
होहिं जाहिं जग बारहिं बारा॥
अस विचारि जिय जागहु ताता।
मिलइ न जगत सहोदर भ्राता॥
यथा पंख बिन खग अति दीना।
मणि बिन फणि करिवर करहीना॥
अस मम जिवन बंधु बिन तोही।
जो जड़ दैव जियावै मोही॥
जैहौं अवध कवन मुख लाई।
नारिहेतु प्रिय बंधु गँवाई॥
अरु अपयश सहतेउँ जग माहीं।
नारि हानि विशेष क्षति नाहीं॥
अब अपलोक शोक यह तोरा।
सहहि कठोर निठुर उर मोरा॥
निज जननी के एक कुमारा।
तात तासु तुम प्राण अधारा॥

सौंपेसि मोहि तुमहि गहि पानी ।
सब विधि सुखद परम हित जानी ॥
उतर ताहि देहौं का जाई ।
उठि किन मोहि समझावहु भाई ॥
बहु विधि सोचत सोच-विमोचन ।
स्रवत सलिल राजिवदल लोचन ॥

श्रीरामजी पर भरत की प्रीति भी आदर्श थी माता ने भरत की अनुपस्थिति में श्रीराम को वन-वास दिलाकर उन्हें युवराज बनवा दिया; पर जब वे ममाने से घर लौटे और माता की इस करतूत का हाल सुना तो मारे शोक और क्रोध के व्याकुल हो उठे और माता को बार धिक्कारने लगे।

सुनि सहमेउ सुठ राजकुमारा। पाके छत जनु लागि अँगारा ॥
× × × × ×
मो समान को पातकी, बादि कहौं कछु तोहिं।

मार्ग में निषाद गुह से जो वार्तालाप हुआ उससे भरतजी का भ्रातृ-प्रेम स्पष्ट प्रकट होता है। चित्रकूट में बहुत २ प्रार्थना करने पर जब श्रीराम नहीं लौटे तो भरतजी उदास हो घर आये और उनकी खड़ाऊ सिंहासन पर रख और अपने को उनके प्रतिनिधि समझ अयोध्या का राज्य सँभालने लगे। जब हनुमान पर्वत लिये अयोध्या के ऊपर उड़ते हुए पहुँचे तब भरतजी ने उन्हें राक्षस समझ बाण मारकर गिरा दिया। जब वे राम-नाम लेते हुए भूमि पर गिरे उस समय भरतजी के भ्रातृ-प्रेम-पूर्ण वचनों को पढ़कर कौन ऐसा मनुष्य है जो उनको आदर्श अनुज न मानेगा? उन्होंने

१४ वर्ष एक साधु के समान व्यतीत किये और घर लौटने पर जब श्रीराम को राज्य सौंपा तब कहीं भरतका शोक दूर हुआ।

पाठ ८.

भायप वा भ्रातृ-स्नेह (२)

महाभारत में भी पाण्डव-भ्राताओं की परस्पर प्रीति हमारे लिये आदर्श-रूप है। महाराज युधिष्ठिर जिस तरह छोटे भाइयों को पुत्र की नाईं मानते और उन्हें सुखी रखने के लिये प्रयत्न करते हैं उसी तरह उनके छोटे भाई भी उनका आदर पिता की नाईं करते और उनके आज्ञा-पालन में सदा कटि-बद्ध रहते हैं। युद्ध करते हैं तो अपने बड़े भाई के लिये और धन-सम्पत्ति प्राप्त करते हैं तो उनके लिये। महाराज युधिष्ठिर को फिर से सिंहासन प्राप्त करने के लिये अर्जुन घोर तप ठानकर अस्त्र-शस्त्र लाते हैं और अन्य भाई उनके शत्रुओं का संहार करते हैं। महाराज युधिष्ठिर भी अपने भ्राताओं के लिये ही राज्य प्राप्त करना आवश्यक समझते और उन्हीं के हित के लिये असत्य बोलने तक को तय्यार हो जाते हैं जो वे अपने हितके लिये कदापि न करते। जब आप स्वर्ग में पहुँचते और अपने भाइयों को वहाँ नहीं देखते तो कहते हैं कि "उनके बिना मुझे स्वर्ग नहीं चाहिये, हे देवगण! आप मुझे वहीं ले चलिये जहाँ मेरे भाई हैं। वही स्थान मेरे लिये स्वर्ग है जहाँ मैं अपने भाइयों के साथ रह सका हूँ, चाहे वह स्वर्ग हो, चाहे नरक।" इसपर स्वर्ग का एक कर्म्मचारी उन्हें भाइयों के पास ले जाता है। धीरे धीरे मार्ग कष्टकर और अन्धकार-मय होता जाता है। नि-

दान अपने प्रिय भाइयों को वे सचमुच नरक में पाते हैं और अर्जुन, भीमादि की आर्त वाणी सुन उन्हें मार्म्मिक कष्ट होता है। वे उस कर्म्मचारी से क्रोध और शोक-पूर्ण कम्पित स्वर में कहते हैं कि "हम यहीं रहेंगे, अपने भ्राताओं के साथ यह नरक-यातना सहन करना हमको स्वीकृत है। आप लौट जाइये। हमें ऐसा स्वर्ग न चाहिये जहाँ दुर्योधन और उनके भाइयों के सदृश दुष्ट तो सुख भोग रहे हैं और मेरे धार्मिक भाई नरक की इस यातना में पड़े हैं।"

अहा! धन्य है यह भ्रातृ-स्नेह जिसके कारण महाराज युधिष्ठिर स्वर्ग के सुख को एक तुच्छ वस्तु समझ तिलाञ्जलि देते और नरक-वास के लिये प्रस्तुत होते हैं। भला ऐसे सत्पुरुष भी कहीं नरक-गामी हो सक्ते हैं? जिनके धर्म्म-बल से एक निरे कुत्ते के लिये स्वर्ग का द्वार खुल गया वे भला नरक-वास कर सकते हैं? भला उनके धार्मिक भ्राता उनके रहते क्या नरक में पड़े रह सकते हैं? बात तो यह थी कि महाराज युधिष्ठिर ने जो अपने जीवन-काल में श्रीद्रोणाचार्य्य को धोखा देने के लिये असत्य-भाषण किया था कि उनका पुत्र अश्वत्थामा मारा गया उसीका यह फल था कि उन्हें नरक के दर्शन करने पड़े।

पाठ ९.

भायप वा भ्रातृ-स्नेह (२)

हमारे देश में आगे सदा से यही रीति चली आई है कि छोटे भाई अपने बड़े भाई को पिता के तुल्य और बड़े

भाई छोटे भाइयों को पुत्र के तुल्य मानते आये हैं जिससे प्रत्येक गृहस्थी में सब मिलकर रहते और अपना समय सुखचैन से व्यतीत करते रहे हैं। अब हाल में हम देखते हैं कि भाई २ आपस में झगड़ते, न्यायालय में बीघा २ ज़मीन के लिये लड़ाई करते और इस कलह में पड़कर अपनी सारी सम्पत्ति खो बैठते हैं। अब वैसा भायप नहीं रह गया। माता-पिता भी अपने बेटों की यह नाशकारिणी कलह देख सुख से नहीं रह सकते। प्रायः देखा गया है कि भाइयों के विवाह हो जाने पर जब बहुएँ घर आती हैं तो उनके मूर्ख रहने से स्पर्धा, ईर्षा आदि दुर्गुण उनके बीच कलह करा देते, जिससे घर के लोगों का सुखपूर्वक रहना असम्भव हो जाता और वे अलग २ रहने लगते हैं। फिर क्या है " न्यारा पूत परोसी दाखल " की कहावत चरितार्थ होती और भायप नष्ट हो जाता है, यहाँ तक कि एक भाई की हानि होने से दूसरा प्रसन्न होता है। ऐसा होने से अच्छे २ धनी-मानी कुटुम्ब अन्त में दीन-हीन होकर नष्ट हो जाते हैं। यह बड़े खेद की बात है। श्रीराम, लक्ष्मण आदि के तथा पांडव भ्राताओं के देश-वासी हम लोग उनकी भ्रातृ-प्रीति को भूल ऐसे कलह-प्रिय बन बैठें जैसे अब होते जाते हैं यह कुछ कम शोक की बात नहीं है। भाई २ लड़कर व्यर्थ अपने को दुःख में डालते और अपने वंश की उज्ज्वल कीर्ति का नाश करते हैं। वास्तव में इस अनर्थ का मूल कारण हमारी स्त्रियों की निरक्षरता तथा व्यावहारिक शिक्षा का अभाव ही है। देखा गया है कि स्त्रियों में कलह उत्पन्न होने से ही भाई भाई को छोड़ बैठता है।

अब पाश्चात्य शिक्षा-दीक्षा पाकर हम लोग स्वतंत्रता-प्रिय हो गये हैं; अतएव तनिक २ सी बातों में अपने स्वत्व रक्षित रखने के प्रयत्न में रहते हैं। इन नवीन भावों के कारण हम माता-पिता तथा भाई की झिड़की सहने में अपना अपमान समझने लगे हैं। साथ ही, यदि सभी भाई एक से कमाऊ नहीं होते तो अच्छी कमाई करने वाले कम कमाई करने वालों के साथ रहने और उनके बाल-बच्चों के बराबर ख़र्च होने से अपनी हानि समझते और अलग हो जाते हैं। जब ऐसा ही है और एक साथ रहने से नित्य कलह हुआ करती है तो अलग हो जाना ही ठीक है; पर भ्रातृ-स्नेह में बाधा न पड़नी चाहिये। कभी २ माता-पिता के पक्षपात और अन्याय-पूर्ण बर्ताव से भी बहुत हानि हो जाया करती है; पर बुद्धिमानों को स्मरण रखना चाहिये कि आपस की फूट से अन्त में हानि ही होती है। अंग्रेज़ी में कहावत है—A house divided against it-self can not stand. अर्थात् जिस घर में फूट है वह खड़ा नहीं रह सक्ता।

पाठ १०.

अतिथि—सत्कार की महिमा।

हमारे यहाँ अतिथि-सत्कार प्रत्येक गृहस्थ का एक प्रधान कर्तव्य समझा गया है और शास्त्रों में इसकी बड़ी महिमा है। अतिथि को बिना सत्कार किये जाने देना पाप समझा जाता है। मनुजी इस विषय में आदेश देते हैं कि—

(१) तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता।
एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन॥
अध्या० ३, श्लोक १०१

(२) अप्रणोद्योऽतिथिः सायं सूर्योस्ते गृहमेधिना।
काले प्राप्तस्त्वकाले वा नास्यानश्नन् गृहे वसेत्॥
अध्याय ३, श्लो० १०५

(३) न वै स्वयं तदश्नीयादतिथिं यन्न भोजयेत्।
धन्यं यशस्यमायुष्यं स्वर्ग्यं वातिथिपूजनम्॥
अर्थात्　　अध्याय ३, श्लो० १०६

(१) कुशासन, भूमि, जल और मीठी २ आदरसूचक बात-चीत—ये चार वस्तुएँ सत्पुरुषों के घर में अतिथि-सत्कार के लिये सदा पाई जाती हैं।

(२) सायंकाल आने वाले अतिथि के कारण चाहे कुछ असुविधा ही क्यों न हो; पर गृहस्थ उसे अपने घर अवश्य उतारे और वह भूखा-प्यासा न रहने पावे।

(३) गृहस्थ ऐसा कोई भोजन न करे जो अतिथि को न दिया जावे। अतिथि का सत्कार धन-सम्पत्ति, कीर्ति, दीर्घायु और स्वर्गीय सुख का देनेवाला है।

इसके सिवा, पुराणादि ग्रन्थों में "आतिथ्य" की महिमा प्रदर्शित करने वाली कई कथायें वा आख्यायिकायें पाई जाती हैं जिनमें से एक हम यहाँ उद्धृत करते हैं। इसके पूर्व हम पाठकों को शकुन्तला नाटक के उस अंश का स्मरण दिलाना चाहते हैं जहाँ शकुन्तला की सखियाँ महाराज दुष्यन्त से कहती हैं कि "आतिथ्य का भार हमारी सखी को सौंपकर महाराज कण्व तीर्थ-यात्रा के लिये गये

हैं" जिससे स्पष्ट है कि अतिथि-सत्कार मनुष्य-मात्र का कर्त्तव्य समझा गया है और ऋषि-मुनि भी उससे मुक्त नहीं माने गये। इस आतिथ्य में ही त्रुटि हो जाने से दुर्वासा-ऋषि ने शकुन्तला को ऐसा भीषण शाप दिया था। इसी अतिथि-सत्कार में त्रुटि होने के भयङ्कर परिणाम का विचार करके श्रीकृष्ण ने महारानी द्रौपदी की रक्षा की और हंडी में लगे हुए दो सीथों से दुर्व्वासा ऋषि को पेट भर भोजन कराने की महिमा प्रदर्शित की थी।

पाठ ११.

अतिथि-सत्कार के दृष्टान्त।

स्वर्ण-मय नकुल (नेवला)।

महाराज युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में जो यज्ञ-शाला तय्यार की गई थी उसके खंभे सोने-चाँदी के बनाये गये थे और उनकी शोभा बढ़ाने के लिये उनमें भाँति २ के रत्न जड़े गये थे। रेशमी वस्त्रों तथा मोतियों की झालरें लगा २ कर यज्ञशाला सुसज्जित की गई थी और यहाँ वहाँ अशरफियों, रुपयों तथा अमूल्य रत्नों की राशियाँ इसलिये लगाई गई थीं कि जिसके मन में आवे वह मनमानी सम्पत्ति निश्शङ्क ले जाय; कोई रोकनेवाला न था। इस यज्ञ में काम आनेवाले पात्र, स्तम्भादि सब स्वर्ण-मय तथा रत्न-जटित थे और महाराज युधिष्ठिर की अपार धन-सम्पत्ति तथा वैभव के परिचायक थे।

इस यज्ञ में एक अलौकिक नेवला भी आया था जिसका आधा शरीर सोने का था। इस अतुल ऐश्वर्य

एवं विलक्षण उदारता को देखकर यह अद्भुत जीव कहने लगा कि "हाँ, धन-सम्पत्ति की कमी तो नहीं है और उदारता भी अच्छी दिखाई देती है; पर यह सब आडम्बर उस अतिथि-सेवक ब्राह्मण के मुट्ठी भर आटे के बराबर भी नहीं है।" इस विचित्र कथन को सुन और उस विचित्र नेवले को देख सारी सभा चकित हो गई और बड़ी उत्सुकता के साथ लोगों ने उससे प्रश्न किया कि "तुम्हारे इस कथन का अर्थ क्या है?" इसपर उसने आदर्श आतिथ्य की निम्न-लिखित कथा कही:—

आदर्श आतिथ्य।

उञ्छ-व्रत-धारी एक ब्राह्मण खेतों में जा जाकर यव बीन लाता और उन्हीं को पीसकर उसकी ब्राह्मणी आटा तय्यार करती थी। इसी आटा को मुट्ठी २ दिन में एक बार खाकर वह ब्राह्मण, उसकी स्त्री, पुत्र और पुत्र-वधू चारों प्राणी अपना निर्वाह किया करते थे। इसीसे अनुमान किया जा सकता है कि वे कैसे दरिद्र थे। कहावत है कि "आपत्ति में आपत्ति आती है", सो भीषण दुर्भिक्ष पड़ने से इनका जीवन-निर्वाह और भी अधिक कष्टकर हो गया। दिन २ भर भटकने से भी ये इतना अन्न एकत्र न कर सक्ते थे कि आधा पेट भी भर रह सकें। निदान बहुत दिन अधपेट रहने से इनके शरीरों पर निरी हड्डियाँ और चमड़ा रह गया और थोड़ा सा भी यव एकत्र करने की शक्ति इनमें न रह गयी। बेचारे बड़े ही कष्ट से अपना निर्वाह कर सक्ते थे।

एक दिन वह दीन ब्राह्मण दिन भर के परिश्रम से थोड़े से यव बीनकर घर लाया। ब्राह्मणी ने उन्हें पीसकर उसके ४ भाग किये और सबको बाँट दिये। वे परम सन्तोषी इस मुट्ठी भर पिसान के लिये परमेश्वर को धन्यवाद देते हुए सहर्ष खाने को बैठे। इसी समय उन लोगों ने बाहर किसीकी आहट सुनी और देखने पर उन्हें मालूम हुआ कि अतिथि द्वार पर खड़ा है। उसे देख ब्राह्मण उठकर पास गया और नम्रता-पूर्व्वक भीतर लाकर उससे जलपान करने के लिये निवेदन किया। अतिथि महाराज, कहते ही, पैर धुलाकर कुशासन पर आ बैठे और ब्राह्मण ने अपना भाग उनके सन्मुख हर्ष से रख दिया। अतिथि बात की बात में वह मुट्ठी भर पिसान फाँक गया। तब ब्राह्मणी अपना भाग लेकर आई। ब्राह्मण ने उससे कहा—

ब्राह्मण-नहीं, बचुवा की मा, तुम अपना भाग मत दो। तुम बहुत निर्बल हो रही हो, यदि तुम भूखी रह गईं तो न जाने क्या का क्या हो जाय और मेरा घर सदा के लिये अँधेरा पड़ जाय।

ब्राह्मणी-नहीं, महाराज, आप यह क्या कहते हैं? फिर धर्म कहाँ रहेगा? क्या इन प्राणों से धर्म-विमुख हो जाऊँ? यह असंभव है। आप मेरा भाग अतिथि को अवश्य दे दीजिये। एक दिन न खाने से मैं मरी थोड़े ही जाती हूँ और यदि मर भी जाऊँ तो धर्म्म तो बचेगा।

उस बेचारे ब्राह्मण ने ऊँची साँस लेकर अपनी स्त्री का भाग भी अतिथि के सामने रख दिया और उसे भी वह

तुरन्त फाँक गया; पर इसपर भी उसकी क्षुधा तृप्त न हुई। यह देख ब्राह्मण का पुत्र अपना भाग ले आया और पिता ने कड़ा दिल करके वह भी अतिथि के सन्मुख रख दिया। इसे भी अतिथि महाराज फाँक गये; पर तृप्ति न हुई। यह देख ब्राह्मण की बहू अपना भाग देने लगी। तब ब्राह्मण के हृदय पर वज्र की सी चोट लगी और वह अश्रुपात करते हुए कहने लगा—

ब्राह्मण—बेटी! यह क्या? तेरी यह अवस्था और इस तरह फाँका! यदि तू भूखी रही तो अवश्य ही प्राण खो बैठेगी। तू अपना भाग रहने दे।

वधू—नहीं, दादाजी! आप मुझे इस पुण्य से क्यों वञ्चित रखते हैं? अतिथि देव-तुल्य होता है। उसे भोजन कराने में बड़ा पुण्य है, सो मुझे इस पुण्य से वञ्चित न कीजिये।

धर्म्म के लिये ऐसा आग्रह करते देख ब्राह्मण अपनी बहू का वचन न टाल सका और मन ही मन दुःखित होता हुआ, पर ऊपर से हर्ष प्रगट करता हुआ, बहू के भाग को भी अतिथि के सन्मुख रख आया। वह उसे भी फाँक जल पीकर खड़ा हो गया। उसके खड़े होते ही घर दिव्य आलोक से चमक उठा और अतिथि ने अपने को साक्षात् धर्म्मराज कहकर प्रकट किया। फिर नेवले ने कहा कि "उस दिन ब्राह्मण-कुटुम्ब को इतनी भीषण आपत्ति सहकर भी अपनी धर्म्म रक्षा करने से जो फल मिला सो तो मिला पर उस अतिथि के हाथ से गिरे हुए यव-कणों पर लोट जाने से मेरा आधा शरीर भी कंचन-मय हो गया।" इसी से मैंने कहा कि "उस ब्राह्मण कुटुम्ब के उस विलक्षण त्याग की

तुलना में यह आडम्बर-पूर्ण त्याग पासंग भी नहीं है। धन्य है उस ब्राह्मण-कुटुम्ब का त्याग-पूर्ण आतिथ्य जिसकी महिमा का फल आप मेरे शरीर में देख रहे हैं!"

पाठ १२

अतिथि-सत्कार की पराकाष्ठा।

श्रीमहाभारत के वन-पर्व्व में अतिथि-सत्कार का महत्त्व प्रकट करने वाली एक बहुत अच्छी कथा चौथे, पाँचवें और छठवें अध्याय में पाई जाती है जिसका सारांश हम यहाँ उद्धृत करते हैं:—

रात्रि के समय आकाश में घनघोर घटा उमड़ रही थी जिसके कारण इतना अँधेरा था कि हाथ को हाथ नहीं सूझता था। जब खुले मैदानों का यह हाल था तो घने निर्जन वनों की तो बात ही अलग थी! वर्षा भी मूसलधार हो रही थी और बीच २ में बिजली चमककर मानों भयङ्कर अंधकार को दिखला सा देती थी। बार २ वज्र-पात की भीषण कड़क से कानों की झिल्लियाँ फटी सी जाती थीं। प्रचण्ड वायु के वेग से बड़े २ वृक्ष आहत हो हो कर चरचराते हुए ज़मीन पर आ गिरते और उनका आश्रय लेकर खड़े हुए वन्य पशु दबकर सहसा मृत्यु का शिकार बन रहे थे। सारांश यह कि वह रात्रि खासी काल-रात्रि सी प्रतीत होती थी और ऐसा मालूम पड़ता था मानों प्रलय होने में अब विलम्ब नहीं है।

उसी रात्रि को एक बहेलिया अँधेरे में मार्ग भूल जङ्गल में भटक गया था और घण्टों इधर-उधर फिरते २ बिलकुल थक गया था जिससे एक वृक्ष के नीचे बैठा २ भयङ्कर शीत से थरथर काँप रहा था। किसी ऊँचे टीले पर जाने में उसे रीछ, व्याघ्र आदि वन्य पशुओं का भय था। नीचे स्थानों में पानी भरा हुआ था जिसमें बड़े २ विषैले घातक सर्प अपने बिलों में पानी भर जाने से इधर-उधर तैरते फिरते थे और इस बहेलिये को सूखी चट्टान समझकर उस पर चढ़ने का प्रयत्न करते थे। वह बहेलिया इनके भय से अथवा शीत से काँप रहा था, सो कहना कठिन था। तिस पर भूख के मारे वह और भी छटपटा रहा था।

इतने में बिजली चमकने से उस हत्यारे की दृष्टि एक कपोत पर पड़ी जिसके पंख पानी से भीगकर ऐसे भारी पड़ गये थे कि अपने प्राण बचाकर भागने की भी शक्ति उसमें न रह गई थी। ऐसी भयङ्कर दशा में भी, सदा के अभ्यास के कारण, उस बहेलिये ने अनायास ही उसे उठाकर पींजड़े में बन्द कर लिया और उसी वृक्ष के नीचे बैठे २ उसने रात्रि व्यतीत करने का निश्चय कर लिया। एक तो उसका घर वहाँ से दूर था, दूसरे पानी निकल जाने पर भी अँधेरा वैसा ही भयङ्कर बना था। धीरे २ जब सब कोलाहल बन्द हो गया, तो उस बहेलिये ने वृक्ष पर एक दूसरे कपोत को अत्यन्त करुणा-पूर्ण शब्दों में विलाप करते हुए सुना। वह उस पींजड़े में बन्द कपोतिनी का पति था जो अपनी स्त्री के न आने से बहुत व्याकुल हो रहा था:—

कपोत—हे दैव! यह क्या आपत्ति आई। हा प्राणधिके! तू आज इस भयङ्कर कालरात्रि में कहाँ भटकती

फिरती होगी ? तेरे न आने से मेरा चित्त स्थिर नहीं होता, तरह २ की चिन्ता-पूर्ण दुर्भावनायें मुझे व्याकुल कर रही हैं। हे आयताक्षि ! सुरम्यवदने ! सुधारस बरसाने वाली तेरी "कूकू" वाणी से वञ्चित रहकर मैं प्राण धारण न कर सकूँगा। घर-गृहस्थी घर से नहीं, सुगृहिणी से बनती है। उसके न रहने से जीवन नीरस हो जाता है; मनुष्य मानों अपनी सब से भारी सम्पत्ति और एक सच्चे से सच्चे मित्र को ही खो बैठता है। अहो, समग्र मानसिक व्यथाओं को दूर करने वाली पत्नी ही एक महौषधि है। हा ! ऐसी भयङ्कर रात्रि में वह कहाँ गई ?

कपोती ने अपने पति का यह विलाप सुनकर अपने को धन्य माना। वह मन ही मन कहने लगी, "मेरा अहोभाग्य है कि मेरे पतिदेव मुझ दासी पर इतना प्रेम रखते हैं। इस आनन्द का कहीं पारावार है ? धिक्कार उस स्त्री को जिससे उसका भर्ता सन्तुष्ट नहीं रह सकता। सत्य कहा है:—

न सा भार्य्या वक्तव्या यस्या भर्ता न तुष्यति।
तुष्टे भर्तरि नारीणां सन्तुष्टाः सर्वदेवताः॥

अब इस अभागे व्याधा का भी विचार करना चाहिये जो इस आपत्ति में पड़ा हुआ है। इस वृक्ष के नीचे आश्रय लेने से वह हम लोगों के अतिथि वा अभ्यागत के तुल्य है। यह चिड़ीमार हम पक्षियों का स्वाभाविक शत्रु तो है, पर अतिथि होने से हमारे लिये परम पूज्य है।" कहा भी है:—

अरावप्युचितं कार्य्यमातिथ्यं गृहमागते।
छेत्तुः पार्श्वगतां छायां नोपसंहरते द्रुमः॥

अर्थात् यदि शत्रु भी अपने घर आवे तो उसका आतिथ्य (अतिथि-सत्कार) करना उचित है। वृक्ष काटने वाला जब वृक्ष के समीप आता है तो वह उसे अपनी छाया से वञ्चित नहीं करता।

यह सब सोच-विचारकर उस कपोती ने नीचे से अपने पति को खूब समझाया और कहा—

कपोती—प्राण-नाथ, देखो, यह बहेलिया अपना अतिथि है और घोर विपत्ति में पड़ा हुआ है। इसकी रक्षा करना अपना कर्त्तव्य है।

इस तरह कपोतीके सावधान करने पर वह धर्म-भीरु कपोत अपना सब दुःख भूलकर अपने शत्रु का उचित सम्मान करने के लिये तत्पर हो गया और उन दोनों के बीच में इस प्रकार बातचीत हुई:—

कपोत—हे अतिथि! आपने बड़ी ही कृपा की जो इस प्रकार अपने शुभागमन से मेरे घर को पवित्र किया; अब क्या आज्ञा है? मैं आपकी क्या सेवा करूँ?

व्याधा—सबसे पहिले इस भयङ्कर शीत से मेरी रक्षा कीजिये मारे जाड़े के मैं ऐंठ गया हूँ और मेरे हाथ-पैर सीधे नहीं होते।

उस धार्मिक कपोत ने अपनी चोंच से कुछ सूखी लकड़ियाँ और पत्ते इधर-उधर से लाकर एकत्र किये और समीप ही के एक ग्राम में से वह एक जलती हुई लकड़ी भी ले आया। उस चिड़ीमार ने आग जलाकर शीत से मुक्ति

पाई और कपोत के यह प्रश्न करने पर कि "अब मैं क्या करूँ" उसने उससे कुछ खाद्य पदार्थ लाने के लिये निवेदन किया। कपोत बड़े धर्म्म-सङ्कट में, पड़ गया और मन ही मन सोचना लगा कि मेरे भण्डार में तो कोई ऐसी वस्तु है ही नहीं जो इसकी भूख को शान्त करे और यदि यह भूखा रहता है तो मेरा धर्म्म जाता है; अतएव मैं ही इसका भोजन क्यों न बन जाऊँ? ऐसा सङ्कल्प करके उसने व्याधे से कहा—

कपोत—अतिथि महराज! ऋषियों, देवताओं तथा पितर सभी पूज्य पुरुषों का कथन है कि अतिथि-सत्कार प्रत्येक गृहस्थ का परम धर्म्म है और इसका पालन करने वाला बहुत बड़े पुण्य का भागी होता है। सो हे मित्र! मुझपर दया करके मेरी क्षुद्र अतिथि-सेवा स्वीकार कीजिये।

ऐसा कहकर कपोत ने तीन बार अग्नि की परिक्रमा करके उसमें प्रवेश किया। अपने तथा अपनी जाति के स्वाभाविक शत्रु के लिये अपना धर्म्म पालते हुए ऐसे अलौकिक आत्म-त्याग का यह विलक्षण दृष्टान्त देखकर उस बहेलिये का कलुषित हृदय भी पवित्र हो गया और उस पर ऐसा उत्तम प्रभाव पड़ा कि वह अपने पाप कर्म्मों का स्मरण कर करके अपने को धिक्कारने और पश्चात्ताप करने लगा। तुरन्त ही उसने अपना जाल, लगुड़ आदि पाप-सामग्री तोड़-ताड़कर नष्ट कर डाली और पींजड़े में जो कपोती बन्द थी उसे उड़ा दिया। फिर बड़े उद्वेग से वह कहने लगा:—

व्याधा—हे कपोत! ये तो तुम निरे पक्षी; पर मुझ मनुष्य-योनि को कलङ्क लगाने वाले पापी को तुमने जो शिक्षा दी है उसके लिये मैं तुम्हारा यश कदापि नहीं भूलने का। स्वधर्म्म-पालन में ऐसा अलौकिक स्वार्थ-त्याग और आत्मोत्सर्ग जो तुमने निरे पक्षी होकर दिखलाया है अभिमानी मनुष्यों में भी बहुत ही कम पाया जाता है; तुम मेरे गुरु-देव के तुल्य हुए और तुमने मेरे ज्ञान-चक्षु खोल दिये। आज से मैं अपने पापों का प्रायश्चित्त करने में तत्पर होता हूँ और तप तथा उपवास द्वारा अपने पाप-मय शरीर तथा जीवन को पवित्र करता हूँ। तुम्हारा दृष्टान्त अपने सन्मुख रख मैं अब धर्म्म-मार्ग का अनुसरण सदा करता रहूँगा।

वह ऐसा पश्चात्ताप कर ही रहा था कि पिंजड़े से विमुक्त होकर वह कपोती भी अपने पति की परिक्रमा करती हुई कहने लगी कि "माता, पिता, पुत्र आदि से स्त्री-जाति को जो पुरस्कार मिलता है वह वैसा श्रेष्ठ नहीं होता जैसा पति का दिया हुआ पुरस्कार होता है। पति स्त्री को सर्वस्व दे डालता है यहाँ तक कि उसका शरीर एवं मन भी उसकी पत्नी का हो जाता है। हे पति-देव! इतने वर्ष सुख-मय सहवास के अनन्तर अब आपके विना मैं क्षण भर भी नहीं जीवित नहीं रह सक्ती। इस निस्सार एवं दुःख-मय जीवन को धारण करके मैं करूँगी ही क्या?" ऐसा विलाप करती हुई वह भी उस जलती हुई अग्नि में जा गिरी।

उस व्याधे का हृदय सच्चे पश्चात्ताप से पवित्र हो गया जिससे उसे दिव्य दृष्टि प्राप्त हो गई और उसने देखा कि वह कपोत-मिथुन एक भव्य विमान में चढ़कर स्वर्ग को जा रहा है, और देव-गण आकाश-मार्ग में उसका स्वागत करने के लिये अपनी शक्तियों सहित खड़े हुए हैं। उन पक्षियों का शरीर एक दिव्य आलोक से चमक रहा है। इस अलौकिक दृश्य को देखने से उसके मन का बचा-खुचाया विकार भी जाता रहा और उसका संकल्प और भी दृढ़ हो गया।

पाठ १२

मैत्री।

सच्चा मित्र भी इस संसार में दुर्लभ होता है और वे लोग वास्तव में बड़े भाग्यवान् हैं जिन्हें सच्चा मित्र मिल जाता है। हमारे संस्कृत-साहित्य में मित्र के लक्षण स्थान २ पर प्रगट किये गये हैं। भर्तृहरि कहते हैं:—

तन्मित्रमापादि सुखे च समक्रियं यत्।

अर्थात्—सो मित्र जो दुःख-सुख में सम जो लखाता।

(पं० लोचनप्रसाद पाण्डेय)।

अंगरेज़ी में इस कहावत से A friend in need is a friend indeed भी सच्चे मित्र का रूप प्रकट होता है। सच्ची मैत्री दुर्लभ है। गुसाईंजी कहते हैं:—

सुर, नर, मुनि सबकी यह रीती।
स्वारथ लागि करहिं सब प्रीती॥

अथवा—

न कश्चित्कस्यचिन्मित्रं न कश्चित्कस्यचिद्रिपुः।
व्यवहारेण मित्राणि जायन्ते रिपवस्तथा॥

अर्थात् व्यवहार से ही मित्र और शत्रु हुआ करते हैं।

तथापि इस स्वार्थ की भी सीमा है। स्वार्थ अच्छा और बुरा हो सक्ता है। जो सच्चे से सच्चे मित्र हैं वे भी कदाचित् स्वार्थ से नहीं बचते। और नहीं तो अपने मित्र की सङ्गति में सुख मिलना क्या स्वार्थ नहीं है? पर, ऐसा स्वार्थ दूषणीय नहीं समझा जाता। परस्पर लाभ उठाने की इच्छा से जो मैत्री की जाती है वह बुरी नहीं होती, बुरी होती है उनकी मैत्री जो अपने लाभ के लिये अपने मित्र की हानि करने में संकोच नहीं करते। खेद की बात है कि इस संसार में ऐसे मित्रों की संख्या अधिक होती है। ऐसे दुष्ट तभी तक मित्र बने रहते हैं जब तक किसीसे उनका काम निकलता है और वे सहस्र माया-जाल रचकर सीधे-सादे सत्पुरुषों के प्रति अपार मैत्री दिखाकर अपना कार्य्य साधते हैं। वे तो—

"मन मलीन तन सुन्दर कैसे।
विष-रस-भरा कनक-घट जैसे॥

अथवाः—

*परोक्षे कार्य्यहन्तारं प्रत्यक्षे प्रियवादिनम्।
वर्जयेत्तादृशं मित्रं विषकुम्भं पयोमुखम्॥

के समान होते हैं। इनके मोह-जाल से बचे रहने

* परोक्ष में अर्थात् पीठ पीछे कार्य्य को बिगाड़ने वाले, पर सम्मुख मीठी २ बातें करने वाले पयोमुख विष-कुम्भ के समान मित्र से बचे रहना चाहिये।

के लिये इनका स्वभाव परख कर इनसे व्यवहार करना चाहिये।

सच्चे मित्रों की मैत्री वास्तव में अच्छी सम्पत्ति के समान होती है। "सतां साप्त-पदं मैत्र्यमित्याहुर्विबुधा जनाः" अर्थात् सत्पुरुष आपस में थोड़ा सा वार्तालाप करके ही मित्र बन जाते हैं; क्योंकि इतने में ही उन्हें विदित हो जाता है कि हम दोनों के विचार, रुचि आदि समान हैं जिससे हमारी मैत्री हो जाने से हम दोनों आनन्दपूर्व्वक रह सकेंगे और वह दिनोंदिन बढ़ती ही जाती है। खल-सज्जन की प्रीति इसके विपरीत हुआ करती है जैसा कि इस श्लोक में कवि ने दर्शाया है।

आरम्भगुर्व्वी क्षयिणी क्रमेण लघ्वी पुरा वृद्धिमती च पश्चात्।
दिनस्य पूर्वार्द्ध-परार्द्ध-भिन्ना छायेव मैत्री खलसज्जनानाम्॥

(भर्तृहरि, नीति-शतक)

अर्थात्,

पहले होकर बड़ी पुनः क्रम २ से घटती जाती है।
लघु होती है प्रथम किन्तु फिर वृद्धि क्रमागत पाती है॥
दिन के पूर्व्व-अर्द्ध में और परार्द्ध-समय की छाया ज्यों।
होती है दुर्जन, सज्जन की मैत्री-रूपी काया त्यों॥

(पं० लोचनप्रसादजी पाण्डेय)

दोपहर के पहले की छाया प्रथम तो बड़ी होती है, फिर धीरे २ ज्यों २ दिन चढ़ता है त्यों २ छोटी होने लगती है। दुर्जनों की मित्रता का भी यही ढंग होता है। दोपहर के उपरान्त की छाया पहले बहुत छोटी होती

और फिर धीरे २ बढ़ती जाती है। सज्जनों की मित्रता भी इसी तरह क्रमशः वृद्धि को प्राप्त होती है। भर्तृहरि ने एक और श्लोक रचकर सच्चे मित्र के लक्षण बहुत उत्तम रीति से व्यक्त किये हैं, यथाः—

पापान्निवारयति योजयते हिताय
गुह्यं च गूहति गुणान्प्रकटीकरोति।
आपद्गतं च न जहाति ददाति काले
सन्मित्र-लक्षणमिदं प्रवदन्ति सन्तः॥

पं० लोचनप्रसादजी पांडेय ने इसका अनुवाद हिन्दी में इस तरह किया हैः—

दे सीख नित्य हित की अघ से बचावे।
प्रकटी करे सुगुण गुह्य कथा छिपावे॥
आपत्ति में न तज दे, धन दैन्य में दे।
सन्मित्र-लक्षण यही कहते सुजान॥

उन्हीं भर्तृहरि कवि-वर ने सच्ची मैत्री का अनुपम चित्र निम्न-लिखित श्लोक में खींचा हैः—

क्षीरेणात्मगतोदकाय हि गुणा दत्ताः पुरा तेऽखिलाः।
क्षीरे तापमवेक्ष्य तेन पयसा ह्यात्मा कृशानौ हुतः॥
गन्तुं पावकमुन्मनस्तदभवद्दृष्ट्वा तु मित्रापदं।
युक्तस्तेन जलेन शाम्यति सतां मैत्री पुनस्त्वीदृशी॥

अर्थात्,

आके नीरसंग को मिला तो दुग्ध ने प्रेम से।
दे डाले गुण-रूप सर्व अपने सन्मित्र को नीर को॥
ऐसे सज्जन मित्र दुग्ध-वर को हा! आँच में देखके।
जाके हित मित्र की अनल पै कूदा स्वयं नीर था॥

इस पद्य में कवि-वर ने एक रूपक रचकर और अपनी प्रतिभा का विचित्र उपयोग करके दूध और पानी के मेल द्वारा सच्चे मित्र के लक्षण व्यक्त किये हैं। आप कहते हैं कि पानी की मैत्री ज्योंही दूध के साथ होती है, अर्थात् दूध में ज्योंही पानी मिलाया जाता है त्योंही वह पानी को अपने गुण या रूप दे देता है, अर्थात् पानी भी श्वेत हो जाता है और दोनों के बीच में तनिक भी अन्तर नहीं रह जाता। आग की गर्मी पाकर जब पानी बाहर होने लगता है अर्थात् उफान आता है तो दूध भी उसके साथ उठता है; पर ऊपर से जल के छींटे पाकर उसे विश्वास होता है कि मित्र आ गया, इससे वह तुरन्त नीचे बैठ जाता है।

अपने मित्र के साथ किस प्रकार का बर्ताव करना चाहिये इस विषय में हमारा संस्कृत-साहित्य उपदेश-पूर्ण है। हितोपदेश का मित्र-लाभ तथा पंचतंत्र का बहुत सा भाग सच्चे मित्र की विवेचना तथा मित्रों के आवश्यक गुणों को प्रदर्शित करनेवाली कथाओं से परिपूर्ण है। ऐसे तो स्वार्थ के लिये सम्पत्ति-काल में सभी मित्र होने का दम भरते हैं; पर आपत्ति-काल में भी जो मित्र बना रहे वही सच्चा मित्र है, यथाः—

आपत्सु मित्रं जानीयाद्युद्धे शूरमृणे शुचिम्।
भार्य्यां क्षीणेषु वित्तेषु व्यसनेषु च बान्धवान्॥

अथवा—

आपत-काल परखिये चारी। धीरज, धर्म्म, मित्र अरु नारी॥

अर्थात् आपत्ति-काल में ही स्त्री आदि के समान मित्र की भी परीक्षा होती है, नहीं तो "बैतुआ मीतों" की

कमी नहीं है। बहुतेरे लोग दुष्ट जनों के साथ मित्रता करके ही नष्ट होते हैं। धनी लोगों को तो ऐसे मित्र बहुत मिलते और अन्त में उन्हें बिगाड़ कर ही छोड़ते हैं। बच्चे भी बुरे बालकों की संगति में पड़कर बुरी बुरी आदतें सीख लेते हैं। जिस प्रकार अच्छे मित्रों की संगति से मनुष्य की भलाई होती है उसी प्रकार बुरे मित्रों के साथ में पड़कर वह अपनी हानि कर बैठता है। अब हम दो सच्चे मित्रों के उज्ज्वल चरित्र का वर्णन नीचे देते हैं।

पाठ १४.

सायराक्यूस के दो सच्चे मित्र।

यूनानियों में कई धर्म्म-शिक्षक हो गये है जिनमें से पैथागोरस भी एक तत्व-ज्ञानी शिक्षक था। इसने एक सम्प्रदाय चलाया था जिसके अनुयायी परस्पर भ्रातृ-भाव रखते थे। इस सम्प्रदाय के अनुयायी डैमन और पिथियस नामक दो मित्र सिसली द्वीप के सायराक्यूस नगर में रहते थे।

इस नगर का राजा डायनीशियस एक बड़ा क्रूर पुरुष था और अपनी प्रजा पर बड़े २ अत्याचार किया करता था। एक दिन उसने पिथियस से रुष्ट होकर यह क्रूर आज्ञा दी कि वह फाँसी पर टाँग दिया जाय।

पिथियस की कुछ जायदाद यूनान देश में थी और वहाँ उसके कई बन्धु और सम्बन्धी भी रहते थे; इस-

लिये उसने डायनीशियस से प्रार्थना की कि "मुझे थोड़े काल के लिये अपने घर जाकर अपनी जायदाद का यथोचित प्रबन्ध करने और अपने आत्मीयों से अन्तिम भेंट कर आने की आज्ञा दीजिये। मैं अवश्य ही निश्चित समय पर उपस्थित होकर प्राणदण्ड भोगूँगा। लौट आने की प्रतिज्ञा मैं शपथ-पूर्व्वक करता हूँ।" यह विचित्र निवेदन सुन राजा खिलखिलाकर हँस उठा और कहने लगा कि "सिसली से कुशलपूर्व्वक बाहर जाने पर तेरे वापिस आने की जमानत कौन देगा?" पिथियस ने उत्तर दिया कि, "मेरा एक इष्ट मित्र है जो सहर्ष जमानत देने को तय्यार है।" यह सुन वह अविश्वासी शासक कहने लगा कि "तू बड़ा मूर्ख मालूम पड़ता है। भला ऐसा भी कोई मित्र हो सक्ता है जो दूसरे के लिये अपने प्राण सङ्कटमें डाले?" वह इस प्रकार पिथियस का उपहास कर ही रहा था कि उसी सम्प्रदाय का एक दूसरा मनुष्य आगे बढ़ा और उसने अपने मित्र की जमानत देना स्वीकार किया। यह वही डैमन था। इसने शपथ-पूर्व्वक प्रतिज्ञा की कि यदि मेरा सुहृद पिथियस निश्चित समय पर न लौटेगा तो मैं उसके बदले प्राणदण्ड भोगूँगा।

यह सुन डायनीशियस को बड़ा ही आश्चर्य्य और कौतूहल हुआ और उसने मन में सोचा कि देखें, इसका परिणाम क्या होता है। समय बीतने लगा; पर पिथियस लौटकर नहीं आया। सायराक्यूस-निवासी डैमन की ओर ताकते थे; पर उसके मुख पर चिन्ता का कोई चिह्न नहीं दीखता था। यदि कोई उससे पूछता तो वह यही उत्तर देता था कि "मुझे अपने मित्र का पूर्ण विश्वास है, यदि वह

किसी अज्ञात कारण से लौटने में असमर्थ भी होगा तो और भी अच्छा है, मुझे अपने इष्ट मित्र के पलटे प्राणोत्सर्ग करने से बड़ा सन्तोष होगा।"

निदान वह निर्दिष्ट समय आ पहुँचा; पर पिथियस तब भी नहीं लौटा। डैमन के मुख पर अब भी भय वा चिन्ता-सूचक चिह्न नहीं दिखाई देते थे। उसका चेहरा शान्त और निर्विकार था और उसपर पूर्ण सन्तोष की झलक थी। उसका विश्वास अपने मित्र पर अटल था। यदि ऐसा न होता तो अवश्यही वह उसे विश्वासघाती समझ शोकित होता और पछताता कि कहाँ से ऐसे वञ्चक के प्रपंच में पड़कर मैं ऐसे प्राण-सङ्कट में पड़ा। वह यही कहता था कि "पिथियस कदापि विश्वासघात न करेगा। हो न हो उसका जहाज़ तूफ़ान में पड़ गया जिससे वह समय पर लौटने में असमर्थ हुआ है। ऐसा ही होते २ अन्तिम दिन आ पहुँचा और डैमन को सूली पर चढ़ाने की तय्यारी होने लगी। सूली तय्यार होने पर राज-कर्मचारी उसे पकड़कर सूली के समीप लिये ही जाते थे कि एकत्रित जन-समूह में अकस्मात् बड़ा कोलाहल होने लगा। एक मनुष्य भागता आता दिखाई दिया। समीप आने पर मालूम हुआ कि यह वही पिथियस है। वह डैमन को देख उसके गले से लिपट गया और इस प्रकार अपने प्रिय मित्र का आलिङ्गन कर सूली पर चढ़ने को आगे बढ़ा, और उसका चेहरा देखने से यही विदित होता था कि निर्दिष्ट समय पर पहुँचकर अपने मित्र को बचाने से उसे बड़ा हर्ष हो रहा है। यहाँ डैमन के मुख पर उदासी छा गई। उसे

अपने प्यारे मित्र के पलटे प्राण देकर उसकी रक्षा करने का अवसर इस प्रकार खो बैठने से बड़ा खेद था। यह दोनों मित्रों का धर्म्म-विश्वास ही था, जिसके बल वे अपने २ प्राण तक देने को तय्यार थे और उनके मन में मृत्यु का तनिक भी भय नहीं था। उनको पूर्ण विश्वास था कि परोपकारी धार्मिक जन परलोक में बड़े सुखी होते हैं।

इन दोनों के इस विलक्षण स्नेह का प्रभाव डायनीशियस के भी वज्र-हृदय पर पड़ा। उसने अपनी आँखों से देखा कि संसार में सभी विश्वास-घाती वा स्वार्थ-विमूढ़ नहीं हैं। इस अलौकिक एवं आदर्श मित्र-भाव को देखकर उसके मन में यह बात आई कि ऐसे सत्यवादी वा सत्य-प्रतिज्ञ मनुष्यों के साथ मैत्री करने से बड़ा लाभ हो सकता है। डायनीशियस ने उन दोनों को अभयदान दिया और उनसे निवेदन किया कि "मुझे भी तुम दोनों अपनी मैत्री प्रदान करो।" पर, स्वार्थ-परायण, अविश्वासी और अत्याचारी मनुष्य दूसरों का सच्चा मित्र कब बन सकता है। मैत्री तो एक ऐसा गुण है जिसका होना समान स्वभाव वाले सज्जनों में ही संभव है। डायनीशियस के सदृश अविश्वासी एवं स्वार्थ-प्रिय मनुष्य की मैत्री इन दोनों के समान विश्वासी तथा एक दूसरे के हित-साधन में प्राणोत्सर्ग तक करने के लिये सदा तत्पर रहने वाले मनुष्यों के साथ होना कैसे संभव था। क्या आश्चर्य्य कि ये दोनों मित्र डैमन और पिथियस सच्ची मैत्री के आदर्श समझे जाते हैं और प्राचीन काल से आज तक सच्चे मित्रों की उपमा इन्हीं से दी जाती है। उनका सौहार्द एक कहावत में परिणत हो गया है।

पाठ १५.

(१) विहारीमल और अकबर।

मैत्री समान गुणवालों में ही होती है--यह एक स्वाभाविक नियम है। विहारीमल राजपूत-वंश के एक वीर पुरुष थे। बहुधा देखा गया है कि एक वीर दूसरे वीर की वीरता देखकर मुग्ध हो जाता और दोनों के बीच में घनी मित्रता हो जाती है। कहा भी है:—

यथोरेव समं वित्तं ययोरेव समं बलम्।
तयोर्मैत्रीविवाहश्च न तु पुष्टविपुष्टयोः॥

अर्थात् जो धन-सम्पत्ति और बल में बराबर हैं उन्हीं के बीच मैत्री और विवाह-सम्बन्ध हो सक्ता है, कम बढ़ वालों के बीच नहीं।

एक दिन विहारीमल दिल्ली के बादशाह अकबर के महलों की ओर गये। वहाँ पहुँचने पर देखते क्या हैं कि बड़ा कोलाहल हो रहा है, घोड़े अपने खूँटे और पछा-ड़ियाँ तोड़ तोड़कर इधर-उधर भाग रहे हैं और सारे कैम्पमें बड़ी हलचल है। फिर आप देखते हैं कि एक तरुण पुरुष एक मस्त हाथी की गर्दन पर बैठा उसे अंकुश मार रहा है और हाथी पागल सा हो भागा जा रहा है। और लोग तो बहुत घबड़ाये हुए हैं; पर वह वीर युवा उस भयङ्कर पशु को मार मारकर अपने वश में लाने का प्रयत्न कर रहा है। निदान उसके साहस तथा वीरता का यह फल हुआ कि हाथी उसके वश में होकर जहाँ वह चाहता था वहीं जाने लगा।

बालको ! यह वीर युवा मुग़ल-वंश-दीपक सम्राट् अकबर था। वीर बिहारीमल उसके इस अनुपम साहस को देख मुग्ध हो गया और उसी क्षण से अकबर का परम मित्र बन गया। ऐसे ही वीर राजपूत मित्रों की सहायता से अकबर भारत के अधिकांश का बादशाह बन सका।

(२) दाऊद और जानेथन।

David & Jonathan.

बाइबिल में दाऊद और जानेथन की मित्रता की अनेक कथाएँ हैं। दाऊद एक निरा चरवाहा था; पर जनता का पक्ष लेने से लोग उसे अपना नायक समझते थे। यह देख उस समय का राजा दाऊद से बहुत क्रुद्ध था; पर राजकुमार जानेथन उसे चाहता और अपना परम मित्र समझता था। राजा को इन दोनों की मित्रता नहीं सुहाती थी; पर राजकुमार अपने पिता के बहुत कहने-सुनने पर भी अपने सच्चे मित्र को त्याग नहीं सका। एक दिन जब राजकुमार अपने मित्र दाऊद की बड़ी प्रशंसा करने लगा तो राजा को बड़ा क्रोध आया और उसने अपने पुत्र पर बर्छा फेंककर मारा। इतना सब होने पर भी उन दोनों की मित्रता वैसी ही बनी रही। पीछे से जिस समय राजकुमार जानेथन अपने पिता सहित युद्ध में मारा गया उस समय का दाऊद का शोक और विलाप हृदय-विदारक था।

(३) रुस्तम और विज़हान।

विज़हान नामक एक ईरानी युवक को कुछ शत्रु आकर पकड़ ले गये और उसे एक गड्ढे में डाल उन लोगों ने

उसके मुँह पर एक बड़ा पत्थर रख दिया। उसी पत्थर की दरार में से कुछ रोटियाँ और थोड़ा सा पानी दे दिया जाता था। विज़हान के हाथ-पैर जंज़ीरों से कस दिये गये थे और उसे वहाँ न तो हवा मिलती थी, न प्रकाश।

उसकी इस दुर्दशा का शोकमय वृत्तान्त सुनकर रुस्तम का हृदय दयार्द्र हो उठा। वह ७ साथियों को लेकर उसे छुड़ाने के लिये चला। मार्ग में एक दैत्य ने उसे रोका और दोनों के बीच में मल्ल-युद्ध होने लगा। रुस्तम ने इस दैत्य को अन्त में मार डाला और जाकर विज़हान को उस भयङ्कर कारावास से इस तरह मुक्त कर दिया। पहले तो उसने अपने असाधारण बल से उस पत्थर को उठाकर दूर फेंका, फिर एक डोरी में फन्दा लगाकर उसे उस गड्ढे में डाला और विज़हान के उसे पकड़ लेने पर उसको ऊपर उठा लिया।

रुस्तम—विज़हान! तुम इतने दिनों के असह्य कष्ट से बहुत निर्बल हो गये हो, सो अब घर जाकर विश्राम करो। मैं जाकर तुम्हारे शत्रु को दण्ड दूँगा।

विज़हान—नहीं रुस्तम, भला कहीं ऐसा हो सकता है? हाँ, मैं जानता हूँ कि तुम असाधारण शक्ति-शाली हो और तुम्हें किसीकी सहायता की आवश्यकता नहीं है; पर मेरा धर्म्म है कि तुम्हें भय के स्थान में अकेला न जाने दूँ, बल्कि तुम्हारे सँग चलूँ। आपत्ति के समय ही तो मित्र की परीक्षा होती है, फिर मैं तुम्हारा साथ कैसे छोड़ दूँ? जहाँ तुम जाओगे वहीं मैं भी आऊँगा।

बस, इतना कह विज़हान रुस्तम के साथ चल खड़ा हुआ। अपने मित्र रुस्तम से उत्साह पाकर वह अपनी सारी थकावट भूल गया और दोनों शत्रु के स्थान को रातोंरात पहुँच गये। रुस्तम ने अपने मित्र पर किये गये अत्याचार का बदला उस दुष्ट के साथ ख़ूब भँजाया।

सच्चे मित्र का कर्त्तव्य।

सच्चे मित्र वैसे तो अपने मित्र को सुखी रखते ही हैं; पर यदि देखते हैं कि अमुक कार्य्य करने से मित्र को हानि होगी तो फिर उसके दुखी होने की परवाह न करके उसे उस हानि से बचाने का प्रयत्न करते हैं। कहा है:—

पापान्निवारयति योजयते हिताय।
गुह्यं च गूहति गुणान् प्रकटीकरोति॥
आपद्गतं न जहाति ददाति काले।
सन्मित्रलक्षणमिदं प्रवदन्ति सन्तः॥

अर्थात् अच्छे मित्र के लक्षण ये हैं:—वह पाप से बचाता और हित में लगाता है, छिपाने-योग्य बात को छिपाता और गुणों को प्रकट करता है, और आपत्ति आने पर त्यागता नहीं वरन जिस बात की आवश्यकता देखता उसे पूरी करता है।

एक उपदेशक का गला ऐसा बुरा था कि वह जितने ही ज़ोर से बोलता उसका शब्द उतना ही अधिक कर्ण-कटु एवं हास्य-जनक प्रतीत होता था, जिससे उसका उपदेश लोगों को अच्छा नहीं लगता था। मसखरे उसके कंठ की उपमा गधे के रेंकने से दिया करते और कई उसे काकोपदेशक कहकर उसकी नकल करते थे। उसके एक

साथी उपदेशक ने जिससे उसका मनमुटाव था जाकर उससे कहा कि मैंने स्वप्न देखा है मानो आप उपदेश दे रहे हैं और आपका भाषण बहुत ही ललित सुनाई देता है। पहले तो मुझे इसका कारण नहीं सूझा; पर कुछ देर सुनते २ मैंने देखा कि आप धीमे स्वर से बोल रहे हैं जिससे आपके भाषण में इतना लालित्य आ गया है। उपदेशक उसके मनोगत भाव को तुरन्त समझ गया और उसने उसे अनेक बार धन्यवाद देते हुए कहा कि आपने मेरा दोष बतलाकर मेरा बड़ा उपकार किया है। मैं अब धीरे २ ही बोला करूँगा। मुझे खेद इस बात से है कि मेरे मित्रों ने मेरा ध्यान इस ओर नहीं दिलाया जैसा इस समय आपने दिलाया है। आज आपने सच्चे मित्र का कर्त्तव्य पूरा किया है; इसलिये आप आज से मेरे मित्र हुए।

अपने से छोटों के प्रति कर्त्तव्य।

संसार में जिस प्रकार कई लोग धन, अवस्था, पद, सम्बन्धादि अनेक बातों में हमसे बड़े होते हैं उसी प्रकार कई हमसे छोटे भी हुआ करते हैं। इनसे हमारा घना सम्बन्ध रहता है; अतएव इनके प्रति हमारा क्या कर्त्तव्य है इस बात को जान लेना हमारे लिये परमावश्यक है।

पाठ १.

माता-पिता का बच्चों पर प्रेम।

कहते हैं कि जिस घर में बच्चे नहीं होते वह घर अँधेरा सा रहता है। अच्छे बच्चे घर अथवा कुल के दीपक

कहे जाते हैं। छोटे बच्चों के मनोहर चरित्र देख ऐसा कौन वज्र-हृदय है जो प्रसन्न नहीं होता? तुलसीदासजी सत्य कहते हैं:—

> बाल-चरित अति सरल सुहाये। शारद-शेष-शम्भु-श्रुति गाये॥
> जिनकर मन इन-सन नहिं राता। ते जन वञ्चित किये विधाता॥

वास्तव में हमारे चरित्र-संगठन में हमारे बच्चे हमारी सहायता करते हैं; क्योंकि उनपर प्रेम रखने से हमारा हृदय बहुत कोमल हो जाता और दूसरों के बच्चों का क्लेश देखकर हमारे मन में सहानुभूति होती है, और हम उसे दूर करने का उपाय किया करते हैं। साथ ही हम उन माता-पिताओं के साथ भी सहानुभूति करना सीखते हैं जो बच्चों के कारण दुःखी होते हैं।

अपने बाल-बच्चों पर प्रेम रखना, उनकी भलाई करना, उन्हें सुखी रखने में ही सुखी होना प्रत्येक जीवधारी में एक स्वाभाविक गुण है। हाँ, कोई २ ऐसे भी नर-पिशाच देखने में आते हैं जो अपनी ही सन्तति से द्वेष-भाव रखते हैं; पर ऐसा होना नियम-रूप नहीं, अपवाद-रूप है।

अपने बच्चों पर स्नेह तो हममें एक स्वाभाविक गुण है; पर इसका फल ऐसा न होना चाहिये कि लाड़-दुलार के कारण बच्चों का चरित्र ही भ्रष्ट हो जाय जैसा कि बहुधा देखने में आता है। वास्तव में बच्चों का ठीक लालन-पालन बड़े विचार-शील एवं निःस्वार्थ मनुष्य का काम है। मनुष्य को देखना चाहिये कि हमारे बच्चे का कल्याण किस बात में है और उसी बात को करना अपना कर्त्तव्य समझना चाहिये। बहुतेरे माता-पिता लाड़-दुलार

की मात्रा इतनी अधिक बढ़ा देते हैं कि उनके बच्चे अत्यन्त आलसी, डरपोंक, निर्बल, स्वास्थ्य-हीन और पुरुषार्थ से वंचित हो जाते हैं और माता-पिता की मृत्यु के बाद बड़े२ क्लेश उठाते और कदापि सुखी नहीं रह सके। कई मूर्ख स्त्रियाँ अपने बच्चों का शासन न तो आप ही करतीं और न दूसरों को ही करने देती हैं। यदि शिक्षक ने किसी दिन उसे उचित दण्ड दिया और उसने आकर माता से दुःख रोया तो ये मूर्खायें उससे यह तो नहीं पूछतीं कि तूने क्या किया था जिससे दण्ड पाया, ऊपर से उसीका पक्ष करतीं और कोई २ तो पढ़ना-लिखना तक छुड़ा बैठती हैं। हमने कई स्त्रियों को यह कहते सुना है कि "हमारा ललुआ ब्राह्मण का लड़का है, और नहीं तो भीख माँग खायगा। हमने तो उसे कभी दूध की छड़ी से नहीं छुवा, अब यह मुआ मास्टर उसे ऐसा पीटता है जैसे गाय को कसाई। लल्लू ! तू कल से स्कूल जाय तो तुझे मेरी सौगन्द !!" भला, ऐसी मूर्ख माताओं के बच्चे निरे लट्ठ-पाँड़े निकलें तो आश्चर्य्य ही क्या?

इससे हमारा यह अभिप्राय नहीं है कि बालकों को सदा डाँटते-दपटते रहना चाहिये। समय २ पर ताड़न और लालन दोनों होना चाहिये। निरे ताड़न की मात्रा अधिक हो जाने से भी बच्चों को बड़ी हानि पहुँचती और वे जीवन भर निरुत्साह, निर्जीव तथा निराश बने रहते हैं।

लालने बहवो दोषास्ताड़ने बहवो गुणाः।
तस्मात् पुत्रञ्च शिष्यञ्च ताड़येत् न तु लालयेत्॥

नीति के इस श्लोक का अर्थ यही है कि निरा लालन बहुत हानिकारक होता है और बालकों की शिक्षा में समय २ पर ताड़न की भी आवश्यकता है। परमात्मा ने माता-पिता तथा अन्य सम्बन्धियों में—और सम्बन्धियों भर में क्या, जीवधारी मात्र में—अपनी सन्तति के प्रति जो वात्सल्य स्वाभाविक रीति से स्थापित किया है वह परमावश्यक है; अतएव उसका उपयोग करना हमारा कर्त्तव्य है; पर इस बात का स्मरण सदा रखना चाहिये कि इसके कारण हम अपने बालकों के प्रति जो हमारा प्रधान कर्त्तव्य है उससे विमुख न होने पावें, अर्थात् उनके उत्तम चरित्र-सङ्गठन में सदा सहायक बनें।

पाठ २.

सुरभी का आदर्श वात्सल्य।

देव-लोक में सुरभी नाम की एक गौ थी। उस लोक की समग्र गो-जाति इसीसे उत्पन्न हुई थी। एक दिन सुरभी देवताओं के राजा इन्द्र के सन्मुख जा खड़ी हुई और उसकी बड़ी २ सुन्दर आँखों से अश्रुओं की अविरल धारा बह निकली। इन्द्र ने पूछा—

इन्द्र—माता! तू ऐसी विलख २ क्यों रो रही है? तुझे ऐसा कौनसा कष्ट है जिसके कारण तू ऐसी व्याकुल है? क्या तुझपर कोई आपत्ति आई है?

सुरभी—महाराज, मुझपर तो कोई आपत्ति नहीं आई और न मुझे अपने लिये कुछ कहना ही है। मेरा सारा

दुःख मेरी सन्तान के कारण है। जिस माता की सन्तान का जीवन इतना कष्टकर हो वह सुख से कैसे रह सक्ती है?

इन्द्र—धिक्कार है मुझे कि मेरा तथा जगत का इतना उपकार करने वाली तू इस प्रकार दुःख उठावे और मुझसे उसका प्रतीकार कुछ भी न वन पड़े। भला वता तो सही, तेरी सन्तान को क्या कष्ट है?

सुरभी—महाराज! उनके कष्टों का कहीं ठिकाना है? आप भी देखते होंगे कि किसान जिन वैलों के कठिन परिश्रम से इतना अन्न उत्पन्न करते हैं उन्हीं उपकारी जीवों के प्रति कैसी कृतघ्नता प्रदर्शित करते हैं। उन्हें हल में जोतते और उनसे दिन २ भर कठिन परिश्रम लेते हैं। उनमें से कई भूखों मरने के कारण निर्व्बल हो जाते हैं और खेतों के ढेलों में पैर न जमने के कारण गिर २ पड़ते हैं, तिस पर ये निष्ठुर किसान उनकी पूँछ मरोर २ और मार २ कर उनको तंग करते हैं। गाड़ीवान, लादने वाले आदि भी इन मेरे पुत्रों पर तनिक दया नहीं करते। इन्हीं के दुःख से मैं सदा दुःखित रहा करती हूँ और आपकी शरण में न्याय की प्रार्थना करने के लिये उपस्थित हुई हूँ। आप हमारे राजा हैं। मैं आपसे न्याय की भिक्षा माँगती हूँ।

इन्द्र—तेरे पुत्रों में से कितने ऐसे दुखी हैं? क्या उनकी संख्या अधिक है?

सुरभी—महाराज! अधिक क्या, प्रायः सभी की यही दशा है। हा भगवन्! इन कष्टों को देख २ कर मुझे मर्म्मान्तक पीड़ा हुआ करती है, इसीसे मैं इतनी व्याकुल होकर दिनरात अश्रु-पात कर रही हूँ। अपने निर्ब्बल पुत्रों को इतना कष्ट भोगते हुए मैं नहीं देख सक्ती।

महाराज इन्द्र भी सुरभी का सन्तति-प्रेम देख उसके पुत्रों के कष्ट-निवारणार्थ प्रयत्न करने लगे, जिससे उनकी आज्ञा पाते ही मेघों के दल के दल आकाश में फैल २ कर वृष्टि करने लगे और खेतों की भूमि के आर्द्र हो जाने से बैलों का कष्ट बहुत कुछ दूर हो गया।

पाठ ३.

महाराज दशरथ का आदर्श सन्तति-प्रेम।

वृद्धावस्था के आ पहुँचने तक महाराज दशरथ पुत्र का मुख न देखने के कारण जैसे दुखी थे श्रीरामादि भ्राताओं के जन्म लेने से वे वैसे ही सुखी हो गये। कहा है:—

दशरथ पुत्र-जन्म सुनि काना। मानो ब्रह्मानन्द-समाना॥
परम प्रेम मन पुलक शरीरा। चाहत उठन करत मति धीरा॥
परमानन्द पूरि मन राजा। कहा बुलाइ बजावहु बाजा॥

यद्यपि महाराज दशरथ और कौशल्या आदि रानियाँ श्रीराम तथा उनके बाल-भ्राताओं पर प्रेम के वश प्राण न्यौछावर करने को तत्पर थीं, तथापि जब वे शिक्षा पाने योग्य हुए तब महाराज ने उन्हें गुरुजी के यहाँ

पढ़ने को भेज दिया और लाड़-दुलार के कारण अपने पैतृक कर्त्तव्य के पूर्ण करने में तनिक भी त्रुटि नहीं होने दी। लिखा है:—

गुरु-गृह गये पढ़न रघुराई। अल्पकाल विद्या सब पाई॥

क्षत्रियोचित-वीरों के कर्म्म, जैसे घोड़े की सवारी, मृगया, धनुर्विद्या आदि में प्राण-संकट रहने पर भी श्रीराम के माता-पिता ने उन्हें इनके सीखने से कदापि नहीं रोका और भीषण से भीषण कर्त्तव्यों के पालन से विमुख रहने का प्रयत्न नहीं किया, बल्कि उस छोटी अवस्था में भी दुष्ट राक्षसों के दमनार्थ महाराज विश्वामित्र के साथ उन्हें जाने दिया। वास्तव में महाराज दशरथ का अतुल सन्तति-वात्सल्य और साथ ही पुत्रों के उत्तम चरित्र-सङ्गठन की पूर्ण चेष्टा प्रत्येक माता-पिता के लिये आदर्श रूप है।

महाराज दशरथ का सन्तति-प्रेम कैसा अगाध था सो तो इसी एक बात से भी प्रकट होता है कि जब श्रीराम को वनवास के लिये जाना पड़ा तो आपने चौदह वर्ष का वियोग असह्य समझकर प्राण ही त्याग दिये। कैकेयी के मुख से राम-वन-वास का प्रस्ताव सुनकर आपने जो विलाप किया है * उसके एक २ अक्षर में अगाध सन्तति-प्रेम भरा हुआ है। महारानी कौशल्या * का विलाप भी हृदय-विदारक और उनके अतुल प्रेम का परिचायक है। उससे उनकी धर्म्म-निष्ठा एवं दृढ़ प्रतिज्ञा का उच्चतम आदर्श भी झलकता है।

---

* देखो, रामायण, अयोध्याकाण्ड।

पाठ ४.

महारानी कुन्ती का आदर्श पुत्र-वात्सल्य।

जुवा में सर्वस्व हारकर और कौरव-सभा में इतना अपमान सहकर जब पाण्डव-भ्राता अपनी राजधानी से भिक्षुकों की नाईं वनवास के लिये निकले हैं उस समय महारानी कुन्ती अपने पुत्रों की यह दशा देखकर जैसी दुःखित एवं विचलित हुई हैं उसका वर्णन व्यास के सदृश कवि ही कर सके हैं। यह वही नारी-हृदय है जो कर्त्तव्य-पालन के समय वज्र से भी अधिक दृढ़ हो जाता है। युद्ध का समय आने पर जिसने श्रीकृष्ण के हाथ अपने प्राणों से भी प्यारे पुत्रों को यह सन्देशा भेजा था कि "अब वह अवसर आया है जिसके लिये क्षत्रिय माता पुत्र-प्रसव की असह्य वेदना सहर्ष सहन करती है। इस अवसर पर अपना क्षात्र-धर्म्म पालते हुए प्राणों से भी हाथ धोना पड़े तो कोई चिन्ता नहीं; मगर पवित्र क्षत्रियकुल में कलङ्क न लगने पावे।" वे ही कुन्ती महारानी वन-वास के समय अपने पुत्रों का दुःख देख कैसी व्याकुल होती हैं! कर्त्तव्य पालन में उनका वज्रवत कठोर हृदय सन्तति-प्रेम के कारण किस प्रकार साधारण कमल के फूल की नाईं कोमल हो जाता है और वे एक साधारण अबला के समान अश्रु-पात करती हैं! पुत्र-वात्सल्य ऐसा ही प्रबल होता है जिसके वश में आकर पत्थर सा हृदय भी पसीज उठता है। इसी पुत्र-वात्सल्य से प्रेरित हो वीराङ्गना कुन्ती अपना सब सुख छोड़ अपने

निर्वासित पुत्रों के पीछे भयङ्कर वनवास का साम्हना करती हूँ।

पाठ ५.

अर्जुन का पुत्र-प्रेम।

धन्य है हमारे प्राचीन-पूर्व्वजों की कर्त्तव्य-निष्ठा! प्रत्येक क्षत्रिय अपने पुत्र को लुटपन से ही युद्ध की शिक्षा देता था और जब उसका प्राण-प्यारा पुत्र रण पर जाता, तो माता-पिता यही उपदेश देते थे कि चाहे प्राण ही क्यों न जाँय; पर शत्रु को पीठ मत दिखाना। पत्नियाँ भी अपने पतियों को अपने कोमल हाथों से सुसज्जित कर रण-क्षेत्र को भेजा करती थीं। वीर बालक अभिमन्यु और नव-वधू उत्तरा का ऐसे ही समय का आख्यान कैसा करुणा-पूर्ण है।

महाराज अर्जुन अपने पुत्र अभिमन्यु को अपने नेत्रों का तारा समझते थे, तथापि युद्ध में प्राण-सङ्कट से भय-भीत होकर उन्होंने क्षत्रिय-धर्म्म से उसे विमुख नहीं होने दिया। धन्य है अभिमन्यु की वीरता एवं रण-कौशल जिसके बल वह द्रोणादि महारथियों के भी दाँत खट्टे करता रहा और धर्म्म-युद्ध में अन्त तक परास्त नहीं हुआ। निदान जब कौरव-सेनापतियों ने अपनी सेना का अधिक नाश होते देखा तो अधर्म्म-पूर्व्वक कई रथियों ने एक साथ ही उसपर आक्रमण करके उसका वध किया और सदा के लिये अपनी निर्म्मल कीर्त्ति को कलुषित कर डाला। युद्ध

समाप्त कर सायंकाल जब अर्जुन अपने डेरे को लौटते और अपने कलेजे के टुकड़े, अभिमन्यु, की मृत्यु का दारुण समाचार सुनते हैं, तो दुःख के दुर्दमनीय आवेग से वे पागल से हो जाते हैं। वे बार बार उस समय का स्मरण करते हैं जब अनेक महारथियों से घिरकर अभिमन्यु ने अपने वीर-शिरोमणि पिता से सहायता पाने की आशा की होगी। इन बातों का स्मरण करते करते वे व्याकुल हो उठते और यही कहते हैं कि "हाय! मैं अन्त समय उसके काम न पड़ सका।"

पाठ ६.

निर्बलों की रक्षा।

राजा का कर्त्तव्य।

अपनी निर्बल प्रजा की रक्षा करना प्रत्येक राजा का धर्म्म है। राजा और प्रजा का परस्पर सम्बन्ध पिता-पुत्र के सम्बन्ध के समान बतलाया गया है। प्रजा का धर्म्म है कि अपने राजा को पिता के तुल्य माने, उसके प्रति पूर्ण भक्त हो और उसकी आज्ञाओं का उल्लंघन न करे। इसी प्रकार राजा भी अपनी प्रजा को पुत्रवत् माने, उसके उचित अनुरञ्जन में सदा तत्पर रहे और उसकी रक्षा बाह्य शत्रु तथा स्थानीय उपद्रवियों से करता रहे। शान्ति-रक्षा प्रत्येक राजा का प्रधान कर्त्तव्य है; क्योंकि इसके न रहने और देश में राज-विद्रोह, कलह आदि के फैलने से प्रजा की उन्नति होना असम्भव है।

रक्षणादार्यवृत्तानां कंटकानां च शोधनात्।
नरेन्द्रास्त्रिदिवं यान्ति प्रजा-पालन-तत्पराः॥

[मनु, अ० ९, श्लो० २५३]

आर्य्य अर्थात् श्रेष्ठ वृत्ति के प्रजागणों की रक्षा करने से तथा कण्टक-रूप दुष्ट जनों का शोधन करने से प्रजा-पालन में रत राजा स्वर्ग प्राप्त करते हैं।

यथोद्धरति निर्दाता कक्षं धान्यं च रक्षति।
तथा रक्षेन्नृपो राष्ट्रं हन्याच्च परपन्थिनः॥

[मनु, अ० ७, श्लो० ११०]

जिस प्रकार निंदाई करने वाला किसान अपने खेत का नींदा उखाड़कर फेंक देता और धान्य की रक्षा करता है उसी प्रकार राजा भी अपने राष्ट्र वा प्रजा की रक्षा करे और अपने शत्रुओं को निर्म्मूल कर डाले।

प्रजा-गणों की रक्षा करना राजा का परम धर्म्म माना गया है। प्रजा को दुःख देने वाला चाहे जो हो राजा को उसे दण्ड देना ही चाहिये और बड़े-छोटे वा अपने-पराये का भेद न मानना चाहिये। महाराज सगर के पुत्र असमंजस ने जब उनकी प्रजा को बहुत कष्ट पहुँचाया और नगर-निवासियों के पुत्रों को नदी में डुबा डुबाकर मारना आरम्भ किया, तो राजा अत्यन्त दुःखित हुए और पता लगने पर उन्होंने अपने राजकुमार को उचित दण्ड देकर यद्यपि बहुत बड़ा कष्ट सहा, तथापि वे प्रजा-रक्षण-रूपी धर्म्म से विमुख नहीं हुए।

अँगरेज़ी इतिहास में राजकुमार और न्यायाधीश ग्रेगोयन की कथा प्रसिद्ध है। राजकुमार के उद्धत आचरण

से न्यायाधीश ने उसे कारा-वास का दण्ड देकर अपना कर्त्तव्य पूरा किया जिससे न्यायाधीश की निर्भीकता एवं न्याय-तत्परता से महाराज हेनरी बहुत सन्तुष्ट हुए और न्यायाधीश का बड़ा मान किया।

पाठ ७.

दया, तथा शरणागतों को आश्रय।

(१) महारानी द्रौपदी की आदर्श दया।

दया भी बड़े तथा बलवान् पुरुषों का भूषण है। महात्माओं में यह गुण स्वाभाविक है। ऐसे तो निर्बल, अशक्त एवं दीन-दुःखी जीव-मात्र उनकी दया के पात्र होते हैं; पर जो लोग उनकी शरण में जाते हैं उनकी रक्षा तो वे प्राण-पण से करते हैं। महात्मा जन अपने शत्रु को भी गिरा हुआ देख उसपर दया करते हैं। अश्वत्थामा ने द्रौपदी महारानी के ५ पुत्र मार डाले। उनके शवों को देख महारानी अत्यन्त व्याकुल हो उठीं और उन्होंने प्रतिज्ञा की कि अपने पुत्रों के घातक के रुधिर से जब स्नान कर लूँगी तब कहीं मुझे सन्तोष होगा और मेरी आत्मा शान्ति पावेगी। निदान जब वह दुरात्मा महारानी के सन्मुख बाँधकर लाया गया तो गुरु-पुत्र की ऐसी दीन दशा देख उनका हृदय दया से द्रवीभूत हो उठा और उन्होंने अपने क्रुद्ध पति से निवेदन किया कि इसके पाप-कर्म्म के बदले इसका अपमान कर छोड़ दीजिये, मारिये नहीं। इसपर अश्वत्थामा की

चोटी काट ली गई और वह छोड़ दिया गया। धन्य हो द्रौपदी! धन्य है तुम्हारी विलक्षण दया!

(२) महाराज युधिष्ठिर की दया।

महाप्रस्थान के समय महारानी द्रौपदी और भीम, अर्जुन आदि चारों पाण्डव-भ्राता तो एक एक करके मार्ग में गिर गिरकर परलोक-वासी हुए; पर महाराज युधिष्ठिर भाँति भाँति के कष्ट सहते और जङ्गल, पहाड़, नदी, नाले, मरुस्थल आदि पार करते हुए दूर जा पहुँचे। आपके साथ एक कुत्ता भी था। इस अनाथ मूक जीव पर धर्मराज युधिष्ठिर का बड़ा छोह हो गया था; क्योंकि वे उसे अपनी शरण में आया हुआ समझते थे। स्वर्ग के द्वार पर स्वर्ग के राजा इन्द्र तथा देवगणों ने महाराज का अच्छा आगत-स्वागत किया और भीतर प्रवेश करने के लिये निवेदन किया; पर जब वह परम स्वामि-भक्त कुत्ता भी आपके साथ पीछे पीछे चला तो इन्द्र ने उसे रोका। यह देख महाराज युधिष्ठिर ने स्वर्ग में प्रवेश करना अस्वीकार किया और उनके तथा इन्द्र के बीच इस तरह वाद-विवाद होने लगाः—

युधिष्ठिर—हे देव! यह कुत्ता मेरा पूर्ण-भक्त है। इसपर मैं भी बहुत अनुरक्त हूँ। यह बड़े बड़े कष्ट सहकर मेरे साथ आया है। इसे मैं शरणागत समझता हूँ; अतएव यह कैसे सम्भव है कि इसे यहाँ अकेला छोड़ आपके साथ चलूँ। जहाँ मैं जाऊँगा वहाँ यह भी चलेगा।

इन्द्र—महाराज! आपकी बुद्धि को क्या हो गया है? आप ने महारानी द्रौपदी को, भीम-अर्जुन के सदृश

वीर-भ्राताओं को तथा इतने बड़े साम्राज्य एवं ऐश्वर्य्य को त्यागने में तो तनिक भी संकोच न किया; पर इस नीच कुत्ते को त्यागना इतना कठिन समझ रहे हैं!

युधिष्ठिर—धन्य महाराज! क्या आप मुझे छलना चाहते हैं? न तो मैंने उन्हें त्यागा और न उन्होंने मुझे। मृत्यु ने हम लोगों को विलग कर दिया है। इसमें मेरा वश नहीं है और न मैंने कोई पाप ही किया है। जब वे मरकर गिर पड़े तो मैं चला आया; पर यह कुत्ता तो मरा नहीं है और मेरे आश्रय में यहाँ तक आया है। इसे मैं नहीं त्याग सक्ता। राज्य और ऐश्वर्य्य इसके समान प्राणी तो हैं नहीं, जो मेरे त्यागने से दुखी हों। अन्त में उनका त्याग प्रत्येक आर्य्य का कर्त्तव्य है। आप व्यर्थ विवाद क्यों करते हैं? जो लोग शरणागत को त्यागने में ही कुलीनता समझते हैं, ऐसे स्वामि-भक्त जीव को कष्ट में डालकर स्वर्ग-सुख भोग कर सक्ते हैं, उनके साथ मेरा रहना असम्भव है; इसलिये आप दया कीजिये और अपने इस दिव्य विमान को लेकर लौट जाइये। मैं अपने कर्त्तव्य तथा प्रतिज्ञा पर अटल हूँ। शरणागत को भयभीत करने, अबला के वध करने, एक साधु पुरुष की कोई वस्तु चुरा लेने या मित्र के साथ विश्वास-घात करने में जितना पाप है उतना ही पाप इस अनुरक्त जीव के त्यागने में है। मैं ऐसा कदापि न करूँगा। चाहे स्वर्ग भले ही जाय; पर क्षत्रियों का धर्म्म नहीं जा सक्ता।

इन्द्र—आप क्या कहते हैं? यह पशु-योनि भला मेरे विमान पर चढ़कर स्वर्ग कैसे जा सका है? आप महात्मा पुरुष हैं और आपने अपने पुण्यों के बल स्वर्ग-निवास प्राप्त किया है। आप अब हम देवताओं के तुल्य हो गये हैं, पर इस नीचातिनीच अपवित्र पशु ने ऐसा क्या पुण्य किया है जो स्वर्ग-लाभ कर सके? आप अपनी उन्नति में इसे बाधक न बनने दें और इसे यहीं अपने दुष्कर्मों का फल भोगने के लिये छोड़ चलें।

युधिष्ठिर—महाराज! इसे तो मैं नहीं त्याग सकता। मुझसे ऐसा दुष्कर्म होना असम्भव है। भला मैं इतना निष्ठुर कैसे हो जाऊँ कि इस दुःख-सुख के संघाती जीव को यहाँ त्यागकर स्वर्ग का आनन्द भोगने के लिये इस विमान पर जाऊँ और यह बेचारा मूक प्राणी मेरा स्मरण कर करके कलपता फिरे। जिसने मेरा इतना विश्वास किया है कि मेरे आश्रय में सहस्रों योजन की यात्रा कर मेरे साथ आया है उसे मैं कैसे त्यागूँ?

इन्द्र—महाराज! स्वर्ग में रहने के लिये आपको वहाँ के ही नियम पालना पड़ेंगे।

युधिष्ठिर—शरणागत का त्याग और एक सच्चे स्वामि-भक्त जीव के साथ विश्वास-घात यदि स्वर्ग का नियम है तो ऐसे स्वर्ग को दूर से ही नमस्कार है।

इन्द्र—(उग्र रूप धारण करके) देखिये, समय नष्ट न कीजिये, स्वर्ग का सुख भोगना हो तो ऐसे नीच जीवों की सङ्गति छोड़िये।

युधिष्ठिर—(दृढ़तापूर्व्वक)-बस, रहने दीजिये। आप तो देवताओं के राजा हैं, परम नीतिज्ञ हैं, महा बुद्धिमान् हैं। क्या आप नहीं जानते कि अपने ऊपर अनुराग रखनेवाले जीव का त्याग महापाप है; ब्राह्मण-वध के तुल्य है? सभी शास्त्र ऐसा कहते हैं। स्वर्ग-सुख के लिये भी मैं ऐसा घोर पातक न करूँगा। आप अपना विमान लौटा ले जाइये।

युधिष्ठिर के मुख से ये वचन निकले ही थे कि वह कुत्ता न जाने कहाँ अदृश्य हो गया और उसके स्थान में एक दिव्य पुरुष दिखाई दिया। वास्तव में वह कुत्ता नहीं था, धर्म्मराज ने महाराज युधिष्ठिर की परीक्षा करने के निमित्त एक कुत्ते का रूप धारण कर उनका पीछा किया था। जब वे परीक्षा में पूरे उतरे तो देवगण उनकी भूत-दया, धर्म्म-निष्ठा एवं दृढ़ प्रतिज्ञा की प्रशंसा के गीत गाने लगे और इन्द्र तथा धर्म्मराज ने युधिष्ठिर की भूरि भूरि प्रशंसा करते हुए उन्हें विमान पर चढ़ा लिया और स्वर्ग को पधारे।

पाठ ८.

महाराज शिवि की दया।

उशीनर-पुत्र महाराज शिवि राज-सभा में सिंहासन पर विराजमान थे। अकस्मात् एक कपोत उड़ता उड़ता आया और महाराज की गोद में बैठ गया। मारे डर के उसकी दशा बहुत ही शोचनीय हो रही थी और वह हाँफ

रहा था। उसकी यह दशा देख महाराज शिवि को उसपर बड़ी दया आई और वे उसके पंखों पर हाथ फेरते हुए उसे आश्वासन देने लगे। इतने में एक बाज उड़ता हुआ वहाँ आ पहुँचा और बड़े क्रोध से राजा से कहने लगाः—

बाज—महाराज! यह कपोत मेरा आहार है। यदि आप उसे छोड़ दें तो मेरी क्षुधा तृप्त हो। इसका पीछा करते २ मैं बहुत थक गया हूँ और इसे खाकर कहीं विश्राम करना चाहता हूँ। आप मेरा भाग मुझे दीजिये।

कपोत—दुहाई महाराज की! आप मुझ शरणागत को मेरे भक्षक के हवाले करेंगे तो घोर पाप होगा। मैं आपके देश में रहता हूँ और आपकी दीन प्रजा हूँ। इस निष्ठुर बाज से मेरी रक्षा करना आपका धर्म्म है। क्या आप ऐसे न्यायी राजा होकर इतना अन्याय करेंगे कि मुझ दीन शरणागत को जानबूझकर इसे दे देंगे? फिर आपका क्षात्र-धर्म्म कहाँ रहेगा?

बाज—महाराज! आपको न्याय ही करना चाहिये। किसीका अंश छीन लेना न्याय नहीं है। देखिये, पक्षी मेरे स्वाभाविक आहार हैं; अतएव इस कपोत पर आज मेरा अधिकार है। इसे छीन लेना कदापि न्याय-सङ्गत नहीं है। मैं भी आपकी प्रजा हूँ। मुझे भी बचाना आपका धर्म्म है।

महाराज शिवि—(कुछ देर विचारकर) तुम दोनों का कहना ठीक है। हे कपोत! तुझ निरपराध के

प्राणों की रक्षा करना जैसा मेरा कर्त्तव्य है वैसा ही इस बाज को भी क्षुधा से मरने से बचाना मेरा धर्म्म है। यह स्वभाव से ही मांस-भक्षक है; अतएव अन्न से इसकी तृप्ति नहीं हो सकती। हे बाज! मैं तुझे दूसरा भोजन दूँगा, तू इस कपोत को छोड़ दे; इसने मेरी शरण ली है; अतएव इसकी रक्षा करना मेरा कर्त्तव्य है।

बाज—नहीं महाराज! मैंने इतनी दूर तक कपोत का पीछा किया है; अतएव मैं इसे नहीं छोड़ सक्ता। यदि आप इसे नहीं देते तो मैं बिना अन्न-जल के प्राण छोड़ दूँगा और मेरा भोजन अपहरण करने का पाप आपपर होगा। आप मेरा अंश न छीनिये। यदि आप इस कपोत के प्राण बचाना चाहते हैं तो मुझे इसके शरीर की तौल भर मांस अपने शरीर से काटकर प्रदान कीजिये, मैं इसपर से अपना दावा छोड़ देता हूँ।

उस बाज की ऐसी धृष्टता देख राज-मंत्रियों तथा सभासदों को बड़ा क्रोध आया और वे उसे प्राण-दण्ड देने को तत्पर हो गये। यह देख धर्म्मात्मा शिवि ने उन लोगों को समझाकर कहा।

शिवि—आप लोग इस पक्षी पर इतना क्रोध न कीजिये। मैं यहाँ न्यायासन पर बैठा हूँ। मैं अपनी प्रजा के लिये मानो धर्म्म का अवतार हूँ। मेरी दृष्टि में न तो कोई छोटा है और न बड़ा, सब बराबर हैं। यदि मैं समदर्शी नहीं बनता। और अपने धर्म्म का पालन नहीं करता तो मेरी प्रजा मेरा अनुकरण

करती हुई अपने धर्म्म को और भी छोड़ बैठेगी। अरे, कोई है? जाकर तुला (तराजू) ले आओ।

महाराज के ये वचन सुनकर मंत्री बहुत व्याकुल हुए; पर क्या करें? राजाज्ञा का उल्लंघन किसी से न हो सका। तराजू आने पर राजा ने एक ओर उस कपोत को रक्खा और दूसरी ओर अपने शरीर से मांस के पिंड काट काट-कर रखना आरम्भ किया; पर उस कपोत का पलड़ा नीचा ही रहा। इस प्रकार राजा ने कई मांस-पिंड तराजू में रक्खे; पर कपोत का भार बढ़ता ही गया, तब तो महाराज ने सारा शरीर तराजू पर रख दिया; पर ऐसा करते ही वह बाज और कपोत अन्तर्धान हो गये और दो दिव्य पुरुष वहाँ दिखाई दिये जिनमें से एक तो इन्द्र थे और दूसरे अग्नि-देव। दोनों ने महाराज शिवि की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की और कहा कि "हे राजन्! प्रजा की रक्षा राजा का प्रधान कर्त्तव्य है सो, आप अपने धर्म्म को भलीभाँति जानते हैं। आप बड़े-छोटे का भेद नहीं रखते और अपना शरीर देकर अपने न्याय-धर्म्म का पालन करने में तत्पर हैं। धन्य है आपकी धर्म्म-भीरुता! धन्य है आपका यह अतुल साहस! हमने आपकी कीर्त्ति सुनी थी; इसलिये आपकी परीक्षा करने को आये थे। आप हमारी परीक्षा में पूरे उतरे। हमने आपको जैसा धार्म्मिक सुना था उससे कहीं अधिक पाया। अब हम आशीर्वाद देते हैं कि आपके शरीर के घाव तुरन्त पुर जाँय और आप अपनी प्रजा के हृदय में स्थान प्राप्त करें।

बालको! यह न समझना कि दया करना केवल राजाओं का ही धर्म्म है, तुम्हारा नहीं। तुम भी अपने

साथ रहनेवाले मनुष्यों तथा जीवों पर दया कर सक्के हो और उनके दुःख को अपनी शक्ति के अनुसार दूर करके उन्हें सुखी कर सक्के हो। इन कथाओं में बड़े बड़े आदर्श भरे पड़े हैं जिनके अनुसार अपना जीवन बनाना तुम्हारा प्रधान कर्त्तव्य है।

पाठ ९.

महाराज रन्तिदेव की अलौकिक दया।

रन्तिदेव भी एक राजा थे। आपने अपने परिवार-सहित ४८ दिन का उपवास कर और ४९ वें दिन कुछ भोजन-सामग्री एकत्र कर भोजन तय्यार किये और थाली परोस और सब मिलकर खाने को बैठे। इतने में एक ब्राह्मण ने आकर भिक्षा माँगी। रन्तिदेव ने उसके पैर धोकर उसे बैठाया और पेट भर भोजन कराया। वह खा-पीकर बाहर गया और इन लोगों ने शेष भोजन परोसकर ज्योंही ग्रास उठाना चाहा त्योंही एक शूद्र ने भोजन पाने के लिये रन्तिदेव से प्रार्थना की। आपने उसे भी बड़ी श्रद्धा से भोजन कराया। इतने में एक और अतिथि बहुत से कुत्ते लिये आ पहुँचा और उसने तथा उसके कुत्तों ने सारा भोजन खा डाला।

अब तो रन्तिदेव के पास थोड़े से जल के सिवा और कुछ भी न बच रहा जिसे पीकर उन्होंने अपनी प्यास बुझानी चाही। इतने में शब्द सुनाई दिया कि "मैं बहुत प्यासा हूँ; मारे प्यास के मेरा गला सूखा जाता है, आप

मुझे यह जल दे दीजिये।" यद्यपि राजा की बहुत बुरी दशा थी, तथापि उन्होंने अपनी तृप्ति न करके उस अभागे को वह जल पिला दिया और मीठे २ वचनों से उसे आश्वासन दिया और सर फिलिप सिडनी * (Sir Philip Sidney) से भी बढ़कर आत्म-त्याग प्रदर्शित किया।

निदान जब रन्तिदेव के पास कुछ न बचा तो वे अपना सब दुःख भूलकर ईश्वर को धन्यवाद देने और प्रार्थना करने लगे कि "हे भगवन्! न तो मैं सिद्धियाँ चाहता हूँ और न मुक्ति; मुझे तो आप वह शक्ति दीजिये कि मैं सब में व्यापक होकर उनके सब क्लेश वा दुःख भोग सकूँ और वे उनसे बचे रहकर सुख से जीवन निर्वाह करें।"

इससे बढ़कर भूत-दया का आदर्श और क्या हो सक्ता है?

पाठ १०.

अहङ्कार।

दूसरे प्राणियों पर दया करना, और उनके साथ सहानुभूति प्रकट करना यद्यपि हमारा परम-कर्त्तव्य है,

---

* नोट—सर फिलिप सिडनी युद्ध में घायल होने से अवनत हो रहे थे। मारे प्यास के उनका कंठ सूखा जाता था। इतने में एक सिपाही बड़ी कठिनाई से अपने टोप में थोड़ासा जल भरकर आपके पीने को ले आया। सर फिलिप सिडनी ने ज्योंही प्याला ओंठों से लगाया त्योंही उनकी दृष्टि एक दूसरे घायल सिपाही पर पड़ी जो सतृष्ण नेत्रों से उसकी ओर देख रहा था। आपने तुरन्त वह जल उसे देकर कहा कि "पिओ; तुम्हें मुझसे भी अधिक आवश्यकता है।" (Thy need is greater than mine.)

तथापि यह देखने में आया है कि बहुतेरे प्रशंसा पाने के लिये ही यह कार्य्य करते हैं, निरा कर्त्तव्य समझकर नहीं। ऐसे लोगों में अभिमान भी आ जाता है कि हम बड़े दयालु एवं धार्मिक हैं। यह अहङ्कार मनुष्य को बहुत नीचे गिरा देता है। अपना कर्त्तव्य करने में प्रशंसा या कीर्ति की आशा न करनी चाहिये। हाँ, कर्त्तव्य न करने से लज्जित तो होना ही चाहिये; पर उसके करने में कोई बहादुरी न समझना चाहिये। पर मनुष्य का हृदय ऐसा दुर्बल है कि वह थोड़ा बहुत भी कर्त्तव्य पालन करने में अहङ्कार करने लगता है कि हम बड़े धार्मिक हैं और दूसरों का उपकार करते हैं। मनुष्य को इस प्रबल शत्रु अहङ्कार से सदा सावधान रहना चाहिये कि वह हृदय में स्थान न पाने पावे, नहीं तो फिर वह निकाले नहीं निकलता और बढ़ता ही जाता है। ऐसा अहङ्कार हमको अत्यन्त क्षुद्र बनाकर छोड़ता है और बड़ी बड़ी आपत्तियों में डालकर धर्म्म-च्युत कर देता है। इसके थोड़े से दृष्टान्त हम यहाँ देते हैं—

पाठ ११.

अहङ्कार के उदाहरण।

(१) ऋषिनारायण का अहङ्कार।

ऋषिनारायण ने हिमालय पर्वत की कन्दराओं में रहकर कई युग पर्य्यन्त घोर तप किया जिससे इन्द्र ने यह परीक्षा करनी चाही कि देखें, इतना तप करने पर भी ये वशेन्द्रिय बन सके हैं अथवा नहीं। निदान देवराज ने

अपने लोक से इनकी परीक्षा करने के निमित्त अप्सराओं के दल के दल भेजे। ऋषि को योगबल से विदित हो गया कि इन्द्र हमारे साथ ऐसा व्यवहार करने वाले हैं; अतएव आपने साभिमान उतनी ही अप्सराएँ उत्पन्न करके स्वर्गीय अप्सराओं का स्वागत करने के लिये भेजीं। यह देख वे सब इन्द्र की भेजी हुईं अप्सराएँ लज्जित हो ऋषिनारायण की स्तुति करने लगीं जिससे अहङ्कार ने आपकी बुद्धि कलुषित कर डाली, और आपने उनसे साभिमान कहा कि "इन्द्र कदाचित् मेरे पुरुषार्थ को नहीं समझे, नहीं तो मेरी परीक्षा करने के लिये इस प्रकार षड्यन्त्र न रचते। तुम लोगों का कोई अपराध नहीं है, तुम तो अपने स्वामी की आज्ञा से यह कार्य्य करने को सहमत हुई हो। मैं तुमसे अप्रसन्न नहीं, प्रसन्न हूँ। तुम मुझसे मनमाना वरदान माँग लो। ऐसा कौन सा वर है जो मैं इतना बड़ा योगीश्वर होकर तुम्हें नहीं दे सकता।" अप्सराओं ने छिद्र पाकर नारायण से यह वर माँगा कि आप हम सबको पत्नी-भाव से स्वीकार करें। अब तो ऋषि महोदय बड़ी कठिनाई में पड़े और अपने को बार बार धिक्कारने लगे कि हाय! मैंने अहङ्कार-वश कैसा अनर्थ कर डाला, जिससे मैं अपने उच्च पद से च्युत होकर गृहस्थी के झंझट में फँसा। उन अप्सराओं से आपने कहा कि "इस जन्म तो मैं त्यागी हूँ; अतएव फिर गृहस्थ बनना मेरे लिये असम्भव है; पर दूसरे जन्म में मैं कृष्णा-वतार लेकर जब गृहस्थाश्रम में रहूँगा तब तुम्हारी मनो-कामना पूरी होगी। तुम भी मर्त्य लोक में बड़े बड़े घरों में अवतार धारण करोगी और मैं धर्म्म-पूर्व्वक तुम्हारा पाणि-ग्रहण करूँगा।"

(२) महाराज वशिष्ठ का अहंकार ।

एक बार महाराज विश्वामित्र अपनी सेना लिये हुए महर्षि वशिष्ठ के आश्रम के समीप पहुँचे। अपनी सेना को आश्रम से दूर छोड़ आप अकेले महर्षि के दर्शनों के लिये गये। यह देख वशिष्ठ सोचने लगे कि " हो न हो, विश्वामित्र मेरे तपोबल को तुच्छ समझकर ही अकेले मेरे पास आये हैं। आपने समझा है कि यह साधु हमारी सेना का अतिथि-सत्कार करने में असमर्थ है। मुझ ऐसे तपस्वी के लिये यह बड़ी मान-हानि है।" ऐसा सोच-विचार कर और अहङ्कार के वश में पड़ महर्षि वशिष्ठ ने आग्रह-पूर्वक विश्वामित्र को ससैन्य आतिथ्य स्वीकार करने के लिये कहा और अपने तपोबल से उन सबकी पूर्ण तृप्ति भी की।

महर्षि वशिष्ठ की गौ का नाम नन्दिनी था और वह कामधेनु के सदृश अपने स्वामी की आज्ञा पाते ही सब प्रकार के पदार्थ दे सकती थी। उसीकी शक्ति का यह चमत्कार था कि वशिष्ठ गाधिराज विश्वामित्र की अपार सेना को भोजनादि से तृप्त कर सके। यह देख विश्वामित्र के हृदय में लालच हो आया और उन्होंने महर्षि वशिष्ठ से नन्दिनी के लिये प्रार्थना की कि " आप तपस्वियों को ऐसी गाय से क्या लाभ, यह तो राजाओं के घर में ही शोभा दे सकती है, सो कृपया आप इसे मुझे दे दीजिये।" महर्षि वशिष्ठ यह सुन मन ही मन अत्यन्त दुःखित एवं क्षुब्ध हुए और विचारने लगे कि न मैं इतना अभिमान करता और न इस झंझट में फँसता। ऊपर से आपने विश्वामित्रजी को यह

उत्तर दिया कि यदि नन्दिनी अपनी इच्छा से आपके साथ जाना चाहे तो मैं उसे जाने दूँगा; पर यदि वह जाना न चाहेगी तो मैं कुछ न कर सकूँगा। इसपर विश्वामित्रजी ने उस गौ को ले जाने के लिये बहुत प्रयत्न किया; पर वह टस से मस न हुई। अन्त में राजा के सैनिकों ने उसपर बल-प्रयोग करके उसे ले जाना चाहा जिससे उसका हृदय-विदारक विलाप सुन वशिष्ठजी को बड़ा क्रोध आ गया और उन दोनों के बीच में घोर युद्ध होने लगा। यह कोई विलक्षण बात नहीं हुई; क्योंकि अहङ्कार के आते ही उसका भाई, क्रोध, साथ ही लगा आता है जिससे युद्ध छिड़ जाना वा कलह होना एक साधारण बात है।

निदान यह बड़ा भयंकर युद्ध हुआ और बात यहाँ तक बढ़ी कि यह ब्राह्मणों और क्षत्रियों का युद्ध समझा गया। उस समय के क्षत्रिय राजाओं ने यहाँ के आदि-निवासियों पर जिस प्रकार अत्याचार किये थे उनका बदला लेने के निमित्त वे सब वशिष्ठजी के पक्ष में विश्वामित्र की सेना से युद्ध करने गये। कहते हैं कि महाराज विश्वामित्र ने अपने अतुल क्षत्रिय-बल से इन सबका नाश कर डाला; पर वे महर्षि वशिष्ठजी के तपोबल को न हिला सके। इस पर वे मन ही मन सोचने लगे कि मेरा सारा क्षात्र-बल इस लँगोटी-वाले ब्राह्मण के सन्मुख व्यर्थ ही गया। सच है—"मतिरेव बलाद् गरीयसी", अर्थात् बुद्धि-बल के सन्मुख शारीरिक बल काम नहीं देता और यदि बुद्धि-बल के साथ २ शील और सदाचार का बल भी हुआ तो ऐसे

पुरुष का सामना देवता, दैत्य, राक्षस आदि भी नहीं कर सके, फिर बपुरे मनुष्य की तो बात ही क्या है। बस, उसी तपोबल की प्राप्ति के लिये महाराज विश्वामित्र सर्वस्व त्याग घोर तप करने लगे और कई युग इस तरह व्यतीत कर जब उन्होंने ब्राह्मण-पद की योग्यता प्राप्त कर ली तो वशिष्ठजी ने उन्हें ब्रह्मर्षि कहकर उनका सन्मान किया। जब तक विश्वामित्र के हृदय में अपने तपोबल के अभि-मान का लेश भी रहा तब तक वशिष्ठ ने उन्हें राजर्षि कहकर ही सम्बोधन किया; पर जब अन्त में विश्वामित्रजी आकर उनसे विनीत भाव से मिले और उन्होंने भलीभाँति परख लिया कि सब अनर्थों की जड़, अहङ्कार, इनके मन से अलग हो गया है, तब उन्हें सहर्ष ब्रह्मर्षि कहकर उनका सम्बोधन किया।

(३) इन्द्र का अहंकार।

महाराज इन्द्र देवताओं के राजा होने से तीनों लोकों के राजा हैं। छोटे २ अधिकार पाने से जब मनुष्य अहङ्कारी हो जाता है, तो इन्द्र का अभिमानी हो जाना कोई बड़े आश्चर्य्य की बात नहीं है:—"प्रभुता पाय काह मद नाहीं", अथवा "जग बौराय राज-पद पाये।"

एक बार इन्द्र अपनी सभा में बैठे थे और सब देवगण हाथ जोड़े अपने २ स्थान में खड़े थे। इतने में सब देवताओं के गुरु महाराज बृहस्पति आ पहुँचे। इन्द्र ने

मारे अभिमान के अपने परम उपकारी गुरु की न तो कुछ अभ्यर्थना ही की और न इन्द्रासन त्याग खड़े ही हुए। अपने शिष्य के ऐसे अभिमान से तथा इस प्रकार अपने घोर अपमान से क्रोधित होकर बृहस्पति उलटे पैर लौट पड़े और उस दिन से उन्होंने देवताओं को सहायता देना बन्द कर दिया।

अभिमान में आकर अपने परम हितचिन्तक गुरु-देव को अप्रसन्न करने से इन्द्र भाँति २ की आपत्तियों में पड़ने लगे। अब उनकी सहायता न रहने से इन्द्र के शत्रु असुरों ने खूब सिर उठाया और इन्द्र तथा देवताओं को मारकर स्वर्ग से निकाल दिया। मनुष्य अपने मन के वश में होकर ज्योंही एक पाप कर बैठता है त्योंही उससे अन्य पाप भी होने लगते हैं और धीरे २ उसका अधःपतन हुए बिना नहीं रहता। बड़े पद से गिरनेवाले का स्वभाव बिगड़ जाता और वह बात २ में क्रोध करने लगता है। इन्द्र ने भी क्रोध में आकर दो ब्रह्म-हत्यायें कर डालीं और फिर इस पाप का प्रायश्चित्त करने के निमित्त वे तप करने लगे। देव-ताओं ने देखा कि राजा के न रहने से राज-प्रबन्ध नहीं हो सकता और राज-प्रबन्ध के न रहने से अनेक उपद्रव होते हैं; अतएव उन लोगों ने चन्द्रवंशी राजा नहुष को अपना राजा बनाया। नहुष थे तो मर्त्य लोक के क्षत्रिय; पर जब देवताओं में से इस पद के योग्य कोई न मिला, तो ये ही उसपर नियुक्त किये गये। आप थे भी बड़े योग्य एवं धर्मशील पुरुष। आपने स्वर्ग का राज्य बड़ी उत्तम रीति

से चलाया; पर धीरे २ आपके हृदय में पाप का संचार होने लगा। एक दिन आपने देवताओं से कहा कि जब मैं "इन्द्र के स्थान में यह शासन-रूपी भार उठाये हूँ तो इन्द्र के अधिकार भी मुझे मिलने चाहिये।" निदान इसने इन्द्र की रानी शची को अपने सन्मुख बुलाने की धृष्टता की।

देवताओं को उसका यह कार्य्य बहुत ही अनुचित मालूम हुआ। उन्होंने मन में विचारा कि यह पापी अब इन्द्रासन को कलङ्कित करना चाहता है; अतएव इसे निकालना ही उचित है। इन्द्र भी थोड़े ही समय में तपोवन से लौटने वाले हैं; इसलिये दूसरा राजा ढूँढने की भी कोई आवश्यकता नहीं है। पर, नहुष के प्रताप से, देवगण भी भयभीत थे; अतएव उसका साम्हना न करके उसे कौशल से पदच्युत करना उचित समझते थे। निदान सबने यही विचारा कि यदि नहुष किसी महापुरुष का अपमान करे तो उसके शाप से अवश्य ही अपना पद खो बैठेगा। ऐसी मंत्रणा करके देवताओं ने शची को सिखलाया कि आप नहुष से कहला भेजें कि "यदि आप ऋषियों को कहार बनाकर पालकी पर मेरे यहाँ आवें तो आपके सन्मुख आने में मुझे कोई आपत्ति नहीं है।" यह मूर्ख चरित्र-भ्रष्ट होने से बुद्धि भी खो बैठा था; अतएव देवताओं के इस जाल में अनायास ही फँस गया। वह ऋषियों के कन्धों पर पालकी रखवाकर रानी के स्थान को चला। मार्ग में इस अभिमानी ने परम पूज्य ऋषि अगस्त्य के सिर पर अपने पैर की ठोकर मारकर कहा कि इतने धीरे मत चलो। महाराज अगस्त्य ने देखा कि अब नहुष के पापों का घड़ा लबालब भर गया और उसके पतन का समय भी आ पहुँचा; अतएव आपने

उसे शाप दी जिससे वह सर्प का रूप धारण कर तुरन्त ही स्वर्ग से भूमि पर आ गिरा और कई युगों तक इस नीच योनि में रहने के बाद अन्त में महाराज युधिष्ठिर की कृपा से उसका उद्धार हुआ।

(४) विरोचन-सुत बलि का अहंकार।

राजा बलि एक परम धार्मिक सज्जन थे; पर धीरे २ उनके हृदय में भी अपनी धार्म्मिकता का अभिमान आया और ये समझने लगे कि संसार में मेरे समान धार्म्मिक कोई दूसरा नहीं है। जब तक बलि का हृदय अहङ्कार-रूपी पाप से कलुषित नहीं हुआ था तब तक उनके यहाँ श्रीलक्ष्मीजी का वास था और वे बड़े सुखी थे; पर अहङ्कार के आते ही लक्ष्मी ने बलि का घर त्याग दिया जिससे उनके सभी कार्य्य असफल होने लगे। लक्ष्मीजी बलि के शत्रु इन्द्र के यहाँ जब जाने लगीं तब बलि ने बहुतेरा समझाया कि आप मेरा घर न त्यागें; पर उन्होंने यही उत्तर दिया कि "अभिमानी पापात्मा के घर मेरा निवास नहीं हो सक्ता; अतएव मुझे जाना ही पड़ेगा।"

पाठ १२.

छोटों से बड़ों का हित।

कभी कभी ऐसा भी होता है कि गुरुजन तो क्रोध तथा अभिमान-वश कोई बड़ा पाप करने को तत्पर हो जाते हैं; पर छोटे अपनी बुद्धि के बल उनकी रक्षा करते हैं।

इसी प्रकार एक पुत्र ने अपने पिता की रक्षा की थी जिसकी कथा हम नीचे देते हैं:—

गौतम-सुत चिरकारी।

चिरकारी का जैसा नाम था वैसा ही उसमें गुण भी था, अर्थात् प्रत्येक कार्य्य वह विलम्ब से करता था। शीघ्र ही निश्चय करके कार्य्य करने की शक्ति उसमें न थी। उसका बहुत सा समय सोच-विचार करने में ही चला जाता था। एक बार उसका पिता अपनी स्त्री का कुछ अनुचित कर्म्म देख मारे क्रोध के पागलसा हो गया और पुत्र को उसके वध की आज्ञा देकर कहीं बाहर चला गया। अब तो चिरकारी बड़े असमञ्जस में पड़ गया। यहाँ तो पिता की आज्ञा और यहाँ माता का वध! सोचते २ बहुतसा समय बीत गया; पर वह कुछ निश्चय न कर सका। उसने देखा कि जिस प्रकार पिता की आज्ञा का पालन करना मेरा धर्म्म है उसी प्रकार माता की रक्षा करना भी मेरा धर्म्म है। यह सत्य है कि पिता की आज्ञा पालने से पुत्र सुखी रहता, उसकी आयु बढ़ती और देवगण भी उससे प्रसन्न रहकर उसका कल्याण करते हैं। पुत्र के पास जो कुछ होता है सो सब पिता का ही दिया हुआ रहता है; पर माता का दान तो इससे बहुत बढ़कर है; क्योंकि वह शरीर की देने-वाली है। बाल्य-काल में यदि माता दिनरात रक्षा न करती रहे तो बालक एक दिन भी नहीं जी सक्ता। माता वात्सल्य की मूर्ति है, बच्चे का एकमात्र आश्रय है, माता के न रहने से पुत्र के लिये सारा संसार शून्य सा हो जाता है। ऐसे २ विचारों में डूबा हुआ चिरकारी बहुत क्षुब्ध एवं व्यथित था

उसने फिर विचारा कि पति वा भर्ता का अर्थ रक्षक है; अतएव जो मनुष्य रक्षा के बदले नाश करने को उद्यत है वह पति नहीं कहा जा सक्ता। फिर जो मनुष्य मेरी माता का पति ही नहीं ठहरा वह मेरा पिता कैसे?

इस प्रकार की उधेड़-बुन में पड़े पड़े चिरकारी का बहुतसा समय बीत गया। इतने में उसका पिता गौतम का क्रोध भी शान्त हो गया और उसे अपने घोर पातक का स्मरण आया कि मैंने अपने पुत्र को अपनी माता के वध की आज्ञा देकर बहुत बड़ा पाप किया है। ऐसा सोचते ही वह अत्यन्त व्याकुल हो घर की ओर दौड़ा और मन ही मन विचारने लगा कि "मेरा आज्ञा-कारी पुत्र यदि इस बार मेरी आज्ञा का उल्लंघन कर बैठा हो तो बहुत ही अच्छा हो।" निदान जब वह घर पहुँचा और अपनी स्त्री को उसने जीवित देखा तो वह बहुत प्रसन्न हुआ और चिरकारी की बड़ी प्रशंसा करते हुए कहने लगा कि "बेटा! तुम धन्य हो, आज तुमने मेरी आज्ञा उल्लंघन कर मुझे तथा अपने को घोर पाप से बचाया!"

विविध विषय।

पाठ १.

धर्म और अधर्म का परस्पर प्रभाव।

इसमें तो सन्देह नहीं कि अधर्म एवं दुराचार का फल अन्त में दुःखमय होता है। साथ ही यह भी स्मरण रहे कि सद्गुणों से अन्य सद्गुण और दुर्गुणों से अन्य दुर्गुण उत्पन्न हुआ करते हैं। जो मनुष्य परोपकारी होता है उसमें

दया, सहानुभूति, प्रेम आदि गुण अवश्य आते हैं; क्योंकि इनके बिना वह परोपकारी हो ही नहीं सक्ता। जो मनुष्य दयावान् होता है उसमें सहिष्णुता, क्षमा-शीलता, न्याय-परता आदि गुण भी होने ही चाहिये। इसी प्रकार जिस मनुष्य में एक दुर्गुण आ जाता उसमें अन्य दुर्गुण भी बिना आये नहीं रहते। हम देख चुके हैं कि अभिमान के साथ क्रोध लगा रहता है और क्रोध के वश मनुष्य जो न कर बैठे, वही थोड़ा है। जो मनुष्य अपने मन को वश में नहीं रख सक्ता और व्यभिचारी हो जाता है वह असत्य-भाषण दम्भ, छल, कपट आदि दुर्गुणों से कदापि नहीं बच सक्ता; और न्याय, दया और सद्गुण उसमें हो ही नहीं सक्ते वह पत्नी-प्रेम से भी वञ्चित रहता और खासा नर-पिशाच बन जाता है। जुवाड़ी के लिये चोरी करना कोई कठिन बात नहीं होती और चोर नर-हत्या तक कर बैठता है। यही हाल मद्यपान आदि दुर्व्यसनों में पड़नेवाले लोगों का होता है।

लोग बहुधा कहा करते हैं कि अमुक मनुष्य यद्यपि व्यभिचारी तो है अथवा अन्य दुर्व्यसनों की चंगुल में तो फँसा है, पर सार्व्वजनिक कार्य्यों में बहुत सहायता पहुँ-चाता है; अतएव उसके दुश्चरित्रों से किसी दूसरे की क्या हानि, यदि है तो केवल उसकी है। हमारे यहाँ ऐसे कई धनाढ्य पुरुष हैं जिनके घरू चरित्र अत्यन्त घृणित होने पर भी लोग उनका बड़ा आदर-सत्कार करते हैं और उनके दुष्कर्म्मों की परवाह नहीं करते। जिनको हम नीच जातियाँ कहा करते हैं उनमें दुराचारी मनुष्य दुष्कर्म्म करने पर कुछ

दण्ड अवश्य पाता है; पर उच्च जातियों में इतना भी नहीं होता। बहु-विवाह करने वालों को तो बहुतेरे बुरा कहते ही नहीं। जो वृद्ध अपनी नातिन की अवस्था की एक लड़की व्याह लाता और उसका जन्म नष्ट करने तथा उसे व्यभिचारिणी बनाने में तनिक भी सङ्कोच नहीं करता उसकी थोड़ी बहुत हँसी करके लोग उसे मनमानी करने के लिये छोड़ दिया करते हैं जिससे अनेक स्वार्थी नर-पिशाच अल्प-वयस्क कन्याओं को अपनी पत्नी बनाने में तनिक भी नहीं हिचकते। शास्त्रों में प्रथम पत्नी की सम्मति से सन्तानोत्पत्ति-मात्र के लिये दूसरा विवाह करने की व्यवस्था है, अन्यथा नहीं; पर आजकल की सभ्यता एक पत्नी के जीतेजी दूसरा विवाह करने के भी विरुद्ध है। अब भी कहीं २ बहु-विवाह कुलीनता का लक्षण माना जाता है। पर, विचार तो कीजिये कि जो मनुष्य अपनी स्त्री का जी दुखाने में सङ्कोच नहीं करता, वह न्यायी वा दयावान् कैसे हो सक्ता है? इसी तरह व्यभिचारी जो अपनी विवाहित स्त्री के दुःख-सुख का भी तनिक विचार नहीं करता, दूसरों के साथ न्याय एवं दयापूर्व्वक बर्ताव कैसे कर सक्ता है?

अंग्रेज़ी-समाज में जिस मनुष्य का व्यभिचार प्रकट हो जाता है वह तनिक भी विश्वास-पात्र नहीं समझा जाता और अपने उच्च से उच्च पद को तुरन्त खो बैठता है। सभ्य-समाज उसे पास नहीं खड़ा होने देता। चाहे उसके अलग होने से समाज को कितनी ही बड़ी हानि क्यों न हो; पर उसे पद-च्युत होना ही पड़ता है।

पाठ २.

व्यभिचारियों को सामाजिक दण्ड।

आयर्लैण्ड के राष्ट्रीय-दल के एक नेता पार्नेल ने अपने देश-वासियों की बड़ी सेवा की थी और लोग भली-भाँति जानते भी थे कि इसके न रहने से हमारे दल का प्रभाव तुरन्त नष्ट हो जायगा और उसके नेतृत्व में जो सफलता प्राप्त की गई है और अभीष्ट सम्पादित होने का अवसर जिस प्रकार समीप आ गया है वह सब व्यर्थ जायगा; पर तौभी उसके व्यभिचारी सिद्ध होते ही उन लोगों ने अपने ऐसे परमोपकारी नेता को पदच्युत करने में विलम्ब न किया। एक दूसरे अँगरेज़ महाशय सर चार्ल्स डिल्की अपनी विलक्षण योग्यता के कारण उदार दल के प्रमुख सज्जनों में परिगणित होने लगे थे और मन्त्रि-मण्डल के नेताओं में से एक थे। सर्व्व-साधारण का विश्वास था कि आप एक न एक दिन महारानी विक्टोरिया के प्रधान मन्त्री बनकर इस वृहत् साम्राज्य का शासन उत्तम रीति से करेंगे; पर हाय! आपके चरित्र में एक बड़ा घृणित दोष प्रमाणित हुआ, अर्थात् आपका अनुचित सम्बन्ध किसी गृहस्थ की स्त्री से प्रकट हुआ जिसके कारण आप राजा नहुष के समान उच्च पद से नीचे पटके गये और आपके विषय में सर्व्व-साधारण की समग्र आशाएँ व्यर्थ गईं। कई वर्षों तक आप कहीं छिपे रहे और जब दस बीस वर्ष व्यतीत होने पर लोग आपका दुष्कर्म्म भूल से गये, तब आप बहुत परिश्रम करने पर पार्लिमेंट सभा के मेम्बर चुने जा सके; पर आजन्म फिरे

मेम्बर ही बने रहे; मन्त्रि-दल में पैर रखना असम्भव हो गया और आप सभ्य-समाज में फिर प्रवेश नहीं कर सके। यही हाल मद्रास के गवर्नर लार्ड कानिमरा का भी हुआ। बदनाम होते ही आप अपना पद त्याग चीन, जापान आदि विदेशों में देशाटन करते २ कई वर्ष बाद घर पहुँचे और आज तक किसी अपरिचित ग्राम में मुँह छिपाये पड़े हैं।

सभ्य-समाज में व्यभिचारी पुरुष तनिक भी विश्वास-पात्र नहीं समझा जाना चाहिये। जिस मनुष्य में अपना मन वश में रखनेकी शक्ति नहीं है वह व्यभिचारी हुआ करता है। ऐसा मनुष्य अन्य प्रकार के प्रलोभनों में पड़कर भी अपने को नहीं सम्हाल सक्ता; अतएव उसके हाथ में कोई महत्व-पूर्ण कार्य्य सौंपना मूर्खता नहीं तो है क्या?

अभी तक हमने यह बतलाया है कि जो मनुष्य एक प्रकार का दुष्कर्म्म करता है उससे और सब प्रकार के दुष्कर्म्म होना सम्भव है। मनुष्य में एक प्रकार का दुर्गुण होने से यही सिद्ध होता है कि उसका मन उसके वश में नहीं है; अतएव उसमें अन्य दुर्गुणों का हो जाना कोई कठिन बात नहीं है।

पाठ ३.

हमारे गुणों का दूसरों पर प्रभाव।

अब हम यह दिखलाना चाहते हैं कि जिस प्रकार एक सद्गुण होने से मनुष्य में अन्य सद्गुणों की उत्पत्ति

होती है उसी प्रकार सद्गुणी मनुष्य अपने सद्गुण दूसरों को भी प्रदान करता है। दूसरों के साथ प्रेम-पूर्वक बर्ताव करना अवश्य ही एक बड़ा सद्गुण है। जिस मनुष्य में यह सद्गुण होता है उसके सम्पर्क में रहनेवाले अन्य पुरुष भी उसपर प्रेम करने लगते हैं। बात तो यह है कि जब हम किसी दूसरे व्यक्ति के साथ प्रेम करते हैं तो उसके हृदय में भी अपने प्रति वैसा ही भाव अंकुरित करते हैं। इसी तरह यदि हम किसीके साथ घृणा, क्रोध आदि करते हैं तो उसमें भी क्रोध आ ही जाता है और वह वैसे ही कटु वचन कहने लगता है। यदि किसीके कटु वचनों का उत्तर दूसरा मीठे शब्दों में देता है तो उसका फल भी मधुर ही होता है और शत्रुताके बदले मैत्री एवं स्नेह का आविर्भाव होता है। कहा है:—

मधुर वचन ते जात मिट, उत्तम-जन-अभिमान।
तनक शील जल सों मिटै, जैसे दूध-उफान॥

सारांश यह कि हमारे सद्गुण दूसरों में भी सद्गुणों की और दुर्गुण, दुर्गुणों की उत्पत्ति करते हैं। इसी से सुसङ्गति उपादेय और कुसङ्गति हेय है।

होय शुद्ध मिटि कलुषता सत्संगति को पाय।
जैसे पारस को परस, लोह कनक ह्वै जाय॥
बात कहन की रीति में है अन्तर अधिकाय।
एक वचन ते रिस बढ़ै एक वचन ते जाय॥

[कवि वृन्द]

इतना समझ लेने से हमें उचित है कि हम दूसरों

के दुर्व्यवहार का बदला सद्व्यवहार से दें और इस उपाय से क्रोधादि दुर्गुणों से उत्पन्न होने वाली हानि से अपनी तथा दूसरों की रक्षा करें। कहावत है:—

"जो तोको काँटे बवै, ताहि बवै तू फूल।"

अर्थात् बुराई का बदला भलाई से देना चाहिये, न कि बुराई से; क्योंकि यदि बुराई से दिया तो बुराई शांत होने के बदले बढ़ती ही जाती है। प्रभु यीशु मसीह का उपदेश है कि अपने शत्रुओं पर प्रेम करो। बहुतेरे कहते हैं कि यह अस्वाभाविक होने से असम्भव है; क्योंकि शत्रु के साथ प्रेम हो ही नहीं सक्ता। हमारा कहना है कि आत्म-रक्षा की दृष्टि से भी शत्रु के साथ उसी का सा व्यवहार करने से दोनों की हानि ही होती है; अतएव सुनीति यही है कि जब शत्रु हमारी बुराई करने को तय्यार हो तो हम उसकी भलाई करके उसे लज्जित करें और इस प्रकार उसे हम अपना मित्र बना लें।

पाठ ४.

शत्रु के साथ मैत्री-पूर्ण व्यवहार।

कथा है कि एक धार्मिक राजा को एक दूसरे राजा से युद्ध करने का अवसर आया। धार्मिक राजा ने अपनी बड़ी सेना लेकर शत्रु से लड़ने को प्रस्थान किया अन्त में जब दोनों सेनाएँ समीप पहुँचीं तो धार्म्मिक राजा ने दूसरे राजा के पास अपने प्रतिनिधि भेजकर उसकी इच्छा

अवगत कर ली और यथाशक्ति उसे पूर्ण कर उसे स्वदेश को लौटा दिया। यह देख उस धार्मिक राजा के वीर मन्त्रियों को बड़ा आश्चर्य्य हुआ और उन लोगों ने निवेदन किया कि "महाराज! हम लोग तो इतनी प्रबल सेना लेकर शत्रु से लड़ने और उसपर विजय प्राप्त करने को आये थे; पर आपने उसे व्यर्थ ही अपनी चंगुल से निकल जाने दिया और विजय प्राप्त करने का ऐसा सुअवसर खो दिया।" राजा ने हँसकर कहा कि "मैंने जो विजय प्राप्त की है वह उस विजय से कहीं सहस्र गुणी अधिक उपादेय है जो भयङ्कर मारकाट के पश्चात् प्राप्त होती है और जिसके प्राप्त होने पर भी शत्रु और भी बड़ा शत्रु बन जाता है और अवसर पाकर और भी भयङ्कर आक्रमण करता है। आज मैंने जो विजय प्राप्त की है उसके लिये एक बूँद भी रक्त नहीं गिरा और जो पहिले शत्रु था वह बातों में मारा गया और अब उसके स्थान में अपना एक मित्र राजा हुआ।" महाराज के मुख से ये वचन सुनकर मंत्रियों को बड़ा आश्चर्य्य हुआ; क्योंकि वे अपनी आँखों से देख चुके थे कि शत्रु अभी हमारे महाराज से मिलकर अपने देश की ओर गया है, फिर वह मारा कब और कैसे गया। महाराज ने समझाकर कहा कि "जो मनुष्य अब शत्रु नहीं रहा वह मरे शत्रु के समान ही हुआ और उसके मित्र बन जाने से अब उसका राज्य मानो शत्रु के हाथ से निकलकर एक मित्र के हाथ में आ गया।"

पाठ ५.

क्रोध के विषय में महाराज युधिष्ठिर का उपदेश।

जब कौरवों ने छल करके पाण्डवों का सारा देश धन-सम्पत्ति छीनकर उन्हें १२ वर्ष के लिये देश निकाला दिया तो महारानी द्रौपदी को बड़ा क्रोध आया और अपने अपमान से संतप्त होकर उन्होंने महाराज युधिष्ठिर को इस बात के लिये उत्तेजित करना चाहा कि वे दुष्ट कौरवों के साथ युद्ध ठानकर अन्त में उन्हें उचित दण्ड देवें। उस समय धर्मराज ने जो वचन कहे उनका सारांश हम नीचे लिखते हैं:—

श्रीमहाभारत के वन-पर्व में २९ वें अध्याय के १३ से २५ श्लोक तक युधिष्ठिर ने यही उपदेश दिया है कि कौरवों की दुष्टता से जो बुराई हुई है वह युद्ध करने से दूर नहीं होने की, वरन और बढ़ेगी। शान्ति-स्थापन करने का उपाय युद्ध नहीं है और बिना शान्ति-स्थापन के सुख हो ही नहीं सक्ता। यदि किसीने क्रोध में आकर तुमपर आघात किया तो अवश्य ही तुम दोनों में वैमनस्य रहा ही आवेगा और तुम परस्पर हानि पहुँचाने का प्रयत्न करते ही रहोगे। इस प्रकार बदला लेने की चिन्ता में निरन्तर पड़े रहने से तुम दोनों अन्तःकरण की शान्ति खोकर दुखी बने रहोगे। इसलिये यदि मनुष्य सुख-पूर्वक जीवन-निर्वाह करना चाहता है तो उसे उचित है कि बुराई का बदला

बुराई से कदापि न दे, वरन अपने ऊपर अत्याचार करने वाले मनुष्य के अपराधों को क्षमा करके उसे लज्जित करे जिसमें वह शत्रु-भाव छोड़कर मित्र बन जाय। यदि मनुष्यों में कोई २ सज्जन पृथ्वी के सदृश सहनशील न होते तो इसमें सन्देह नहीं कि शान्ति कहीं देखने को न मिलती और क्रोध से उत्पन्न होने वाली कलह ही सब लोगों पर अपना पूर्ण अधिकार जमाये रहती। यदि सब मनुष्य कटु वचन का बदला कटु वचन से, आघात का आघात से तथा और किसी प्रकार की बुराई का, बुराई से देते तो पिता अपने पुत्र का तथा पुत्र पिता का वध किये बिना न छोड़ता। ऐसी दशा में बालक उत्पन्न होना भी असम्भव हो जाता; क्योंकि जब शान्ति और प्रेम का अभाव ही हो जाता तो सन्तति होना कैसे सम्भव था?

आत्मानञ्च परांश्चैव त्रायते महतो भयात्।
क्रुद्ध्यन्तं प्रत्यक्रुध्यन्द्वयोरेव चिकित्सकः॥

अर्थात् जो मनुष्य दूसरे को क्रोध करते देख स्वयं क्रोध नहीं करता वह मानो दोनों को एक बड़े भय से पार करता है और दोनों का चिकित्सक बनता है।

पाठ ६.

दशरथ पर कौशल्या का क्रोध।

अपने परम-प्रिय साधु पुत्र श्रीराम के वनवास का समाचार सुन श्रीकौशल्या महारानी क्रोध-वश अपने पति देव महाराज दशरथ को कुवाक्य कह कहकर कोसने लगीं

कि "आपने अपने हाथ से अपने निरपराध पुत्र का बलिदान चढ़ा दिया। वाह! आपने अपने स्थापित धर्म्म-मार्ग का खूब अनुसरण किया जो मेरा, मेरे पुत्र का, इस राज्य का तथा अपनी प्रजा का, एक ही बार सबका नाश कर डाला!"

हा हन्त! सती साध्वी कौशल्या देवी ने पुत्र-वियोग की असह्य वेदना से विक्षिप्त होकर अपने परम आराध्य पतिदेव को कैसे मर्म्म-भेदी वचन कह डाले; पर, महाराज ने तनिक भी क्रोध नहीं किया—क्रोधरूपी अग्नि में आहुति नहीं दी, वरन शोक के भार से दबकर आप अचेत होगये और जब मूर्च्छा से जागकर आपने महारानी को समीप ही बैठे देखा तो आपको अपने पूर्वकृत पाप का स्मरण हो आया और आप तुरन्त समझ गये कि इस सब शोक का एकमात्र कारण मेरा वही पाप है जिसने कैकेयी भर को नहीं, बुद्धिमती कौशल्या को भी वज्र-हृदय बना डाला है जिससे श्रीमती ने अपने दया-पात्र प्रियतम पति पर ऐसे तीक्ष्ण वाग्बाणों का प्रहार करना अनुचित नहीं समझा। इसमें इनका क्या दोष है? इनका क्रोध सर्वथा क्षन्तव्य है। ऐसा सोच-विचारकर महाराज ने कौशल्या देवी से हाथ जोड़कर, सिर नीचा किये हुए, अत्यन्त नम्र वचनों द्वारा, क्षमा की प्रार्थना की और कहाः—

दशरथ—हे देवि! क्षमा करो। तुम्हारा हृदय तो इतना कठोर नहीं रहा। दया तो तुम्हारा स्वाभाविक भूषण रहा है। तुमने दूसरों के साथ निष्ठुर व्यवहार कभी नहीं किया, फिर आज अपने पति पर इतनी निर्द-

यता कहाँ से आ गई। मुझे भला वा बुरा चाहे जैसा समझो, हूँ तो मैं तुम्हारा ही। मैं शोक के आवेग से वैसे ही मर रहा हूँ, अब मुझे और मत मारो। मैं खूब समझता हूँ कि शोक के कारण तुम्हारी यह दशा हुई है, नहीं तो मेरे प्रति तुम्हारे मुख से कटु वचन कदापि न निकलते; पर इसमें तुम्हारा दोष नहीं है, है तो मेरा है; अतएव मैं हाथ जोड़कर तुम से क्षमा की भिक्षा माँगता हूँ।

महाराज के मुख से ऐसे करुणा-पूर्ण वचन सुनकर कौशल्या देवी का क्रोध तुरन्त शान्त हो गया और श्रीमती की आँखों से अश्रु-धारा बह निकली। क्रोध के बदले उनका हृदय करुणा से भर आया और पति-देव के असह्य शोक को भूल कटु वचन कहने के कारण श्रीमती को बहुत पश्चात्ताप हुआ और उसके आवेग से आप व्याकुल हो कहने लगीं:—

कौशल्या देवी—महाराज! शोक से अधीर होकर आज मैं अपना अमूल्य धर्म्म त्याग बैठी। धिक्कार है मेरी इस जिह्वा को जिससे पति-देव के प्रति ऐसे कटु वचन निकले। मुझ दीन दासी पर दया करके मेरी धृष्टता को भूल जाइये। आपने आज मुझसे ऐसे दीन वचनों में क्षमा माँगी! धिक्कार है मेरे जीवन को कि मैंने महाराज से क्षमा मँगवाई। इस पातक से मेरे दोनों लोक बिगड़े। जो स्त्रियाँ अपने पतियों से मान करतीं और रूठकर बैठ जाती हैं और पति उन्हें मनाने बैठते हैं वे वास्तव

मैं वही पापिनी हूँ। महाराज! मैं भलीभाँति जानती हूँ कि धर्म्म-पालन करनी २ कैसा कठिन होता है। न जाने मेरी मति कैसी बिगड़ गई कि मैं आपके इस उच्च आदर्श को एकदम ही भूल गई और यह न देखा कि आप इतना मर्म्मान्तक कष्ट सहकर भी सत्य-पालन पर तुले बैठे हैं। मैं मूर्खा स्त्री आपके दिव्य भाव के इस महत्त्व को तनिक भी न समझ सकी। मैंने यह न देखा कि इस असह्य पुत्र-वियोग से मुझे जो कष्ट हो रहा है उससे कहीं बढ़कर आपको हो रहा होगा। बस, इस दासी से बड़ा पाप हो गया, सो आप इससे होनेवाली घोर नरक-यातना से मेरा उद्धार कीजिये।

देखो, महाराज दशरथ ने भी यदि क्रोध में आकर महारानी कौशल्या को कटु शब्द कहे होते तो बात बहुत बढ़ जाती; पर जिनका नाम दशरथ अर्थात् दसों रथों अर्थात् इन्द्रियों को जीतनेवाला था वे भला अपने कर्त्तव्य को भूल सकते थे?

क्रुध्यन्तं न प्रतिक्रुध्येदाक्रुष्टः कुशलं वदेत्।

अर्थात् जिसपर क्रोध-रूपी भूत सवार है उसपर क्रोध न करके उसके क्रोध-पूर्ण शब्दों का उत्तर मीठे २ शब्दों में देना चाहिये।

सेतूंस्तर दुस्तरान् अक्रोधेन क्रोधं सत्येनानृतम्।

कठिनाई से पार होने वाले सेतुओं में से क्रोध-रूपी सेतु को क्षमा से और असत्य-रूपी सेतु को सत्य से पार करो।

इस संसार में क्षमा से बढ़कर और कुछ है ही नहीं। देखो, क्षमा के विषय में श्रीव्यास महाभारत के वन-पर्व में क्या कहते हैं ?

क्षमा ब्रह्म क्षमा सत्यं क्षमा भूतं च भावि च।
क्षमा तपः क्षमा शौचं क्षमयेदं धृतं जगत्॥

अर्थात् क्षमा ही ब्रह्म है, क्षमा ही सत्य है और क्षमा पर ही सारा भूत और भविष्यत् अवलम्बित है। क्षमा ही तप है, क्षमा ही शौच है—कहाँ तक कहें, क्षमा पर ही यह सारा जगत् स्थिर है।

पाठ ७.

लक्ष्मण का क्रोधी स्वभाव।

श्रीलक्ष्मण के स्वभाव में क्रोध की मात्रा, अधिक थी। यदि वे अकेले रहते और श्रीराम की कृपा उनपर इतनी न होती तो वे न जाने क्या २ अनिष्ट कर बैठते। श्री-परशुराम को लक्ष्मण ने जो कटु वचन कहे थे उनसे न जानें कैसा बुरा परिणाम होता, यदि उनकी भड़की हुई क्रोधाग्नि में श्रीराम मीठे २ शब्दरूपी शीतल जल न छिड़कते। वन-वास की आज्ञाका वृत्तान्त सुनकर लक्ष्मणजी अपने पिता पर ही आग-बबूला हो गये; पर फिर भी श्रीराम ने उन्हें इस महा पातक से बचाया। क्रोध एक ऐसी बला है कि जिस पर अधिकार जमाती उसके लिये कोई भी पाप-कर्म्म असम्भव नहीं होता। क्रोध के आवेग से मनुष्य की बुद्धि मारी जाती है जिससे वह अपने परम मित्र को भी शत्रु समझ

बैठता है। लक्ष्मणजी का ही दृष्टान्त लीजिये। भरत तो अयोध्या-वासियों के साथ श्रीरामजी को समझाकर लौटा लाने के विचार से चित्रकूट पहुँचे; पर लक्ष्मणजी उन्हें आते देख इस सन्देह में पड़ गये कि हो न हो, भरत श्रीराम को मारकर निष्कण्टक राज्य भोगने की इच्छा से यहाँ आ रहे हैं। फिर क्या है, आपकी क्रोधाग्नि भड़क ही तो उठी और आपने भरत के साथ युद्ध करने की घोषणा की। हम पहिले ही कह चुके हैं कि एक भी दुर्गुण होने से मनुष्य की मति निर्म्मल नहीं रहने पाती और उसका हृदय व्यर्थ के सन्देह, अहङ्कार, असहिष्णुता, अक्षमा आदि पापों का निवास-स्थान बन जाता है। क्रोध के कारण श्रीराम के आदर्श भक्त लक्ष्मण की मति कैसी कलुषित हो गई कि वे अपने पूर्ण परिचित भ्राता भरत के प्रति भाँति २ की शंका करने लगे और श्रीराम को ही सरल-हृदय के कारण निरा भोंदू समझ बैठे। देखिये, लक्ष्मणजी क्या कहते हैं:—

दो०—नाथ सुहृद सुठि सरल चित, शील-सनेह-निधान।
सब पर प्रीति, प्रतीति जिय, जानिय आपु समान॥

कुटिल कुबन्धु कुअवसर ताकी।
जानि राम वनवास एकाकी॥
करि कुमन्त्र मन साजि समाजू।
आये करन अकण्टक राजू॥
जो जिय होत न कपट कुचाली।
केहि सुहात रथ, बाजि, गजाली॥
भरतहिं दोष देइ को जाये।
जग बौराइ राज-पद पाये॥

इस प्रकार मिथ्या अनुमान करके कि भरत हमारा अनिष्ट विचार कर आये हैं लक्ष्मणजी मारे क्रोध के कहते हैं:-

क्षत्रि-जाति रघुकुल जनम, राम अनुज जग जान।
लातहु मारे चढ़त सिर, नीच को धूरि-समान॥

आजु राम-सेवक-यश लेऊँ।
भरतहिं समर सिखापन देऊँ॥
जिमि करि-निकर दलै मृगराजू।
लेइ लपेटि लवा जिमि बाजू॥
तैसहिं भरतहिं सेन समेता।
सानुज निदरि निपातौं खेता॥
जो सहाय कर शंकर आई।
तौ मारौं रण राम-दुहाई॥

श्रीराम तो शान्ति एवं क्षमा के अवतार ही थे। अक्रोधी होने के कारण आपकी बुद्धि निर्म्मल थी और तत्व पहिचानने की शक्ति आपमें पूर्ण थी। आप भरत के आगमन का हेतु समझ गये और आपने समझाकर लक्ष्मणजी के क्रोध को शांत कर दिया। लक्ष्मणजी को समय २ पर श्रीरामजी का सदुपदेश न मिलता रहता तो वे अत्यन्त क्रोधी स्वभाव के कारण न जाने कैसे २ अन्याय एवं अत्याचार कर बैठते।

पाठ ८.

शील का महत्व।

हे बालको! इस पुस्तक के पढ़ने और उसकी शिक्षाओं पर विचार करने से तुम देखोगे कि सत्कर्म्म करने

का अभ्यास हो जाने से मनुष्य सदाचारी कहलाता है और वही संसार में सुखी भी रहता है। मनुष्य का शील या स्वभाव उसकी अमूल्य सम्पत्ति है। सुशील वा सदाचारी मनुष्य का जीवन सफल और दुराचारी का निष्फल समझना चाहिये।

प्रह्लाद।

शील वा सदाचार कैसी अमूल्य वस्तु है सो इस एक कथा से समझ सके हो जो हम नीचे लिखते हैं। प्रह्लाद अपने आदर्श गुणों के कारण इन्द्र से भी बढ़ गये थे और त्रिलोकी के राजा बने थे। थे तो प्रह्लाद एक दैत्यकुल में उत्पन्न; पर अपने सदाचार के बल वे देवताओं के राजा हो गये थे। सत्य है, सदाचारी मनुष्य नीच कुल में उत्पन्न होने पर भी बड़े २ कुलीनों से बढ़कर आदर पाता है। विलायत में कई योग्य सज्जन अपनी योग्यता के बल लार्ड [कुलीन] की पदवी पाकर लार्ड-सभा में बैठते और निरे खानदानी लार्डों की अपेक्षा अधिक मान पाते हैं। महायुद्ध के पश्चात् जब जर्म्मनी में लोक-तंत्र-सत्ता स्थापित हुई तो एक निरे दर्ज़ी के पुत्र डाक्टर इबर्ट अपने सद्गुणों एवं सदाचार के बल राष्ट्र-पति बनाये गये। अपने चरित्र-बल से उन्होंने अपने कार्य्य में सफलता भी अच्छी प्राप्त की जिससे मार्च सन् १९२५ में जब उनकी मृत्यु हुई तो जर्मनी में ही नहीं अन्य देशों में भी शोक मनाया गया।

इँगलैंड के प्रधान मंत्री मि० लायड जार्ज भी बहुत ही हीन दशा में उत्पन्न होकर ऐसे ऊँचे पद को पहुँचे। कुलीनता सद्गुणों का ही फल है। संसार में अयोग्य मनुष्य

भी कुलीन कहलाते हैं; पर सच पूछो तो उनके पूर्व्वजों के सद्गुणों के कारण लोग उन्हें इतना मानते हैं; पर यह मान सच्चा नहीं, कुलीनता की परछाहीं-मात्र है। धन्य हैं वे कुलीन जो अपनी योग्यता के कारण कुलीन समझे जाते और मान पाते हैं, पूर्व्वजों की योग्यता के भरोसे नहीं।

प्रह्लाद ने अपनी धार्म्मिकता या सदाचार के कारण इन्द्रासन प्राप्त किया था। बेचारे इन्द्र और देवता देखते थे कि प्रह्लाद को पदच्युत करना दुस्साध्य है; क्योंकि वे अपने सच्चरित्र के बल इस उच्च पद को प्राप्त हुए हैं। निदान सोच-विचार करते करते इन्द्र के मन में एक उपाय सूझा। प्रह्लाद ईश्वर-भक्त ब्राह्मणों को बहुत मानते और उन्हें मुँहमाँगा दान दिया करते थे। इन्द्र थे तो देवता; पर किसीको छलकर जीतना वे इतना बुरा नहीं समझते थे।

बस, एक दिन इन्द्र एक दीन ब्राह्मण का रूप धर-कर प्रह्लाद के सन्मुख आ खड़े हुए। प्रह्लाद ने उन्हें ब्राह्मण समझ उनका बड़ा आदर-सत्कार किया। निदान जब ब्राह्मण-वेश-धारी इन्द्र ने कुछ याचना करने की इच्छा प्रकट की तो प्रह्लाद ने सहर्ष मुँहमाँगा दान देना स्वीकार कर लिया। इसपर इन्द्र ने कहा कि "मैं और कुछ नहीं, आपका सच्चरित्र भर चाहता हूँ, सो कृपया मुझे दीजिये।" प्रह्लाद ने उत्तर दिया कि "आपने यदि मेरा राज्य, धन-सम्पत्ति आदि कोई वस्तु माँगी होती, तो मैं अपना सर्वस्व देकर भी अपने को धन्य समझता; क्योंकि अपने सच्चरित्र के बल मैं सब कुछ फिर से प्राप्त कर सकता; पर आपने वह अमूल्य वस्तु माँगी है जिसके न रहने से मेरी सारी शक्ति

चली जायगी। संसार में सच्चरित्र से बढ़कर कोई दूसरी वस्तु नहीं है; पर वचनबद्ध होने से मैं आपको वही देता हूँ। निदान चरित्र खोकर प्रह्लाद तो निरे भिखारी बन गये; पर इन्द्र ने अपना इन्द्रासन प्राप्त कर लिया। इस कथा से यही शिक्षा मिलती है कि चरित्र से बढ़कर और कुछ नहीं होता और उसके द्वारा एक दैत्य-कुमार भी देवताओं का राजा बन सक्ता है।

वास्तव में ऐसा है भी। मनुष्य शारीरिक बल में चाहे महावीर हो, उसकी मानसिक शक्तियाँ चाहे कितनी ही प्रौढ़ क्यों न हों; पर यदि उसमें शील वा सदाचार की न्यूनता है तो वह अपनी सच्ची उन्नति ही कर सक्ता और न सुखी ही रह सक्ता है। साधारण बल और बुद्धि का एक सदाचारी मनुष्य उससे बहुत अच्छा होता है। कौन नहीं जानता कि बड़े २ पहलवान भी दुर्व्यसनों में फँसकर जब दुराचारी हो जाते हैं तो उनमें फिर साधारण बल भी नहीं रहता और अन्त में वे प्राणों से ही हाथ धो बैठते हैं। इसी तरह बड़े २ ग्रेज्युएट अपनी विलक्षण योग्यता के बल पहिले तो बड़े २ पद पा जाते; पर नैतिक संस्कार ठीक न रहने से किसी न किसी दिन महा पतित चोरों के सदृश कारावास की हवा खाते हैं।

पाठ ९.

हमारी त्रुटियाँ।

हम भारत-वासियों में यथार्थ सिद्धान्तों को न समझने से कई दोष आ गये हैं जिनके रहते हमारे चरित्र

आदर्श-चरित्र नहीं कहा सक्के और न हमारी इतनी उन्नति ही हो सक्ती जितनी अन्य सभ्य देशों ने की है और बराबर करते हैं। हम लोगों में निम्न-लिखित त्रुटियाँ बहुधा पाई जाती हैं:—

(१) हम शारीरिक परिश्रम को तुच्छ समझने लगे हैं। हाथ से काम करना, आवश्यकता पड़ने पर कुछ बोझ उठाकर पैदल चलना, किसानी धन्धे से आजीविका चलाने पर भी हल चलाना आदि कई हाथ के कार्य्य करने वालों को हम नीच समझते हैं। भीख माँगना, चाकरी करना आदि कार्य्य तो हम अच्छे समझते; पर परिश्रम वा ईमानदारी के साथ हाथ से काम करना हमारे यहाँ नीच समझा जाता है। शिल्प एवं कला-कौशल के प्रति जब तक हमारे ऐसे विचार रहेंगे, तब तक हमारी आर्थिक उन्नति होना असम्भव है।

(२) हममें दूसरा दोष यह है कि हम मिल-जुलकर कार्य करना नहीं जानते जिससे हमारे सार्व्वजनिक कार्य्यों में आपस की फूट और कलह इतनी बढ़ती है कि वह कार्य्य ही बैठ जाता है। हम देखते हैं कि हम लोग पहिले तो किसी कार्य्य को बड़े समारोह से हाथ में लेते हैं; पर धीरे २ आपस के झगड़ों के कारण वह आगे नहीं चल सक्ता।

(३) अभी तक कुछ पढ़े-लिखे लोगों ने ही देश-भक्ति का पाठ पढ़ा है; पर उनमें भी सच्चे देश-भक्त विरले ही हैं। जनता अभी जानती ही नहीं कि देश-भक्ति भी कोई वस्तु है। हाँ, स्वदेश-प्रेम तो बहुतेरों में पाया जाता है; पर ऐसे स्वदेश-प्रेम की सीमा अत्यन्त परिमित और

संकुचित हुआ करती है। जब एक गङ्गापारी कहता है कि " हम देश जानेवाले हैं " तो उसका अभिप्राय किसी एक ज़िले वा गाँव भर से रहता है। उसकी संकुचित दृष्टि में मध्यप्रदेश आदि प्रान्त उसके देश नहीं हैं। उसके मन में देश से समूचे भारतवर्ष का अर्थ नहीं आता, वरन् किसी विशेष ज़िले वा ग्राम का अर्थ ही लक्षित होता है जिससे कहनेवाले का विशेष प्रेम एवं आदर प्रकट होता है; पर इसे स्वदेश-भक्ति कहना निरा भ्रम है। जिस दिन इस देश के प्रत्येक स्त्री-पुरुष में सच्ची देश-भक्ति आ जायगी उसी दिन हमारी सर्वाङ्गीण उन्नति का सूत्र-पात होगा। स्वदेश-भक्ति के साथ परस्पर प्रेम और ऐक्य का भी आविर्भाव आपसे-आप होगा।

(४) हम लोगों में इसीलिये सन्घ-शक्ति का भी टोटा है। इस शक्ति को बढ़ाने के लिये हमारे देश में कई नये २ साधनों का आविर्भाव हुआ है, जैसे, स्कूलों में क्रिकेट आदि खेल, ग्रामों में सहकारी-साख-समितियाँ, बड़े २ नगरों में म्युनिसिपिल कमिटियाँ, ज़िले भर के प्रतिनिधियों की डिस्ट्रिक्ट कौंसिलें तथा प्रान्तीय कौन्सिलें और केन्द्रीय-व्यवस्थापक सभाएँ। इसी प्रकार स्कूल-कमिटियों से लेकर अन्य बड़ी २ सभाओं में भाग लेनेवाले मिलकर काम करना सीख रहे हैं जिससे उनमें सन्घ-शक्ति का आविर्भाव हो रहा है।

(५) हम लोग कर्त्तव्य-निष्ठ भी ऐसे नहीं रह गये जैसे हमारे पूर्व्वज हुआ करते थे। इस दोष को भी दूर करना हमारा परम कर्त्तव्य है। हम देखते हैं कि हमारे

अनेक सार्व्वजनिक कार्य्यों में स्वार्थ की थोड़ी बहुत गन्ध आ ही जाती है। हमको उचित है कि हम अपने बालकों को दृढ़-प्रतिज्ञ और कर्त्तव्य-निष्ठ बनाने का अभ्यास करावें।

(६) समय का मूल्य हम लोग जानते ही नहीं। समय पर काम न कर सकना हमारा जातीय दोष सा हो गया है जिसके कारण हम बड़ी हानि उठाया करते हैं; पर तौभी नहीं चेतते। ऐसे कितने लोग निकलेंगे जो कभी न कभी रेलगाड़ी नहीं चूक जाते। बहुतेरे तो बार २ गाड़ी चूक जाने से ऐसे सचेत हो जाते हैं कि घन्टों पहिले से स्टेशन पर जा डटते हैं। यह भी समय को व्यर्थ नष्ट करना है। मार्ग में सब दुर्घटनाओं का विचार करके कार्य्य पर ऐसे समय जाना कि न तो एक मिनिट की देरी ही हो और न घन्टे आध घन्टे व्यर्थ बैठे ही रहना पड़े। हमारे पूर्व्वज निर्दिष्ट मुहूर्त को जिस प्रकार साधते थे वैसा हम नहीं करते।

समय पर कार्य्य न कर सकने का कारण एक तो हमारी लापरवाही है, दूसरे हमारे घरों की देवियों की निरक्षरता। हम सहस्र प्रयत्न करें; पर जहाँ स्त्रियों के हाथ की बात है वहाँ देर हो ही जाती है। जब तक संस्कार ठीक नहीं होता और छुटपन से ही समय पर कार्य्य करने की शिक्षा नहीं मिलती तब तक मनुष्य में यह गुण नहीं आता।

कैसे खेद की बात है कि जिसने प्रेम-पूर्व्वक निमंत्रण दिया है उसके घर कहीं दस पाँच बार बुलाने पर जाना हमारे यहाँ सभ्यता समझी जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि जो लोग समय पर पहुँच जाते हैं उन्हें व्यर्थ

बैठना पड़ता है और न जाने कितने लोगों का समय व्यर्थ नष्ट होता है। वास्तव में दूसरों को इस तरह अटकाये रहना और उनका समय नष्ट करना सभ्यता नहीं; असभ्यता है। अपने कारण किसी दूसरे को असुविधा में डालना मानों उसकी ओर उदासीनता प्रकट करना है, और उसकी प्रसन्नता तथा अप्रसन्नता के विषय में परवाह न करना सभ्यता नहीं कही जा सक्ती। सच्चे भद्र पुरुष (जेंटिलमैन) दूसरों को कष्ट देना या उनके चित्त को व्यर्थ आघात पहुँ-चाना अनुचित समझते हैं।

(७) हम लोग अपने विचारों से न मिलने वाले दूसरों के विचारों का मान करना नहीं जानते। राजनैतिक, सामाजिक आदि बातों में हमारे विचारों से जिनके विचार नहीं मिलते उनको हम भद्र पुरुष ही नहीं समझते और उनके कार्यों तथा मत के विषय में अनेक कुकल्पनायें करने लगते हैं। हम समझते हैं कि अमुक पुरुष ने जो अमुक मत प्रगट किया है या अमुक कार्य्य किया है वह अमुक हेतु से अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिये किया होगा, न कि वैसा विश्वास होने से। यह दोष शिक्षितों में पाया जाता है। देखने में आया है कि कई व्यक्ति जिनका मान आगे देव-ताओं के समान होता था अपने उन्हीं पुराने सिद्धान्तों के कारण अब विश्वास-पात्र नहीं समझे जाते और लोग उनको नीचा दिखाने के लिये नीच से नीच चेष्टायें करने में तनिक भी नहीं सकुचते। उनके किये हुए अनेक उपकारों को एकदम भूल जाना और उनके सिद्धान्तोंका हेतु शुद्ध वि-श्वास नहीं, अधम स्वार्थ-बुद्धि समझना बड़ा अन्याय है; पर मनुष्य अपने को सर्वान्तर्यामी समझ दूसरों के हृदयङ्गम

विचारों का ज्ञाता मान बैठता है। यदि हमने कोई अपराध किया है जिसके प्रकट हो जाने से हमें दण्ड मिलता है तो हम पश्चात्ताप करने के बदले प्रकट करने वाले को ढूँढ़ते फिरते और किसी न किसी पर सन्देह करके उसकी बुराई करने में कमर कस लेते हैं। यदि वह मनुष्य निरपराध हुआ या हमारे अपराध को प्रगट कर देना उसका कर्त्तव्य हुआ तो उसे शत्रु समझकर उसका अपकार करना पूर्ण अन्याय है।

प्रिय बालको! संसार में धर्म्म से बढ़कर कोई वस्तु नहीं है; अतएव

धर्मं शनैः संचिनुयाद्वल्मीकमिव पुत्तिकाः।
परलोकसहायार्थं सर्व्वभूतान्यपीडयन् ॥

अर्थात् धर्म्म का संचय करते रहो। जिस प्रकार चिउँटियाँ अपना बमीठा बनाती हैं उसी प्रकार अन्य प्राणियों को पीड़ा न पहुँचाते हुए धर्म्म-संचय करो जिससे वह दूसरे लोक में तुम्हारा साथ दे। क्योंकि

मृतम् शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्ट्रसमं क्षितौ।
विमुखा बांधवा यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति ॥

अर्थात् मरने पर इस शरीर को काष्ठ के एक लट्ठे के सदृश त्याग कर बन्धु-बान्धव लौट आते, केवल धर्म्म ही साथ जाता है। अब यह धर्म्म क्या है सो तो सदाचार-दर्पण का मुख्य विषय ही है; पर हम अब भगवान् मनु के वचनों का अवतरण देकर ग्रंथ की समाप्ति करते हैं। मनु महाराज धर्म्म के लक्षण इस प्रकार निश्चित करते हैं:—

(१) धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रिय-निग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्म्म-लक्षणम् ॥

[मनु, अ० ६, श्लो० ९२]

अथवा-(२) अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रिय-निग्रहः।
एते सामासिकं धर्म्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः ॥

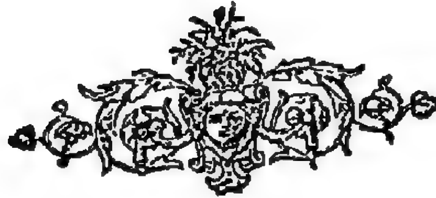
[मनु, अ० १०, श्लो० ६३]

अर्थात्,

(१) धर्म्म के १० लक्षण ये हैं—धैर्य, क्षमा, मन को रोकना, चोरी न करना, शुद्धता, इन्द्रिय-निग्रह, शास्त्र-ज्ञान विद्या, सत्य, और क्रोध न करना।

(२) अहिंसा, सत्य, चोरी न करना, पवित्रता और इन्द्रिय-निग्रह यह चारों वर्णों का संक्षिप्त धर्म्म मनुजी ने कहा है।

❀ इति शुभं भूयात् ❀



परिशिष्ट ।

(१) भारत-गीत ।

(१)

जय जय प्यारा भारत देश ।
जय जय प्यारा, जग से न्यारा, शोभित सारा देश हमारा,
जगत-मुकुट जगदीश-दुलारा, जग-सौभाग्य सुवेश ।
जय जय प्यारा भारत देश ।

(२)

प्यारा देश, जय देशेश, अजय अशेष, सदय विशेष,
जहाँ न सम्भव अघ का लेश, सम्भव केवल पुण्य-प्रवेश ।
जय जय प्यारा भारत देश ।

(३)

स्वर्गिक शीशफूल पृथ्वी का, प्रेम-मूल, प्रिय लोकत्रयी का,
सुललित प्रकृति-नटी का टीका, ज्यों निशि का राकेश ।
जय जय प्यारा भारत देश ।

(४)

जय जय शुभ्र हिमाचल-शृङ्गा, कल-रव-निरत कलोलिनि गङ्गा,
भानु-प्रताप-चमत्कृत अङ्गा, तेज - पुञ्ज तप-वेश ।
जय जय प्यारा भारत देश ।

(५)

जग में कोटि कोटि जुग जीवै, जीवन-सुलभ अमी-रस पीवै,
सुखद वितान सुकृत का सीवै, रहै स्वतन्त्र हमेश ।
जय जय प्यारा भारत देश ।

—पं० श्रीधर पाठक ।

(२) प्यारा स्वदेश ।

(१)

हमको स्वदेश प्यारा, हमको स्वदेश प्यारा।
हम हैं सदा से इसके, है और यह हमारा॥

(२)

इसके समान हमको, प्रिय स्वर्ग भी नहीं है।
हाँ, हाँ, त्रिलोक में है, सुन लो स्वदेश न्यारा॥

(३)

इसके ही अन्न-जल से, होती गुजर हमारी।
जीवन-सुधा की निर्मल, इसमें बही है धारा॥

(४)

ये प्राण हैं इसीके, धन-मान हैं इसीके।
गुण-ज्ञान हैं इसीके, इसका हमें सहारा॥

(५)

इससे कहीं हमारा, बढ़के न पूज्य कोई।
निर्वाण का हमारे, यह है पवित्र द्वारा॥

(६)

इसके लिये मरेंगे, यम से नहीं डरेंगे।
इसकी विपद हरेंगे, हम छोड़ काज सारा॥

—पाण्डेय मुरलीधर-मुकुटधर शर्म्मा ।

शुद्धि-पत्र ।

पृष्ठ	पंक्ति	जैसा छपा है	जैसा होना चाहिये
१९	१८	पहले भी और	पहले भी
"	१९	कुछ ने तो वे	कुछ ने
२७	२२	उसके	और उसके
"	२३	इसमें	पर इसमें
"	२४	समझा जा	नहीं समझा जा
"	२४	सभी कहेंगे कि	सभी कहेंगे कि ऐसे
"	२५	पुण्य नहीं होता	पाप नहीं होता
३१	२	बिना रहता	बिना नहीं रहता
३७	६	व्यवसायियों ने	कर्म्मचारियों ने
४२	२२	पुष्ट और तथा	पुष्ट तथा
४५	२४	अधर्म्म हैं	दूसरों को हानिकारक होने से अधर्म्म हैं
६२	९	करते हैं	में पड़ते हैं
७२	१२	गृह-निर्वाण-विद्या	गृह-निर्म्माण-विद्या
७६	२	माँगने पर	माँगने पर उसे जमा कर देना और
८७	२	मैंने	ऐसी
८८	१९	तीसरे सत्यनिष्ठा का उन्हें कुछ अभिमान भी था	X
९१	१९	सत्य के पवित्र	सत्य से पवित्र
९९	८	शरीर के रगों	शरीर की रगों
१०१	१०	सरते हैं	सरती हैं
१०९	१६	वह कार्य्य	यह कार्य्य
१११	२२	लेन-देन का	लेन-देन वा
११८	२७	पहुँचते	पहुँचाते
१३३	२३	देना वाला	देने वाला

पृष्ठ	पंक्ति	जैसा छपा है	जैसा होना चाहिये
१४१	१४	ध्रुव	ध्रुव ने
,,	२४	संचार	संचार सा
१६१	७, ८	अटल भक्ति में	भक्ति में अटल
१६६	२	शान्त देने	शान्ति देने
१६९	२२	सुशील कृपाला	सुशील भुआला
१७३	२४	दुर्योधन	दुर्योधन ने
२११	१०	भूख–प्यास से	भूख–प्यास से प्राण खो
२१४	१४	कैसा ही	कैसी भी
२२२	१४	फ्रांस का	फ्रांस का जितना देश
,,	,,	धीरे	धीरे धीरे उनके
२२४	२३	वीरों पर	इन भारतीय वीरों पर
२३०	२	आवहु	आवहुँ
२३३	१६	रह सके	कर सके
२३९	१२	फिर	तो फिर
२५३	११	रक्षित	रक्षित रक्खे
२६५	६	हरि बुधहिं	हरि वधुहिं
२९२	१९	प्राणों से	प्राणों के मोह से
२९८	४	सोचना लगा	सोचने लगा
२९९	२२	नहीं जीवित नहीं	जीवित नहीं
३१९	८	विमुख रहने	विमुख रखने
,,	१५	बात से भी	बात से
३४३	६	उसका पिता	उसके पिता
३४८	१५	शील जल	शीत जल
३६१	११	वह अपनी	वह न तो अपनी
३६५	१८	शिक्षितों में	शिक्षितों में भी
३६६	११	वल्मीकमवि	वल्मीकमिव